जगत्सेठ

और

बंगाल में अँगरेजी राज्य की नीवेँ

श्री पारसनाथ सिंह

(आसाम के गवर्नर माननीय श्री श्रीप्रकाश जी लिखित प्रस्तावना-सहित)

भारती-भंडार
प्रयाग

गिरिजानन्दन को

सस्नेह

सा रम्या नगरी, महान्स नृपतिः, सामन्तचक्रं च तत्,
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्, ताश्चन्द्रबिम्बाननाः,
उद्रिक्तः स च राजपुत्र-निवहः, ते बन्दिनः, ता कथाः—
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः !

—भर्तृहरि

प्रस्तावना

इतिहास कई दृष्टि से लिखा गया है और लिखा जा सकता है। कुछ लोग मनुष्य के इतिहास को विशिष्ट व्यक्तियों का जीवन चरित्र मात्र मानते ह। कुछ इस मत का घोर विरोध करते हुए व्यक्तियों को कुछ भी महत्व न देकर नैसर्गिक विकास पर ही जोर देते हैं। किन्हीं का विचार है कि इतिहास भूगोल पर अवलंबित है। कोई समझते हैं कि विशिष्ट जन अपनी आकांक्षाओं की प्राप्ति में अपने मस्तिष्क के बल से सब प्रकार की प्रकृति-जनित बाधाओं को दूर कर इतिहास का निर्माण करते हैं। कोई आर्थिक आवश्यकता को सर्वोपरि मानते हैं और ऐतिहासिक घटनाओं को उसकी कसौटी पर कसते हैं। जहां तक मेरी समझ में आता है, सभी विचारों में कुछ न कुछ सार्थकता है, परन्तु कोई भी विचार वस्तु स्थिति का पूर्ण रूप से प्रतिबिंब नहीं माना जा सकता। इन सब विचारों के समन्वय में ही सत्य है।

ऐसा मत होते हुए अपने मित्र श्री पारसनाथ सिंह की रचना का विशेष प्रकार से स्वागत करना मेरे लिए स्वाभाविक है। जब उन्होंने अपनी पुस्तक के "प्रूफ" मेरे पास भेजने आरंभ किये और मुझ से कहा कि तुम इसकी प्रस्तावना लिखो, तो मुझे आश्चर्य हुआ। मैं पारसनाथ जी को आज छत्तीस वर्षों से अच्छी तरह जानता, और इस बीच विभिन्न क्षेत्रों में मेरा उनका संपर्क रहा है। उनके कितने ही लेख मैंने पढ़े हैं और कितने ही स्थानों में मैंने उन्हें देखा है। उनके साहित्यिक और सामाजिक जीवन से—विशेषकर उनकी मधुर शिक्षाप्रद हास्यप्रियता से—मैं अच्छी तरह परिचित रहा हूं पर मुझे यह नहीं मालूम था कि इतिहास में वे इतना रस रखते हैं और उन्होंने इतने सूक्ष्म रूप से उन कुटुम्बों की आन्तरिक जीवन-प्रणाली का अन्वेषण किया है जिनका संबंध अंग्रेजी शासन के

उद्गम और वैभव से रहा हूं। ऐसे कुटुम्बों में मेरा और मेरी जन्म-नगरी काशी के अन्य लोगों का भी कुटुम्ब है, और इस कारण पारसनाथ जी की पुस्तक से अवश्य ही मैं विशेष प्रकार से आकृष्ट हुआ।

इन व्यक्तिगत बातों को यदि छोड़ भी दिया जाय तो मुझे यह पुस्तक इस कारण बहुत रुचिकर प्रतीत हुई कि इसमें मैंने देखा कि अपने देश का वास्तविक सामाजिक इतिहास दिया गया है, यद्यपि ऊपर से देखने से कतिपय व्यक्तिमात्र का ही निरूपण इसमें मालूम होता है। पारसनाथ जी ने हमें बतलाया है कि हमारे मानसिक दृष्टिकोण में स्वतंत्रता का कोई विशेष महत्व नहीं रहा है, और भौतिक इतिहास के प्रति हमारा कोई आकर्षण न रहने के कारण, इस अंग में हमारा ज्ञान भी बहुत कच्चा है। यह बात नितान्त सत्य है, और हम सब यही आशा कर सकते हैं कि स्वराज की प्राप्ति के बाद स्वतंत्रता के महत्व को हम समझेंगे और अपनी परम्परागत मनोवृत्ति को बदलकर अब अपने देश को किसी विदेशी के अधीन न होने देंगे। हम यह भी आशा करते हैं कि ज्ञान के विविध अंगों की दिन प्रति दिन उन्नति हमारे देश में होती जायगी और विद्वद्गण ऐतिहासिक भंडार को भी अपनी रचनाओं से पूरा करते रहेंगे।
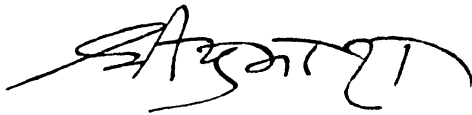
पारसनाथ जी की पुस्तक हमें बतलाती है कि किस प्रकार से चन्द लोगों की व्यक्तिगत आकांक्षा ने विदेशी शासन को देश में स्थापित होने में सहायता पहुंचायी है। साथ ही उन्होंने इधर के करीब ढाई सौ वर्षों का हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन का भी चित्र-चित्रण किया है। उन्होंने बड़ी सीधी सीधी साधारण बोल चाल की भाषा में इन सब भावों को प्रदर्शित किया है जो मनुष्य का मनुष्य से संपर्क होने से उत्पन्न होते हैं। व्यक्तिगत राग द्वेष के कारण कितनी बड़ी बड़ी घटनाएं घटित हो सकती हैं, यह भी उन्होंने बतलाया है और हमारे कौटुंबिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को दिखलाया है। उनका इतिहास वास्तव में उपन्यास की तरह रोचक है, और मुझे आशा है कि बहुत से लोग इस पुस्तक को पढ़कर अपने इधर की शताब्दियों के पूर्वजों का हाल जानकर आगे

के लिए अच्छी शिक्षा पावेंगे। इस बात को कहने की विशेष आवश्यकता इस कारण है कि स्वराज-प्राप्ति के बाद जो ढाई वर्ष अब तक बीते हैं, उनकी घटनाओं को—विचार धाराओं और कार्य प्रणालियों को—देखकर मन में आशंका होती है कि वह वातावरण और वह भावना अब भी जोरों से मौजूद है जिसके कारण हम बार बार परतंत्र हुए हैं, और बार बार अपनी एकता को खोकर अनेकता के कुपरिणामों के शिकार बने रहे हैं।

मैं अपने मित्र श्री पारसनाथ सिंह को बधाई देता हूं कि विद्वान् होते हुए और भाषा पर पूरा अधिकार रखते हुए भी उन्होंने साधारणतः अपरिचित क्लिष्ट वाक्यों और शब्दाडंबर से अपने पाठकों की रक्षा की है। जो सुन्दर उपयुक्त नीति के श्लोक उन्होंने उद्धृत किये हैं उससे उनकी पुस्तक विशेष रूप से रोचक और उपयोगी हो जाती है। उन्होंने वास्तव में बड़ा परिश्रम कर और बहुत तह के भीतर पहुंचकर हमें अपने को ही देखने का और पहिचानने का सुअवसर प्रदान किया है। हमें उनके प्रति कृतज्ञ होकर उनके श्रम से लाभ उठाना चाहिए। यदि हम अब भी न चेतेंगे तो हमारा भविष्य संकटमय रहेगा। साथ ही यदि हम समझदारी से आगे चलेंगे तो हम अवश्य उस लक्ष्य को प्राप्त करेंगे जिसके लिए राष्ट्र पिता महात्मा गांधी जी ने अपना सारा जीवन लगाया और जिसकी खोज में उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दी।

गवर्मेंट हाउस,
शिलांग,
१२ अप्रैल, १९५०

निवेदन

अठारहवीं शताब्दी में जिस उथल-पुथल ने अंगरेज-जाति को बंगाल का अधीश्वर बना दिया उसके इतिहास से मुर्शिदाबाद के जगत्सेठ का नाम विशेष रूप से सम्बद्ध है। पलासी के युद्ध से प्रायः सौ वर्ष पूर्व इस व्यापारी परिवार की महत्त्वाकांक्षा इसे पटने ले गई थी। फिर प्रायः पचास वर्ष बाद उसने इसे मुर्शिदकुली खां के सम्पर्क में लाकर उसका अनन्य विश्वास-भाजन बना दिया था और धन के अतिरिक्त पद-प्रतिष्ठा की भः दृष्टि से इसे इतना ऊँचा उठा दिया था कि मुर्शिदाबाद की संस्थाओं में सबसे पहले इस घराने का ही नाम लिया जाता था और बिना इसकी सनद पाये कोई वहाँ की मसनद पर बैठने के लिए दिल्ली की सनद न पा सकता था।

मुर्शिदाबाद से दिल्ली तक जगत्सेठ-परिवार की ऐसी धाक जमने का कारण था उसका सारे तख्त का एक जबर्दस्त पाया होना। उसकी सेवाओं का महत्व या मूल्य आंकने में तत्कालीन शासकों ने भी धर्मान्धता नहीं दिखाई। फतहचन्द को जगत्सेठ की पदवी देने वाला मुहम्मद शाह था और बंगाल-बिहार के शासन-क्षेत्र में उसे विशेष रूप से ऊपर उठाने वाला अलीवर्दी खां। पर इससे भी पहले मुर्शिदकुली खां मानिकचन्द को अपना मुकुट-मणि बनाकर उन्हें विशेष गौरव-शाली बना चुका था और आकाश चूमने वाली अट्टालिका का शिलान्यास कर चुका था। प्रथम जगत्सेठ फतहचन्द ने जो मान-महत पाया था वह साधन-सम्पन्नता के साथ अपनी राज-सेवाओं के बल पर। इन सेवाओं में एक यह थी कि मुगल-साम्राज्य पर विपत्ति-वर्षा होने के समय वह दिल्ली के लाल किले में करोड़ सवा करोड़ का भुगतान हुंडी के जरिये ही करा सकते और रास्ते में खजाना लुट जाने की जोखिम से नवाब-नाजिम और बादशाह दोनों को बचा सकते थे। जगत्सेठ-परिवार सरकार का एक अभिन्न अंग बन गया था और संपृक्त होकर दोनों एक दूसरे के हानि-लाभ में अपना हानि-लाभ समझने लगे थे।

उधर पिछली शताब्दी में ही समय की गति बदल चुकी थी और ऐसी शक्तियाँ प्रबल होने लगी थीं जो एक दिन मुगल-साम्राज्य को नष्ट किये बिना न रह सकती थीं। अगर धर्मान्धता औरंगजेब के ही साथ मर मिटती तो बात बहुत न बिगड़ती, पर हुआ यह कि दिल्ली का धार्मिक दृष्टि-कोण तो बदला नहीं और दरबार में दोष एक से हजार हो चले। फिर भी दिल्ली की आंखें न खुल सकीं और उसकी कमजोरी दिन दिन बढ़ती ही गई। केन्द्र में शासन की क्षमता न रह जाने पर, विभिन्न प्रान्त निरंकुश अथवा——कानों के अधिक प्रिय शब्द में——स्वतंत्र हो चले। पर जो बल एकता में था वह इस अनेकता में न आ सकता था, इसलिए शत्रुओं से काम पड़ने पर उन विभिन्न अंगों की स्वतंत्रता देखते देखते विलीन हो गई और एक एक कर सभी परतंत्र हो गये।

इस देश के इतिहास में परतंत्रता कोई नयी वस्तु नहीं थी। फिर भी लोग इतना तो देख या समझ सकते थे कि विदेशी होते हुए भी फरासीसी या अंगरेज कितनी ही बातों में अफगानों या मुगलों से भिन्न थे। इनकी रीति-नीति न्यारी, संकल्प-साधन का सारा ढंग न्यारा था। ये इस देश में किसी खलीफा के आदेश या गाजी बनने के उद्देश से नहीं आये थे। दिल्लीश्वर बनने के लिए अंगरेजों को पानीपत की चौथी लड़ाई लड़ने की कभी जरूरत न पड़ी। वे दिल्ली की ओर बढ़े भी तो मद्रास, कलकत्ता, बम्बई जैसे बंदरगाहों की ओर से——एक हाथ में तराजू और दूसरे हाथ में बंदूक लेकर माल की खरीद-बिक्री करते; देश-काल को जानते-पहचानते; यहाँ के सैनिक उपकरण का विशेष उपयोग करते और छल-बल से विभिन्न प्रान्तों को "पंचतंत्र" के 'एकोदर, पृथग्ग्रीव' और असंहत भारंड-पक्षियों की तरह विनाश को पहुँचाते हुए। प्रान्तीय स्वतंत्रता न तो केन्द्र के ही काम आ सकी न स्वयं सुरक्षित रह सकी। और बंगाल जैसे प्रान्त की लूट ने इंगलैंड को मालामाल कर दिया।

दिल्ली के रोग का इलाज करना-कराना जगत्सेठ का काम न था। उनका सम्बन्ध वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र से था जिसमें उन्होंने अपने अनुभव, अध्यवसाय और व्यवहार-कुशलता से अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की और शैल-शिखर पर पहुँच गये। व्यापार के सिलसिले में ही ईस्ट इंडिया कंपनी की मानिकचन्द से जान-पहचान हुई। यह बात १७०६ से पहले की है। कासिमबाजार

में विदेशी व्यापारियों की फैक्टरियाँ या कोठियाँ थीं और वह स्थान महिमापुर (मुर्शिदाबाद) के पास ही था। इस सामीप्य ने उन्हें जगत्सेठ-परिवार के लोगों से मिलते-जुलते रहने और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेने का सुअवसर दे दिया। प्रायः प्रत्येक विदेशी कंपनी के महाजन जगत्सेठ ही थे। वह टकसाल के इजारेदार थे और बंगाल में चांदी के सबसे बड़े खरीदार। उधर बाहर से चाँदी लाने वालों में ईस्ट इंडिया कंपनी प्रमुख थी, इसलिए दोनों के बीच खरीद-बिक्री, लेन-देन से पारस्परिक सम्बन्ध का उत्तरोत्तर दृढ़ होना स्वाभाविक ही था।

अंगरेज इस देश में पहुँचने से पहले और देशों में भी पहुँच चुके थे और दुनिया को देख कर दुनियासाज बन चुके थे। उनके मुकाबले में यहां के व्यापारी ही नहीं, शासक भी दुधमुंहे बच्चे थे। शिक्षा और संस्कृति की बात पूछी जाय तो इतना ही कहना काफी होगा कि वे आखिर उस वृक्ष के फल-फूल थे जिसे आरोपित कर शेक्सपियर १६१६ में ही अपना जीवन-नाटक समाप्त कर चुका था। अंगरेजों के हौसले और हिम्मत पर कौन निछावर न होता? एक बार क्लाइव को इधर की यात्रा करनी पड़ी तो पवन की प्रतिकूलता ने उसके जहाज को कहीं से कहीं पहुँचा दिया, जिसके कारण उसे मद्रास पहुँचने में ही प्रायः एक वर्ष लग गया। मेक्सिको की चांदी को मुर्शिदाबाद या ढाके की मलमल को लन्दन पहुँचा देना कोई साधारण काम न था। इसके लिए जो साहस और संगठन-शक्ति चाहिए थी वह इस जाति में भरपूर थी। हमें इस बात का अभिमान हो सकता है कि क्लाइव के ही कथनानुसार मुर्शिदाबाद हर बात में लंदन से टक्कर ले सकता था—साथ ही उसमें यह विशेषता थी कि लन्दन में एक भी परिवार धन की दृष्टि से जगत्सेठ की बराबरी का न था। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि लन्दन में ऐसे गुणों की पूंजी थी जिनका विकास उसे एक दिन संसारमात्र का आर्थिक केन्द्र बनाने वाला था। ईस्ट इंडिया कंपनी का अपना निर्माण समवाय-सिद्धान्त की भित्ति पर हुआ था। इसी सिद्धान्त का अवलम्बन कर लन्दन के व्यापारियों ने १६९७ तक बंक आव इंगलैण्ड की स्थापना कर ली और १७४२ तक उस बंक की पूंजी १२ लाख पौंड से बढ़ कर ९८ लाख पौंड हो चली। धीरे धीरे अंगरेज अपनी गुण-गरिमा से ही प्रकृत जगत्सेठ बन बैठे—और

जगत्सेठ भी ऐसे जिनकी भुजाओं में बल था, जिनके तरकश में तेज तीर थे। इस देश में मुकाबला होने पर कौन ऐसी शक्ति हो सकती थी जो रजोगुण को तमोगुण पर--प्रकाश को अन्धकार पर विजय पा लेने से रोक सकती? वास्तव में गुणों का दुर्गुणों से हार खा जाना ही अप्राकृतिक या आश्चर्यजनक होता।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि बंगाल में राज्यक्रान्ति कराने वाले एक ओर सिराजुद्दौला और दूसरी ओर महताबराय थे। सिराजुद्दौला ने अपनी विवेकहीनता और दुर्व्यवहार से जगत्सेठ जैसे अपने नाना के शुभचिन्तक और मित्र को भी अपना शत्रु बना दिया और अपमान असह्य हो उठने पर महताबराय ने अंगरेजों की सहायता से उसकी जड़ खोद डाली। क्या महताबराय का यह कर्तव्य न था कि अपने मन को समझा-बुझा कर चुप बैठ रहते और अंगरेजों को आमंत्रित कर राष्ट्र को पराधीनता का दुर्दिन देखने न देते? यहां दो बातें विशेष रूप से ध्यान में रखने की हैं। अगर वह कूटनीतिज्ञ थे भी तो पारदर्शी या दूरदर्शी न थे। षड्यंत्र करते-कराते हुए भी वह अंगरेजों को पूरी तरह न पहचान सके और पलासी के युद्ध का परिणाम क्या होने जा रहा था, यह न समझ सके। वह यही माने बैठे रहे कि अंगरेज एक दिन कलकत्ते लौट जायँगे---वहां फिर वाणिज्य-व्यापार करने लगेंगे---और मीर जाफर की छत्रच्छाया में राज-काज पूर्ववत् ही होता रहेगा। उनकी सारी धारणा निर्मूल निकली। बंगाल का नवाब-नाजिम कंपनी के हाथ की कठपुतली बन गया और जगत्सेठ के हित की दृष्टि से तो कंपनी ने भस्मासुर का काम किया। उनके हाथ में न टकसाल का इजारा रहा, न वह सरकारी पोतदार रहे। भौंर में पड़ कर उनके घराने की नामी नाव एक दिन डूब जाने से न बच सकी। फिर "राष्ट्र", "राष्ट्रीयता" या "स्वाधीनता" ऐसे शब्द थे जो उस समय के भारतवासियों के लिए कोई अर्थ नहीं रखते थे। धर्म के नाम पर मिटने वाले हिंदू नहीं तो मुसलमान मिल सकते थे, पर राष्ट्र या स्वदेश के नाम पर नहीं, कारण कि यह लोगों के लिए आकाश-कुसुम के समान था। इसकी वेदी पर साधारण बलिदान करने की भी शिक्षा न तो उस समय के नीति-शास्त्र में मिलती थी, न किसी जाति की परम्परा में। राष्ट्रीय एकता या स्वाधीनता और उसकी रक्षा के लिए स्वार्थ-त्याग की भावना के जन्म लेने में अभी बहुत देर थी। "शठे शाठ्यं समाचरेत्"---यह

शिक्षा महताबराय को अवश्य मिली थी और इसका पालन करना उन्होंने अपना परम कर्तव्य समझा। उनके या दूसरों के लिए अपने देश-काल से ऊपर उठ जाना या बीसवीं सदी में पहुँच जाना असंभव था।

इसमें संदेह नहीं कि बंगाल में अंगरेजी राज्य की स्थापना में जगत्सेठ से बहुमूल्य सहायता मिली, यद्यपि अठारहवीं शताब्दी में यह निश्चित था कि उस सहायता के बिना भी वह राज्य स्थापित होकर ही रहता। इतिहास की लीला को व्यापक दृष्टि से देखने वाले यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि मुगलों की अधोगति और विनाश में अंगरेजों का अभ्युदय और राज्यारोहण सन्निहित था। एक तो उनके प्रतिद्वंद्वियों में कोई भी उनकी बराबरी करने वाला न था; दूसरे, पलासी की लड़ाई का फैसला करनाल में और बक्सर की लड़ाई का फैसला पानीपत में ही हो चुका था। मीर जाफर ही नहीं, मीर कासिम भी मरने से पहले ही मर चुका था और क्षय तथा जय कराने वाला काल अंगरेज-मात्र को पुकार कर कह चुका था कि

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ, यशो लभस्व, जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्;
मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव 'हैट'-धारिन् !

बंगाल में पड़ने वाली नींव पर ही वह इमारत खड़ी हुई जो बढ़ते बढ़ते एक दिन आसमान चूमने वाली थी। यद्यपि उस विस्तार की कहानी इस पुस्तक की दृष्टि से विषयान्तर है, तथापि उसका भी उपक्रम शुजाउद्दौला के १७७५ में मर जाने से पहले ही हो चुका था। क्लाइव के प्रस्थान करने से पहले ही जगत्सेठ के घर का चिराग टिमटिमाने लगा था और वारेन हेस्टिंग्स के जाते जाते तो पछवां हवा का झोंका उसे गुल कर चुका था।

कई शताब्दियों से हिंदू-जाति इतिहास लिखने-पढ़ने की उपेक्षा करती आई है। इस कारण जगत्सेठ-वंश का कोई ऐसा वृत्तान्त नहीं मिलता जो उसका लिखा-लिखाया हुआ हो। अन्धकार में उसके इतिहास पर "मुता-खरीन" जैसे ग्रंथ या ईस्ट इंडिया कंपनी के कागजात से जो प्रकाश पड़ता है वह गनीमत है। यह बात निश्चित-सी है कि बाकी बातों की जिज्ञासा पूरी करने के लिए नयी सामग्री आज मुर्शिदाबाद में या अन्यत्र मिलने वाली नहीं।

मुसलमान लेखकों के लिए कोई हिंदू जगत्सेठ, ऐतिहासिक दृष्टि से, किसी खुदादाद खां लतीफ या मीर मुरतजा जैसे सरदार का पासंग भी नहीं हो सकता था। इस परिवार में इतिहास-सम्बन्धी विरक्ति या उदासीनता न होती तो इसके लिए मुसलमान नहीं तो किसी हिंदू लेखक से अपना इतिवृत्त लिखवा जाना कुछ भी कठिन काम न होता। दिल्ली और मुर्शिदाबाद के बीच —पलासी के युद्ध से पहले नहीं तो उसके बाद, कंपनी के राज्य-काल में— कोई आनन्दराम मुखलिस या भीमसेन बुरहानपुरी या खुशहालचन्द इन सेठों को आसानी से मिल सकता था। "मुताखरीन" का लेखक गुलाम हुसैन इनके विषय में कुछ विस्तारपूर्वक अवश्य लिख जाता, अगर उसके शत्रु रामनारायण के मित्र होकर महताबराय वह अवसर भी न खो बैठते। इन बातों का नतीजा यह हुआ कि इस वंश का पूरा इतिहास कभी लिखा न जा सका और जो कुछ लिखा गया वह जहां-तहां बिखरी हुई ऐसी प्रासंगिक पंक्तियों के रूप में ही जिनसे उसका ढौल-ढांचा तो हमारी आंखों के सामने आ जाता है, पर उसकी पूरी तसवीर नहीं उतरती। अगर अनुमान या किंवदन्ती के ही आधार पर इतिहास का निर्माण हो सकता तो बात और होती, पर उस निर्माण के लिए जो उपादान चाहिए उसका नितांत अभाव न होते हुए भी वह परिमाणतः इतना स्वल्प है कि संतोषजनक नहीं कहा जा सकता।

उस स्वल्पता या अभाव के कारण, हम कितने ही प्रश्नों के उत्तर प्रामाणिक रूप से नहीं दे सकते। उदाहरणार्थ, हम इतिहास के आधार पर यह नहीं बता सकते कि अलीवर्दी खां के नाती को धूल में मिला देने पर महताबराय को कटिबद्ध करा देने वाली घटना वास्तव में क्या थी। वह भरे दरबार थप्पड़ या गाली जैसा उनका अपमान था? या सुन्नत की ही धमकी थी? या सिराजुद्दौला की बदमिजाजी के अलावा उसकी बदचलनी* भी थी? इस पुस्तक में इसका जो

---

* "और क्या कहूं मैं, रख बेगम का छद्मवेश,
करके दुरन्त मेरे अन्तःपुर में प्रवेश,
कुल को, जो भारत-प्रदीप्त भानुसम है,
दे चुका कलंक-रूप कालिमा अधम है।"

—"पलाशिर युद्ध" (अनुवादक 'मधुप')

उत्तर दिया गया है वह कंपनी के पास पहुँचने वाली रिपोर्ट के आधार पर। संभव न था कि पूरी और सच्ची बात कंपनी के कानों तक न पहुंच पाती पर अगर ऐसे विषय पर तर्क-वितर्क की कोई गुंजाइश न रहती तो और भी अच्छा होता।

मानसिक गठन में अँगरेज तथा अन्य यूरोप-निवासी यहां के निवासियों से भिन्न थे। व्यापारी होते हुए भी वे अपने बही-खाते जलाकर आग तापने वाले न थे। राजनीतिक उद्देश से उन्होंने भले ही कभी किसी बात पर हरताल लगा दी हो या कोई कागज नष्ट कर दिया हो, उनके विषय में साधारणतः यह कहना होगा कि वे इतिहास लिखने या उसकी सामग्री को सुरक्षित रखने से जी चुराने वाले न थे। उनका यही गुण पीढ़ी दर पीढ़ी इतिहास-विटप को सिक्त और परिपुष्ट रखता आया है और उन्हीं की देखा-देखी कुछ हद तक हमारे यहां भी उसकी सिंचाई होने लगी है। आज ईस्ट इंडिया कंपनी के ही कागजात से हम ऐसी बातें जान सकते हैं कि जगत्सेठ की कोठी में चांदी का मोल-भाव कैसे तै होता था—उन दिनों हुंडी-हुंडावन, ब्याज-बट्टे से संबन्ध रखने वाली समस्यायें क्या थीं—और महताबराय जैसा व्यक्ति कलकत्ते जाता तो उसकी मेहमानदारी पर कंपनी का क्या खर्च बैठता और टाट से लेकर हाथी की झूल तक उसे क्या क्या सामान जुटाना पड़ता।

इस पुस्तक के कई पृष्ठ हुंडी-हुंडावन, आढ़त, दलाली जैसे विषयों से संबंध रखते हैं। नेहरूजी ने अपनी "हिन्दुस्तान की कहानी" में लिखा है कि "महाजनी की व्यवस्था बहुत अच्छी तरह और देश भर में संगठित थी और बड़े बड़े व्यापारियों की हुंडियां हिन्दुस्तान में सब जगह सकारी जाती थीं और हिन्दुस्तान ही क्या, ईरान, काबुल, हेरात, ताशकंद और मध्य एशिया की और जगहों में भी कबूल की जाती थीं। व्यापारी संगठन कायम हो गये थे और गुमाश्तों, माल पहुँचाने वालों, दलालों और बीच के व्यापारियों का जाल सा बिछा हुआ था। दर असल तिजारत और व्यापार और माली मामलों में कारखानों की क्रान्ति (इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन) के जमाने से पहले तक, हिन्दुस्तान किसी भी मुल्क के मुकाबले में तरक्की कर चुका था।....अगर मुल्क में शान्ति और पायदार हुकूमत के लंबे दौर न गुजरे होते और आमद-रफ्त के रास्ते आने-जाने और तिजारत के लिए सुरक्षित न होते तो ऐसी तरक्की न

होती।" पर अब न तो पायदार हुकूमत रह गई थी, न तिजारत ही अपनी असली हालत में बहुत दिनों तक रह सकती थी। अलीवर्दी खां के होते हुए भी जगत्सेठ फतहचन्द, जमाने का रंग-ढंग देख कर, कह चुके थे कि "इस समय तो जान पड़ता है कि कोई सरकार है ही नहीं। शासक-वर्ग को न तो ईश्वर का भय है, न सम्राट् का। चाहे जैसे हो, लोगों से रुपया ऐंठना ही उनका एकमात्र कर्तव्य हो रहा है।"

जब अराजकता मिटी और अंगरेजों का राज्य हो जाने पर शान्ति और व्यवस्था का फिर लंबा दौर गुजरा भी तो उसके फलस्वरूप हमारी आर्थिक उन्नति न हो सकी, कारण कि विदेशी सरकार और भी तत्परता से लोगों का खून चूसने लगी और हमारे व्यापारियों को भी परंपरागत बुद्धि या कार्य-कुशलता इस देश के काम न आकर इंगलैण्ड के ही काम आने लगी। व्यापार या व्यापारियों के हुंडी-पुरजों में जो ताकत होती है वह, थोड़े में, पैदावार की ही ताकत कही जा सकती है। वह पैदावार अब दिन दिन कम होने लगी--अब इंगलैण्ड बंगाल से मलमल न मंगा कर अपने ही कारखानों में महीन से महीन सूत की कताई और कपड़े की बुनाई करने लगा। औद्योगिक क्रान्ति से भी कहीं भयंकर राजनीतिक क्रान्ति हो जाने से हमारे कारीगर भूखों मरने लगे--हमारा वाणिज्य-व्यवसाय चौपट होने लगा--हमारे बड़े-से-बड़े व्यापारी एक एक कर टाट उलटने लगे। जहां फतहचन्द बड़ी ही आसानी से एक करोड़ की दर्शनी हुंडी का भी भुगतान कर सकते थे वहां हरखचन्द से डेढ़ लाख से भी कम रुपये को हुंडी का भुगतान कई किस्तों में ही हो सका था। यह एक परिवार की ही नहीं, देशमात्र को साम्पत्तिक अवस्था में 'लाख से लीख' जैसे परिवर्तन की सूचना थी।

इस पुस्तक में सारे विषय के इतिहास पर हिंदी-भाषाभाषियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर, प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। जिन इतिहास-ग्रंथों या लेखों से इसके लिखने में सहायता ली गई है उनके नाम प्रायः यथास्थान दे दिये गये हैं। जगत्सेठों के वृत्तान्त--विशेषतः ईस्ट इंडिया कंपनी और उनके बीच लेन-देन--के सम्बन्ध में स्व० जे० एच० लिट्ल के अनुसंधान ने अंधे की लकड़ी का काम किया है। पर इन ग्रंथों या लेखों में कई इस समय दुष्प्राप्य

हैं और लेखक की समस्या हल हो सकी है तो कुछ मित्रों की उदारता से ही। इनम कलकत्ते के श्री विनायक लाल खन्ना, श्री ज्योतिष चन्द्र गुप्त और श्री रमेश चन्द्र ठाकुर विशेष उल्लेखनीय हैं। राजस्थान के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीराम शर्म्मा, सस्ता-साहित्य-मंडल के श्री मार्तंड उपाध्याय और भारती-भंडार के श्री वासुदेव उपाध्याय भी इस प्रयास में उसके सहायक हुए हैं। पुस्तक के आरंभ में हीरानन्द साह की कोठी का जो चित्र है वह टामस डेनियल नामक चित्रकार ने १७९५ में तैयार किया था। उसका फोटो पटने के प्रसिद्ध कलाप्रेमी और प्राचीन वस्तुओं के संग्रहकर्ता सेठ श्री राधाकृष्ण जी जालान के सौजन्य से प्राप्त हो सका है। इनका तथा अन्य सहायक मित्रों का लेखक बड़ा आभारी है।

काशी में माननीय श्रीप्रकाश जी का परिवार एक गुरुकुल के समान रहा है। स्वयं श्रीप्रकाश जी वहां किसी समय इतिहास के अध्यापक ही नहीं, छात्रों के पथप्रदर्शक और सहायक भी रह चुके हैं। बड़े गुरुभाई के आशीर्वचन के लिए उन्हें धन्यवाद देना तो एक प्रकार की धृष्टता होगी, पर उनके प्रोत्साहन से उसकी लेखनी को और भी बल मिलेगा, लेखक को यह आशा और विश्वास है।

पारसनाथ सिंह

विषय-सूची

जगत्सेठ

और

बङ्गाल में अँगरेजी राज्य की नींव
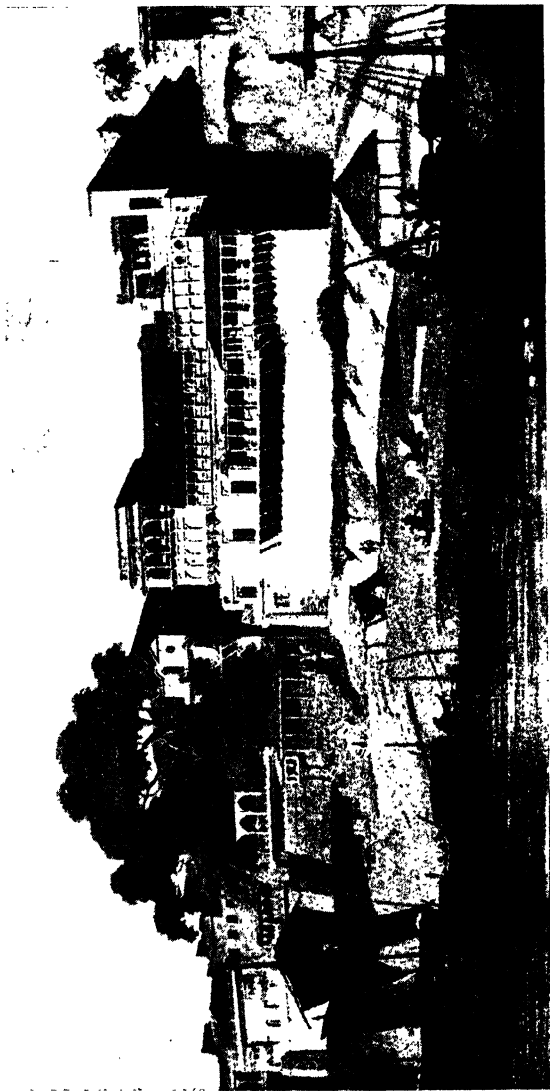
पटने में हीरानन्द साहु की कोठी और घाट—(प्राचीन चित्र से)

हीरानन्द साह

विद्यां वित्त शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः।

जो मनुष्य कूप-मडूक बना रहता है, जो प्रसन्नचित्त रहकर देश-देशान्तर में भ्रमण नहीं करता, वह विद्या, हुनर और धन, इन तीनों में से कोई भी चीज अच्छी तरह हासिल नही कर सकता।

—पंचतंत्र

जगत्सेठ-वंश का जो इतिहास उपलब्ध है, उसका आरंभ सन् १६५२ ई० (संवत् १७०९) से होता है।

उस साल हीरानन्द साह नामक एक मारवाड़ी नवयुवक ने अपनी जन्मभूमि नागौर से विदा ग्रहण कर पूरब की ओर प्रस्थान किया और बड़े लम्बे सफर के बाद पटने पहुंच कर वहीं लक्ष्मी की आराधना आरंभ की।

इस घटना को हम उस वृक्ष का बीजारोपण कह सकते हैं जिसकी विशालता उसे एक दिन देश-विदेश में प्रसिद्ध करने वाली थी।

नागौर इस समय जोधपुर राज्य के अन्तर्गत है। उस समय गजसिंह[1] राठौर के पौत्र रायसिह इसके जागीरदार थे। उससे भी प्राचीन समय मे नागौर-नगर अहिछत्रपुर[2] के नाम से जांगल देश की राजधानी रह चुका था।

हीरानन्द साह जैन धर्मावलम्बी ओसवाल थे। उनका सम्प्रदाय श्वेताम्बर था और गोत्र गेल्हड़ा। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में लिखा है—

"काम्भोज-सुराष्ट्र-क्षत्रिय-श्रेण्यादयः वार्त्ता-शस्त्रोपजीविनः ।"
कांभोज पूरब अफगानिस्तान का पुराना नाम है। सुराष्ट्र काठियावाड़ के अन्तर्गत है। कौटिल्य के वाक्य के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है, पर जान पड़ता है कि अफगानिस्तान, काठियावाड़, सिंध, पंजाब आदि के क्षत्रिय तथा कुछ अन्य निवासी शस्त्रधारी और व्यापारी दोनों ही होते थे। उस समय नहीं तो कुछ समय बाद मारवाड़ के क्षत्रियों के विषय में भी यही कहा जा सकता था। हीरानन्द के पूर्वज क्षत्रिय थे। सोलहवीं शताब्दी में गिरिधरसिंह नामक उनके पूर्वज जिनहंससूरि द्वारा जैन-धर्म[3] में दीक्षित हुए। गिरिधर के पुत्र का नाम गेलाजी था और गेलाजी ही गेल्हड़ा गोत्र के प्रवर्त्तक हुए। हीरानन्द के पिता करमचन्द थे, पितामह अक्षयराज और प्रपितामह सिंहराज। मूलतः क्षत्रिय होते हुए भी इस परिवार ने धनुर्वाण का परित्याग कर दिया था और अब इसकी जीविका व्यापारमात्र रह गई थी। नागौर में व्यापार का क्षेत्र संकीर्ण था। महत्त्वाकांक्षा रखने वाले हीरानन्द ने, उससे बड़े क्षेत्र की तलाश में ही, पूरब की दिशा में यह प्रस्थान किया था।

यह दिल्लीश्वर शाहजहां का राज्य-काल था। वह गुणों में अपने पितामह अकबर की बराबरी करने वाला तो न था, पर साथ ही उसमें वे दोष भी न थे जिनसे भरपूर होकर उसका पुत्र औरंगजेब मुगल-साम्राज्य की जड़ खोदनेवाला हुआ। हिन्दू-धर्म के प्रति उसकी भी कुदृष्टि रहती थी, पर वह औरंगजेब की तरह धर्मान्ध न था। बाप में बेटे की-सी स्वार्थपरता, कपट या क्रूरता न थी। शाहजहां के समय में सर्वत्र शान्ति-सी रही और देश की खासी आर्थिक उन्नति हुई। दिल्ली का दबदबा अभी चारों ओर बना हुआ था, और सम्राट्

का ध्यान बराबर इस ओर रहता था कि राज-कर्मचारी प्रजा का शोषण करने न पावें। ऐसी नीति के फलस्वरूप, खेतीबारी को ही नहीं, उद्योग-धन्धों तथा कला-कौशल को भी प्रोत्साहन मिला और भारतवर्ष के देशान्तर्गत व्यापार के ही नहीं, विदेशी व्यापार के भी क्षेत्र का विस्तार हुआ। दिल्ली में कोहनूर[४] और तख्तताऊस[५] को देखकर विदेशी यात्रियों को चकाचौंध तो लगती ही, उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ता कि और देशों की तुलना में, भारतवर्ष विशेष धनधान्य-पूर्ण और सुखी है। इस देश के राजनीतिक-गगन में बादल उमड़ने वाले थे, शान्ति का स्थान अशान्ति, सुख-संपद् का स्थान दुख-दारिद्र्य ले लेने वाला था, पर उस अध्याय का आरंभ होने में—औरंगजेब के तख्त पर बैठने में—अभी प्रायः छः साल की देर थी।

भाग्य-परीक्षा के लिए पटना-जैसा स्थान चुन कर हीरानन्द ने बुद्धिमत्ता दिखाई थी। बिहार-प्रान्त की राजधानी तो यह था ही, वाणिज्य-व्यवसाय की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण था। 'यहां से बाहर जाने वाली वस्तुओं[६] में शोरा, गुड़, चीनी, छींट, लाह, सोहागा, कस्तूरी, अफीम और हल्दी प्रधान थीं। पटने की छींट दूर-दूर तक मशहूर थी। वहां कस्तूरी भूटान से आकर बिकती और सोहागा तिब्बत से। विदेशी व्यापारियों की ओर से इधर शोरे की खरीदारी बड़े पैमाने पर होने लगी थी। डचों और फरासीसियों के बाद जब अंगरेज इस मैदान में आये, तब उनको ईस्ट इंडिया कंपनी को अपने संचालकों से आदेश मिला कि व्यापार में जो पूंजी लगे, उसका कम से कम आधा शोरे की खरीदारी में लगाया जाय और यह खरीदारी पटने में ही की जाय।

शोरा बारूद बनाने में काम आता था और ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए इसका व्यापार बड़ा ही लाभप्रद था। बंगाल और बिहार के तत्कालीन इतिहास में अक्सर यह विवरण मिलता है कि शोरे से लदी नावें पटने से हुगली या कलकत्ते चलीं। पर बीच में ही राज-महल के पास नवाब के कर्मचारियों ने उन्हें इस कारण रोक लिया कि कंपनी ने न तो चुंगी चुकाई थी, न अब भी चुकाने को तैयार थी। पहले तो कंपनी की ओर से यह दलील पेश की गई कि वह चुंगी चुकाने से बरी है, पर जब इससे काम न बना, तब कर्मचारियों की खुशामद कर परवाना हासिल करने की कोशिश की गई। जब यह भी बेकार साबित हुई, तब रुपया मंगाकर महसूल चुकाया गया और शोरे को जल्द से जल्द बंदरगाह पहुंचाया गया।

जगत्सेठ-वंश का ईस्ट इंडिया कंपनी[७] से कुछ ही समय बाद घनिष्ठ सम्बन्ध होने वाला था, और अन्त में यह कंपनी जगत्सेठों की तो बात ही क्या, मुर्शिदाबाद की मसनद से दिल्ली के तख्त तक राजसत्ता को अपने हाथ में कर, इस देश में सर्वेसर्वा बनने वाली थी। अपनी दीवार की नींव डालने के दिनों में कंपनी ने इस धनाढ्य और प्रभावशाली परिवार से तरह-तरह की सहायता ली, पर पलासी के युद्ध के बाद जब उसकी स्थिति काफी मजबूत हो गई और जगत्-सेठ-वंश की दशा दिनों-दिन हीन होने लगी, तब अंगरेजों को तोते की तरह आंख फेर लेते देर न लगी।

पटने में हीरानन्द साह के जीवन के प्रायः साठ बरस व्यतीत हुए। वहां पहुंचकर उन्होंने महाजनी के कारबार में हाथ लगाया था और उसी व्यवसाय के मार्ग पर वह धैर्य, साहस तथा एकनिष्ठा से आगे बढ़ते गये थे। आरंभ में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना

करना पड़ा था, पर वह हिम्मत हारने या घबराने वाले न थे। कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करते गये, अपने कारबार को बढ़ाते और उसकी नींव को दिन-दिन मजबूत करते गये।

जिस समय हीरानन्द पटने आये थे, उस समय बंगाल की राजधानी राजमहल थी और वहां नाजिम के पद पर शाहशुजा था। अपने भाई औरंगजेब से लड़ाई में हारकर वह अराकान भाग गया और वहीं कहीं उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद यह पद मीर जुमला को प्राप्त हुआ, और १६६४ में उसकी मृत्यु हो जाने पर शाइस्ता खां को। इसने बंगाल में दो बार निजामत की—पहली बार १६६४ से १६७८ तक और दूसरी बार १६८० से १६८८ तक। बीच में कुछ महीने आजम खां कोका नाजिम रहा और प्रायः एक बरस औरंगजेब का बेटा मुहम्मद आजम।

शाइस्ता खां की धार्मिक नीति औरंगजेब ही की-सी थी। उसने हिन्दुओं के कितने ही मंदिरों का विध्वंस कर डाला और उनसे जजिया[c] कर वसूल करने में ऐसी सख्ती दिखलाई कि बंगाल में लाखों हिन्दू उससे बचने के लिए मुसलमान हो गये। मुसलमान इतिहासकारों ने लिखा है कि शाइस्ता खां के शासन-काल में चावल दो आने मन बिकता था। गल्ला और दूसरी चीजें भी काफी सस्ती थीं, इसमें संदेह नहीं।

शाइस्ता खां के शासन-काल के प्रारम्भ में ढाका फिर एक बार बंगाल की राजधानी हो चला था। प्रायः चालीस बरस बाद यह सेहरा मुर्शिदाबाद के सिर बँधा।

शाइस्ता खां की बदली हो जाने पर, बंगाल का नाजिम, कुछ महीनों के लिए, खांजहां बहादुर हुआ और उसके बाद इब्राहीम खां।

शोभासिंह के विद्रोह के दमन में इब्राहीम खां अयोग्य साबित हो चुका था, इसलिए १६९७ में औरंगजेब ने अपने पोते अजीमुश्शान को बंगाल का नाजिम बनाकर भेजा। इसके बंगाल पहुंचने के पहले ही शोभासिंह राजा कृष्णराम की लड़की के खंजर का शिकार हो चुका था। रहीम खां के उपद्रव कुछ समय तक जारी रहे, पर अजीमुश्शान के बंगाल पहुंच जाने पर वह भी लड़ाई में मारा गया। कुछ ही साल बाद अजीमुश्शान को बिहार की निजामत भी मिल गई।

सन् १७११ (तदनुसार संवत् १७६८) में हीरानन्द साह का शरीरावसान हुआ। तिथि थी माघ कृष्ण ४। वह सात पुत्र और एक कन्या छोड़ मरे। पुत्रों के नाम थे, गुलालचन्द, गोवर्द्धनलाल, मलूकचन्द, सदानन्द, मानिकचन्द, अमीचन्द और दीपचन्द। इनमें सबसे यशस्वी मानिकचन्द हुए। कन्या का नाम था धनबाई, जो आगरे के उदयचन्द को व्याही थी। इस धनबाई के गर्भ से ही उत्पन्न बालक को प्रथम जगत्सेठ होने का गौरव प्राप्त हुआ।

सन् १६५२ में हीरानन्द पटने आए थे और सन् १७११ में उनकी मृत्यु हुई। इन वर्षों के बीच इस परिवार का प्रधान कार्यक्षेत्र बंगाल बन चुका था, जहां आनेवाले दिनों में इसकी और भी उन्नति होने वाली थी और यह घराना उस प्रान्त के इतिहासरूपी चक्र का धुरा-सा बनने वाला था।

धन और संतति से सम्पन्न हीरानन्द के परमानन्द में लीन होने से पहले भारतीय इतिहास के रंगमंच पर भी कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं घट चुकी थीं; और इतिहास के स्रोत को घुमाने-फिराने वाले कई महान् व्यक्ति भी दुनिया से कूच कर चुके थे। हिन्दू-जाति की पत रखने वाले छत्रपति शिवाजी स्वर्ग सिधार चुके थे; चिड़ियों में बाज

से लड़ने की क्षमता पैदा कर सिक्ख गुरु गोविन्दसिंह वीर-गति को प्राप्त हो चुके थे; ताजमहल का निर्माता शाहजहां उसकी ओर आंसू भरे नेत्रों से देखते हुए कारागार में प्राण त्याग चुका था और आततायी औरंगजेब भी अपनी स्वार्थपरता, कुटिलता, धर्मान्धता और नृशंसता से मुगल-साम्राज्य की कब्र खोदकर, ९१ साल की उम्र में, सदा के लिए अपनी कब्र में सो चुका था।

जिस समय हीरानन्द साह की जीवन-लीला समाप्त हुई, उस समय दिल्लीश्वर का पद बहादुरशाह को प्राप्त था। पहले उसका नाम मुहम्मद मुअज्जम था। औरंगजेब के दो बेटे और थे—मुहम्मद आजम और कामबख्श। औरंगजेब अच्छी तरह जानता था कि उसके मरने पर उसके बेटे राजपाट के लिए आपस में लड़े बिना न रहेंगे। मुअज्जम सब से बड़ा था, पर जो स्वयं अपने बाप को कैद कर चुका था और अपने बड़े-छोटे भाइयों को मौत के घाट उतार चुका था, उसके मुंह में कब जबान हो सकती थी कि अपने बेटों को पारस्परिक प्रेम या नीति-परायणता का उपदेश देता? सोच-विचार कर और इस आशा से कि बेटे उसकी बात मान लेंगे, वह मरने से पहले राज्य का उन तीनों के बीच बँटवारा कर गया। वह उसका वसीयतनामा कहा जाता है। इसके अनुसार सब से बड़े मुअज्जम को १२,९३,९८,९१० रु० की आय के बारह* सूबे, सब से ऊंची आकांक्षा रखनेवाले आजम को ११,७६,०६,३८५ रु० की आय के छः† सूबे और औरंगजेब

---

* दिल्ली, काश्मीर, लाहौर, मुल्तान, सिंध, अजमेर, अहमदाबाद, उड़ीसा, बंगाल, बिहार, इलाहाबाद और अवध।

† आगरा, मालवा, खानदेश, बरार, बीदर और औरंगाबाद।

की उपपत्नी उदीपुरीमहल की कोख से जन्मे हुए कामबख्श को ५,४७,९१,६२५ रु० की आय के दो* सूबे मिलते। मगर मुअज्जम को छोड़ किसी को यह बँटवारा मंजूर न हुआ। वह अपने हिस्से में से आजम को अहमदाबाद और अजमेर भी दे देने को तैयार हो गया, पर आजम ने जवाब में उसे यही लिखा कि "फर्श से छत तक मुझे देकर बाकी छत से आसमान तक तुम अपने लिए रख लो। मुझे और कोई बँटवारा मंजूर नहीं"। भाइयों में लड़ाई होके ही रही। इसमें आजम और कामबख्श मारे गये और विजयी मुअज्जम हुआ जो आलमगीर या बहादुरशाह के नाम से तख्त पर बैठा। इसी का पुत्र अजीमुश्शान था जो अब प्रायः अपने वृद्ध पिता के साथ रहने लगा। हीरानन्द साह के मरने के दूसरे ही साल बहादुरशाह की मृत्यु हुई, पर अपने दुर्भाग्य के कारण उसके बाद अजीमुश्शान दिल्ली के तख्त पर न बैठ सका।

---

* बीज़ापुर और हैदराबाद।

काबुल में आय से व्यय अधिक था। वह इस फेहरिस्त में शामिल नहीं है।

टिप्पणी

(१) पृष्ठ ३—"यद्यपि राव अमरसिंह मारवाड़-नरेश गजसिंह के सब से बड़े पुत्र थे, पर सं० १६९० वि० कृ० बैसाख मास में उन्होंने अपने छोटे पुत्र यशवन्तसिंह को युवराज की पदवी और इन्हें देश-त्याग की आज्ञा दी थी। यह बादशाह शाहजहां के दरबार में गये, जिसने इन्हें अच्छा मनसब, राव की पदवी तथा नागौर की जागीर दी।"

"राव अमरसिंह और सलावत खां बख्शी में बीकानेर की सीमा के विषय में कुछ मनोमालिन्य हो गया था। बीमार होने के कारण या जैसा कि अमरसिंह के कवि 'बनवारी' का कथन है, छुट्टी से अधिक दिन व्यतीत करने पर किये गये जुरमाने के रुपये न देने के कारण सलावत खां बख्शी ने दरबार में उसके लिए तकाजा किया, जिस पर इन्होंने रोष प्रकट किया। सलावत खां ने इस पर इन्हें गंवार कहा, जिससे क्रुद्ध होकर इन्होंने उसे मार डाला। दोहा यों है—

इत गंकार मुख तें कढ़ी, उत निकसी जमधार ;
'वार' कहन पायो नहीं, कीन्हों जमधर पार।"

"मआसिरुल उमरा" के अनुवादक की पादटीका।

मूल पुस्तक के लेखक ने राव अमरसिंह के वृत्तान्त में लिखा है कि शाहजहां ने उसके पुत्र रायसिंह को एक हजारी, सात सौ सवार का मनसब दिया और बाद को उसकी पदोन्नति भी हुई। औरंगजेब का पक्षपाती होने के कारण यह तरक्की करता ही गया और एक दिन महाराज यशवंतसिंह को चिढ़ाने के लिए, औरंगजेब ने इसे राठौर-जाति का सरदार और जोधपुर का राजा भी बना दिया। इसके मरने पर औरंगजेब ने इसके पुत्र इन्द्रसिंह को जोधपुर की राजगद्दी पर बहाल रक्खा, पर शान्ति स्थापित होते न देखकर कुछ ही समय बाद उसे यह सारी व्यवस्था बदलनी पड़ी। इन्द्रसिंह को मारवाड़ के बदले नागौर लेकर पुनर्मूषिक होना पड़ा।

(२) पृष्ठ ३—स्वर्गीय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखते हैं:—

"वर्तमान सारा बीकानेर-राज्य तथा मारवाड़-जोधपुर-राज्य का उत्तरी हिस्सा जिसमें नागौर आदि परगने हैं, प्राचीन काल में जांगल देश कहलाता था।

"जांगल देश की राजधानी अहिछत्रपुर थी, जिसको इस समय नागौर कहते हैं और जो जोधपुर-राज्य के उत्तरी भाग में है।

"जोधपुर-राज्य के नागौर-नगर को जांगल देश की राजधानी अहिछत्रपुर मानने का पहला कारण तो यह है कि नागौर नागपुर का प्राकृत रूप है। नागपुर का अर्थ है 'नाग का नगर', अहिछत्रपुर का अर्थ है 'नाग है छत्र जिस नगर का'। नाग और अहि दोनों एक ही आशय (सांप) के सूचक हैं। संस्कृत के लेखक नामों का उल्लेख करने में उनके पर्याय शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से करते हैं। पुराणों में विशेष कर हस्तिनापुर नाम मिलता है, परन्तु भागवत में उसी के स्थान में गजसाह्वयपुर (भागवत १।८।४५, ४।३१।३०, ४।१०।५७) या गजाह्वयपुर (भागवत १।९।४८, १।१५।३८) नाम भी हैं। महाभारत में हस्तिनापुर के लिए नागसाह्वयपुर (७।१।८, १४।१६।२०) और नागपुर (५।१४७।५) नामों का प्रयोग भी मिलता है। क्योंकि हस्ती, नाग और गज तीनों ही एक ही अर्थ के सूचक हैं। दूसरा कारण यह है कि चौहान राजा सोमेश्वर के समय के वि० सं० १२२६ फाल्गुन बदि ३ के बिजौलिया (उदयपुर-राज्य में) के चट्टान पर के लेख में चौहान राजा सामंत का अहिछत्रपुर में राज्य करना लिखा है। (विप्रश्रीवत्सगोत्रेऽभूदहिछत्रपुरे पुरा..............)। पृथ्वीराज–विजय महाकाव्य में पाया जाता है कि वासुदेव (सामंत का पूर्वज) शिकार को गया, जहां एक विद्याधर की कृपा से शाकंभरी (सांभर) की झील उसको नजर आई। इससे पाया जाता है कि सांभर की झील चौहानों की मूल राजधानी अहिछत्रपुर से बहुत दूर न थी। ऐसी दशा में नागौर ही अहिछत्रपुर हो सकता है।

"जांगल देश की राजधानी अहिछत्रपुर (नागौर) के आस-पास छोटे-से प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। नागौर के आसपास के इलाके (नागौर पट्टी) को वहां के लोग अब तक 'श्वाजक' या 'सवाजक' कहते हैं जो सपादलक्ष का ही लौकिक रूप है"।

नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग २—अंक ३।

(३) पृष्ठ ४—"यद्यपि जैन-धर्म की स्थिति के ऐसे प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलते तो भी अजमेर जिले के वर्ली नामक गांव में वीर संवत् ८४ (वि० सं० पूर्व ३८६, ईस्वी सन् पूर्व ४४३) का एक शिलालेख मिला है, जिससे अनुमान होता है कि अशोक से पूर्व भी राजपूताने में जैन-धर्म का प्रचार था। जैन लेखकों का यह मत है कि राजा संप्रति ने, जो अशोक का वंशधर था, जैन-धर्म की बड़ी उन्नति की और राजपूताना व इसके आसपास के प्रदेशों में भी उसने कई जैन-मंदिर बनवाये थे। विक्रमीय संवत् की दूसरी शताब्दी के मथुरा के कंकाली टीले वाले जैन-स्तूप तथा इधर के कुछ अन्य स्थानों के मिले हुए प्राचीन शिलालेखों तथा मूर्त्तियों से पाया जाता है कि उस समय भी यहां जैन-धर्म का अच्छा प्रचार था। वि० संवत् की तेरहवीं शताब्दी में गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अपने प्रसिद्ध विद्वान् गुरु हेमचन्द्राचार्य के उपदेश से जैन धर्म ग्रहण कर उसकी बहुत कुछ उन्नति की। उस समय राजपूताने के कई राजाओं ने हिंसा रोकने के लिए लेख भी खुदवाये, जो अब तक विद्यमान हैं। कुमारपाल के पूर्व से लेकर अब तक के सैकड़ों भव्य जैन-मंदिर यहां विद्यमान हैं, जिनमें कई एक स्वयं कुमारपाल ने बनवाये थे। "राजपूताने का इतिहास", ले०—पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पहली जिल्द।

(४) पृष्ठ ५—प्रसिद्ध हीरा, जो प्राय: ५००० वर्ष पहले दक्षिण भारत में गोदावरी के तल से प्राप्त हुआ था। इसका पूरा—विशेषत: प्राचीन—इतिहास नहीं मिलता। अलाउद्दीन खिलजी ने इसे मालवा के हिन्दू राजा से जबरदस्ती ले लिया और तब से यह दिल्लीश्वरों के पास रहा। नादिरशाह इसे लूटकर ईरान ले गया, फिर कालचक्र इसे बरसों बाद १८१३ में भारतवर्ष लौटा लाया और यह पजाबपति रजीतसिंह का मुकुटमणि हो गया। जब अंगरेजों का आधिपत्य हुआ, तब वे इसे १८४९ में अपने देश ले गये, और १८५० में यह रानी विक्टोरिया को भेंट किया गया। आरंभ में यह आज से कहीं भारी था। जान पड़ता है कि इसके कई टुकड़े हो चुके हैं।

(५) पृष्ठ ५—मोर के आकार का राजसिंहासन, जिसे शाहजहां ने बनवाया

था और जिस पर वह पहली बार १२ मार्च १६३५ को बैठा था। यह सवा तीन गज लम्बा, सवा दो गज चौड़ा और पांच गज ऊँचा था। इसमें एक लाख तोला सोना लगा था और यह बहुमूल्य रत्नों से जटित था। सर यदुनाथ सरकार ऐतिहासिक शोध के आधार पर, इसमें लगे हुए सामान की कीमत एक करोड रुपये बताते हैं, जिसमें सोने की कीमत उस समय के भाव से १४ लाख थी। हां, मजूरी उस एक करोड़ के अलावा थी। साधारणतः तख्त ताऊस की कीमत प्रायः ९ करोड़ रुपये बताई जाती थी। इसे नादिरशाह १७३९ में ईरान लेता गया। आज भी यह वहीं मौजूद है, पर अपनी असली हालत में नहीं।

(६) पृष्ठ ५—इस देश से बाहर जानेवाली अन्य वस्तुओं में नील (रंग के काम के लिए), मिर्च, सोंठ, घी, मोम और कपड़े प्रधान थे। कपड़े सूती और रेशमी दोनों ही होते थे। छींट, मलमल, ताफ्ता, बाफ्ता—इनकी विदेशों में बराबर बड़ी मांग रहती थी। बाहर से यहां आने वाली चीजों में मुख्य थीं—चांदी, तांबा, सीसा, बनात, पारा, मूंगा, कांच के सामान, मसाला, कस्तूरी और सोहागा। कुछ हद तक हीरे का निर्यात होता था, और मोती का आयात। ईरान, अरब आदि देशों से प्रायः हर साल एक लाख घोड़े मंगाये जाते थे। शाहजहां के समय में किसी-किसी ताजी घोड़े की कीमत १५,००० रु० तक जा पहुँचती थी। कभी-कभी आजाने वाले सोने के अलावा तंबाकू और हब्शी गुलाम भी हमारे आयात में शामिल थे।

(७) पृष्ठ ६—ईस्ट इंडिया कंपनी उस व्यापारी संस्था का नाम था, जो पूरब के देशों के साथ—पर विशेषतः भारतवर्ष के साथ—व्यापार करने के लिए अंगरेजों ने कायम की थी। सब से पहले इस मैदान में आने वाले पुर्तगीज थे। वास्को डि गामा नामक पुर्तगीज १४९८ में, अफ्रीका के दक्षिण होकर, समुद्र की राह, भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर कालीकट पहुँचा था और अपने देश के साथ यूरोप के अन्य देशों का भी पथ-प्रदर्शक बन चुका था। प्रायः १०० बरस तक इस व्यापार-वृक्ष के मीठे फल अकेले पुर्त्तगीज खाते रहे।

पर उनकी नीति-रीति कुछ एसी हो चली—ईसाई-धर्म का वलपूर्वक प्रचार उसका ऐसा अभिन्न अंग हो गया—कि वे अपनी उन्नति में आप ही बाधक बन गये। फिर १६वीं सदी के अन्त में और देशों का ध्यान इस दिशा में गया और वे भी कमर कस कर उन फलों के साझीदार होने के लिए मैदान में आ डटे। इनमें मुख्य थे इंगलैण्ड, हालैंड, डेनमार्क और फ्रांस। अंगरेजों से प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले प्रधानतः डच (हालैण्ड) और फ्रेंच (फरासीसी) साबित हुए। फ्रांस सब के बाद मैदान में आया था और अंगरेजों का सब से प्रबल प्रतिद्वंद्वी भी वही निकला। पर अन्त में विजय-लक्ष्मी की कृपा अंगरेजों पर ही हुई और फरासीसियों को मैदान छोड़ देना पड़ा।

अफ्रीका के दक्षिण होकर जिस समुद्र-पथ से जहाज भारतवर्ष पहुँच सकते हैं, उसका पता चलने से पहले, भारतवर्ष और यूरोप के बीच जो व्यापार होता था, वह खुश्की की राह से होता था। अंगरेज इधर का माल पहले तो इटली के बन्दरगाह वेनिस से खरीद कर ले जाया करते थे, पर बाद में पुर्त्तगाल के लिसबन नगर से यह सम्बन्ध स्थापित हुआ। फिर भी अंगरेज इससे संतुष्ट न थे और भारतवर्ष तथा इधर के देशों से सीधा व्यापार करने के लिए पुर्त्तगीज का अनुसरण करने को उत्सुक थे। पर इसमें कई कठिनाइयां थीं। इंगलण्ड की रानी एलिजाबेथ के शासनकाल में उस देश की सर्वांगीण उन्नति हुई और उसके साहसी नाविकों ने अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने के कई प्रयत्न किये। अन्त में एलिजाबेथ के मरने से प्रायः तीन वर्ष पूर्व सन् १६०० में एक कम्पनी संगठित हुई और उसे पन्द्रह साल तक भारतवर्ष के साथ व्यापार करने का कुछ शर्त्तों पर इजारा मिला। इस कंपनी की पूंजी ७२,००० पौंड थी। अंगरेजों का पहला बेड़ा, जिसमें पांच जहाज थे, १६०१ में इधर भेजा गया। यह ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार का श्रीगणेश था।

इस व्यापार से अंगरेजों को बड़ा लाभ होने लगा—हिस्सेदारों को १०० प्रतिशत तक मुनाफा मिलने लगा। इससे इंगलैण्ड में कंपनी को अधिकाधिक पूंजी मिलने लगी। अपने अन्तिम दिनों में कंपनी की पूंजी ६,०००,००० पौंड थी। इंगलैण्ड की सरकार बराबर कंपनी की पीठ पर रही,

इसकी सफलता का मूल कारण उसी को समझना चाहिए। कंपनी की पहली फैक्टरी* सन् १६१२ में सूरत म खुली। १६३९ में उसने एक हिन्दू राजा से मद्रास खरीद लिया और वहां एक किला भी बनवाया। १६६८ में द्वितीय चार्ल्स से बम्बई शहर मिल गया। चार्ल्स का विवाह पुर्त्तगाल की राजकुमारी से होने पर उसे यह नगर दहेज में मिला था। चूंकि यहां की आबहवा बहुत खराब समझी जाती थी, यह कंपनी को कौड़ियों के मोल मिल गया। इंगलैण्ड में कंपनी के शत्रु तथा विरोधी भी थे। जब-जब उसके इजारे की मीयाद पूरी होने लगती, तब-तब उसके विरुद्ध वहां एक आन्दोलन खड़ा हो जाता, पर सरकार की दयादृष्टि होने के कारण सारी कठिनाइयां हल हो जातीं। सत्रहवीं सदी के अन्त में, एक नई कंपनी को सरकार को बीस लाख पौंड कर्ज देने की शर्त्त पर इस व्यापार में शामिल होने की इजाजत मिली। पर कुछ ही समय बाद दोनों कंपनियां मिलकर एक हो गईं।

यहां कंपनी ने अपने व्यवसाय का आरभ सूरत में किया था, फिर उसने दिल्ली और आगरे से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। सन् १६२० और १६३२ के बीच उसकी ओर से कई चेष्टायें पटने से भी सम्बन्ध जोड़ने की हुईं, पर स्थल-मार्ग से शोरा-जैसी भारी चीज को सूरत पहुँचाने में इतना खर्च बैठता था कि इनमें कोई भी सफल न हो सकी और अन्त में उसे यह प्रयास ही छोड़ देना पड़ा। इससे पहले कंपनी की एक शाखा दक्षिण के मछलीबन्दर (मसुलीपट्टम्) में खुल चुकी थी। वहीं से १६३३ में आठ अंगरेज जलमार्ग से बंगाल को भेजे गये। रास्ते में उड़ीसा पड़ता था, इसलिए ये पहले उसकी राजधानी कटक गये। वहां उस समय मुगल-सम्राट् का प्रतिनिधि आगा मुहम्मद जमां था। अंगरेज व्यापारियों के नेता का नाम राल्फ कार्टराइट था। जब दरबार में ये लोग आगा मुहम्मद के सामने पेश

*कंपनी जहां अपना कारोबार करती, उस स्थान को अंग्रेजी में "फैक्टरी" कहते थे। वहां तरह-तरह के माल की खरीद-बिक्री हुआ करती; स्टाक रक्खे जाते और निर्यात की दृष्टि से सारी क्रियाएं पूरी की जातीं—उदाहरणार्थ, रेशम की रंगाई।

किये गये, तब उसने जूती उतार कर अपना एक पैर कार्टराइट की ओर बढ़ा दिया। अभिप्राय यह था कि कार्टराइट पहले उसे चूम ले, फिर अपना आवेदन सुनावे। ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य प्रतिनिधि बड़े असमंजस में पड़ गया, पर निरुपाय होकर उसे कदमबोसी करनी ही पड़ी। फिर उसने कंपनी की ओर से व्यापार-सम्बन्धी सुविधाओं की याचना की। वे उसे बात की बात में मिल गईं। कुछ ही समय में हरिहरपुर तथा बालेश्वर में अंगरेजों के कारखाने खुल गये। उड़ीसा में पैर जम जाने पर, कंपनी बंगाल की ओर बढ़ी, और वहां उसकी पहली फैक्टरी १६५१ में हुगली नामक नगर में खुली। धीरे-धीरे और फैक्टरियां खुल गईं—जैसे मुर्शिदाबाद के पास कासिमबाजार की फैक्टरी १६५७ में, ढाके की १६६८ में।

पहले बिक्री के माल पर ढाई रुपया सैकड़ा चुंगी देने का नियम था। फिर यह नियम हुआ कि मुसलमानों से तो ढाई रुपया सैकड़ा ही लिया जाय, पर हिन्दुओं से इसका दूना। औरंगजेब ने मुसलमान-मात्र को चुंगी देने से बरी कर दिया। गैर-मुस्लिम व्यापारियों से चुंगी के अलावा जजिया नामक कर भी वसूल किया जाता था। अंगरेजों को सब मिलाकर साढ़े तीन रुपये सैकड़ा देना पड़ता था। १६८० में औरंगजेब ने एक फरमान-द्वारा यह नियम जारी किया कि सूरत बन्दरगाह में ईस्ट इंडिया कंपनी का जो माल उतरे, उस पर साढ़े तीन रुपये सैकड़े के हिसाब से चुंगी वसूल कर ली जाय, पर उसके बाद कंपनी उस माल के लिए कहीं भी और किसी प्रकार के शुल्क या कर की देनदार न समझी जाय। उदाहरणार्थ, अगर माल को कंपनी दिल्ली ले जाकर बेचे तो रास्ते में कोई उससे राहदारी या अन्य प्रकार का शुल्क तलब न करे। १६५० में अँगरेजों ने बंगाल के नाजिम शाहशुजा को परितुष्ट कर, उससे अपने लिए यह रिआयत करा ली थी कि हर साल कंपनी बतौर पेशकश कुल ३००० रु० दिया करेगी—उस प्रान्त में इसके अलावा कुछ भी सरकार को मांगने का अधिकार न होगा।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान में रखने की हैं। औरंगजेब के फरमान में सिर्फ उस माल का जिक्र था, जो सूरत बन्दरगाह होकर इस देश में आया

हो। उसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता था कि माल चाहे और बन्दरगाह से भी प्रवेश करे तो वह सूरत होकर ही इस देश में आया हुआ समझा जाय और वह साढ़े तीन प्रतिशत चुंगी का भी देनदार न हो । रह गई बंगाल की बात । वहां भी प्रान्तीय शासक को ऐसा कोई अधिकार न था कि चुंगी-सम्बन्धी भारत-व्यापी विधान की उपेक्षा या अवज्ञा कर, किसी के साथ मनमानी रिआयत कर सके ।

शाहशुजा के समय में कंपनी का कारबार बहुत ही छोटे पैमाने पर था। जब उसकी वृद्धि हुई, तब बंगाल के नाजिमों ने केन्द्रीय विधान के अनुसार उससे चुंगी तलब करना शुरू किया । कंपनी का सिद्धान्त था कि "यहां लेने को आये हैं, यहां देने नहीं आये" । वाद-विवाद, हीला-हवाला, अर्ज-मिन्नत, गुहार-दुहाई, धमकी-बन्दरघुड़की,—जब इनसे काम न निकलता तब वह प्रभावशाली व्यक्तियों से अपनी सिफारिश कराती । अधिकारियों की मुट्ठी गरम करने की भी भरपूर चेष्टा करती । पर जब इन युक्तियों से भी सफलता प्राप्त न होती, तब वह कहीं खम ठोंकने और कहीं बन्दूक या तोप दागने लगती । ठठेरे की ऐसी बिल्ली से यहां के शासकों को पहले कभी काम न पड़ा था ।

१६८५ में बंगाल का नाजिम शाइस्ता खां था । उस समय कंपनी की फैक्टरी हुगली नगर में थी। शाइस्ता खां ने कंपनी से साढ़े तीन प्रतिशत के हिसाब से चुंगी तलब की तो इसने देने से इन्कार कर दिया । इस पर उसने इसके कामकाज पर प्रतिबन्ध लगा दिया और इसके कर्मचारियों के साथ कुछ सख्ती से पेश आया । कंपनी का एजेंट या गुमाश्ता जाव चारनक था। उसने नवाब को तुर्की-बतुर्की जवाब देने की कोशिश की, पर पर्याप्त शक्ति न होने के कारण वह अन्त में बोरिया-बंधना उठाकर समुद्र की ओर चल दिया । हुगली से २४ मील दूर नदी के किनारे वह सुतानती नामक गांव में ठहरा, जो इस समय कलकत्ते के अन्तर्गत है, पर उसको निरापद न समझकर वह समुद्र की ओर सरकता ही गया और अन्त में उसने मेदनीपुर जिले के हिजली नामक गांव के पास पहुंचकर लंगर डाला। पीछे यहां होने वाली

लड़ाई में अंगरेज सस्ते छूट गये और उन्हें हुगली लौट जाने की इजाजत मिल गई । यह बात सन् १६८७ की है ।

अंगरेज अभी इस लायक तो न थे कि सम्राट् या किसी सूबेदार की सेना के आगे थोड़ी देर भी ठहर सकते, पर जलयुद्ध की बात और थी । समुद्र पर जहां चाहते, इस देश के शासकों के छक्के छुड़ा सकते थे। जाब चारनक फिर लौटकर हुगली न गया । इधर-उधर अपना समय बिताने लगा । १६८८ में इंगलैण्ड से एक जहाजी बेड़ा आकर बंगाल की खाड़ी में काफी उत्पात मचाने लगा । बालेश्वर (बालासोर), चटगांव-जैसे नगरों पर उसने आक्रमण किये और लोगों के साथ—विशेषत: बालेश्वर में—बुरी तरह पेश आया । उधर इंगलैण्ड से एक बेड़ा लूटमार करने और उपद्रव मचाने के उद्देश से सूरत भी भेजा जा चुका था । इसने भी उधर आतंक फैला दिया ।

अंगरेजों के साथ पुर्त्तगीज , डच, फ्रेंच आदि जातियों के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि उनकी तुलना में इस देश की नौसेना नहीं के बराबर थी और हमारी इस शक्तिहीनता से वे पूरा लाभ उठाते थे । दरियाई डकैती से अपने व्यापारियों या अन्य यात्रियों की रक्षा करने में हमारे दिल्लीश्वर भी असमर्थ थे । सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ऐसे डकैत विशेषत: अंगरेज हो चले थे। हज के उद्देश से जाने-आने वाले मुसलमान इन लुटेरों-द्वारा बराबर सताये जाते, इसका औरंगजेब को विशेष दुःख होता। पर वह लाचार था, जानता था कि समुद्र पर उसका कोई बस नहीं चल सकता । वह चाहता तो अंगरेजों को कठोर से कठोर दंड दे सकता था। एकाध बार उसकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हुई भी । अरब-सागर में अंगरेजों के जहाजी बेड़े ने जो लूटमार की थी, उसका बदला लिये बिना वह न रह सका। सूरत के सारे अंगरेज कैद कर लिये गये और जंजीरों से जकड़बन्द कर शहर में कई रोज घुमाये गये। कंपनी की ओर से दो प्रतिनिधि सम्राट् की सेवा में क्षमा मांगने गये तो इन्हें भी सिपाहियों की हिरासत में उसी प्रकार जकड़बन्द होकर जाना पड़ा। जब ये दरबार में औरंगजेब के सामने पेश किये गये, तो इनके हाथ रूमालों से बंधे हुए थे । दोनों ने फर्श पर लेटकर सम्राट् का अभिवादन किया और कंपनी

की ओर से उस बेड़े के कुकृत्यों के लिए पश्चात्ताप प्रकट कर क्षमा मांगी। जब उन्होंने डेढ़ लाख रुपये जुर्माने देना और कुछ दूसरी शर्तों की पाबन्दी करना मंजूर किया, तब सम्राट् ने क्षमा-प्रदान कर यह आज्ञा दे दी कि अंगरेज जिस तरह व्यापार करते आ रहे थे, उसी तरह करते रहें। यह घटना १६९० की है। औरंगजेब जानता था कि अगर उसने और भी सख्ती की या अंगरेजों का देश-निकाला कर दिया, तो इस देश के मुसलमानों के लिए हज की यात्रा बिलकुल बन्द हो जायगी।

बंगाल के नाजिम इब्राहीम खां को भी हुक्म भेजा गया कि अंगरेजों से हर साल बदस्तूर ३००० रु० पेशकश ही लिया जाय, उनसे किसी तरह की चुंगी तलब न की जाय। अब मद्रास से जाब चारनक बंगाल भेजा गया और उसने २४ अगस्त १६९० को फिर एक बार सुतानुती पहुँचकर वहीं कंपनी की फैक्टरी खोली, और इस तरह वर्त्तमान कलकत्ते की नींव डाली।

सन् १६९६ में मेदिनीपुर जिले के शोभासिंह नामक जमींदार ने उड़ीसा-निवासी अफगानों के सरदार रहीम खां से मिलकर बगावत कर दी और जहां-तहां लूट-मार शुरू कर दी। पहले तो उसने बर्दवान के जमींदार राजा कृष्णराम का घर-बार लूटा, फिर धावा कर हुगली जा पहुँचा और सरकारी किले पर भी कब्जा कर लिया। मौका पाकर डच, फरासीसी और अंगरेज व्यापारियों ने नाजिम से अपने-अपने कारखानों को सुरक्षित करने के लिए किलेबन्दी करने की इजाजत मांगी। इससे पहले उन्हें उस ओर ऐसी इजाजत कहीं नहीं मिली थी। इब्राहीम खां ने उनकी बातों में आकर उनकी दरख्वास्तें मंजूर कर लीं। नतीजा यह हुआ कि डचों ने चिंचुरा (चिंसुरा) में, फरासीसियों ने चन्द्र (चन्दन) नगर में और अंगरेजों ने कलकत्ते में अपनी-अपनी किलेबन्दी शुरू कर दी। जलमार्ग से ही नहीं, स्थलमार्ग से भी, बंगाल की राजसत्ता पर प्रहार या आक्रमण करने का अंगरेजों को मौका मिल गया।

(८) पृष्ठ ७—जजिया-कर उन लोगों को देना पड़ता था, जो मुसलमान न थे, हालांकि कुछ मुसलमान धर्माचार्यों के मतानुसार हिन्दुओं के लिए इस्लाम

का विधान और ही था। सर यदुनाथ सरकार ने अलाउद्दीन खिलजी के काजी मुगीसुद्दीन का यह मत उद्धृत किया है:—

"शरीअत के अनुसार हिन्दू खिराजगुजार हैं। हिन्दुओं को लूटने-मारने की हमें आज्ञा मिली हुई है। हम लोग इमाम हनीफा के अनुयायी हैं, पर उनके सिवाय किसी आचार्य ने यह नहीं कहा है कि बादशाह हिन्दुओं से जजिया लेकर ही संतोष करे। औरों के मतानुसार तो हिन्दुओं के लिए बस यही विधान है कि इस्लाम या मौत।"

अकबर ने इस कर को उठा दिया था, पर औरंगजेब ने १६८० के लगभग इसे फिर लगाया। नियम था कि बच्चों, औरतों, गरीब बूढ़ों-अन्धों तथा कुछ अन्य लोगों को छोड़कर यह मुण्ड-कर प्रत्येक हिन्दू से वसूल किया जाय। करदाता तीन श्रेणियों में विभक्त थे—(१) गरीब मजूर या किसान (२) मध्यम वर्ग के लोग, और (३) धनी। प्रथम श्रेणी में वे हिन्दू समझे जाते थे जो सम्पत्तिहीन हों या जिनकी हैसियत २०० दिरम* से ऊपर न हो। द्वितीय श्रेणी वाले वे लोग थे, जिनकी हैसियत २०० और १०,००० दिरम के बीच थी। तृतीय श्रेणी के धनी वे हिन्दू थे, जिनकी हैसियत १०,००० दिरम से ऊपर थी। तीनों श्रेणियों के लिए जजिया-कर क्रमशः १२, २४ और ४८ दिरम होता था—अर्थात् प्रायः ३ रु० ५ आने, ६ रु० १० आने और १३ रु० ५ आने।

सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि "गरीब से गरीब हिन्दू को जजिया के रूप में ३ रु० ५ आने कर देना पड़ता था। सोलहवीं सदी के अन्त में औसत बाजार-भाव से ३ रु० ५ आने को ९ मन आटा मिल सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर सरकार किसी हिन्दू को जबरन मुसलमान न बनाती तो उससे इसकी कीमत जजिया-कर के रूप में साल-बसाल वसूल करती जाती। गरीब से गरीब हिन्दू के लिए यह कीमत होती उसकी साल भर की पूरी खूराक।" बंगाल में जो गरीब हिन्दू इस कर का भारी बोझ न उठा सकते, उन्हें मजबूर होकर मुसलमान हो जाना पड़ता।

---

* एक दिरम प्रायः साढ़े चार आने के बराबर होता था।

मानिकचन्द

तारकमतिपृच्छन्तमर्थो बालमतिवर्तते,
अर्थोह्यर्थस्य नक्षत्रं, किं करिष्यन्ति तारकाः ?
साधनाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् नराः यत्नशतैरपि,
अर्थैरर्थाः प्रवध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव ।

धन कमाने के लिए ग्रह, नक्षत्र आदि पर अत्यधिक भरोसा करना एक तरह का लड़कपन है । जो ऐसा करता है, लक्ष्मी उसके हाथ नहीं लगती । अर्थ दिलाने वाला नक्षत्र अर्थ आप ही है, गह या तारे कुछ नहीं कर सकते । सौ बार भी प्रयत्न करना पड़े तो अर्थ-साधक सफलता प्राप्त कर के ही दम लेगा । अर्थ अर्थ ही के द्वारा वशीभूत किया जा सकता है, जैसे हाथी हाथियों के द्वारा ।

—कौटिलीय "अर्थशास्त्र"

उम्र के लिहाज से मानिकचन्द हीरानन्द के पांचवें पुत्र थे, पर इतिहास के रंग-मंच पर हम उन्हीं को देख पाते हैं, उनके और भाइयों को नहीं। कारण स्पष्टतः यह है कि मानिकचन्द ढाक, और कुछ काल बाद, मुर्शिदाबाद जाकर पूरब भारत के राजनीतिक केन्द्र में पंहुच गये, जहां शासकों को अपने व्यवहार और अपनी सेवाओं से संतुष्ट कर उन्हें धन और यश कमाने का अपूर्व अवसर मिल गया। उनके और भाई जहां रहे, राजा या राजनीति से प्रायः अलग रहे, इसलिए उन्हें मानिकचन्द की-सी न तो आर्थिक सफलता प्राप्त हो सकी न लोक-ख्याति ।

बंगाल पर मुगल-वंश का आधिपत्य अकबर के समय में हुआ। जब वहां अमन-चैन कायम हो गया तब शासन-सम्बन्धी स्थायी व्यवस्था की ओर ध्यान दिया गया। प्रान्त में शान्ति-रक्षा के लिए जिम्मेवार नाजिम बनाया गया और राजस्व-सम्बन्धी प्रबन्ध के लिए दीवान। चौकीदार, कोतवाल, फौजदार आदि तो नाजिम के मातहत रहे और पटवारी, कानूनगो, आमिल आदि दीवान के। थोड़े में कहा जा सकता है कि तलवार तो नाजिम के हाथ में दे दी गई और कलम दीवान के। यों तो अपने क्षेत्र में दीवान नाजिम से स्वतंत्र था और उसका अनुशासन सीधे दिल्ली से हुआ करता था, पर तलवार और कलम के बीच उस समय प्रधानता तलवार की ही हो सकती थी। सिद्धान्त चाहे जो रहा हो, वस्तु-स्थिति यह थी कि दीवान को प्रायः नाजिम की ही इच्छा के अनुसार चलना पड़ता था और इधर जब से अजीमुश्शान बंगाल का नाजिम हुआ था तब से दीवान मिट्टी की मूर्त्ति-सा बन गया था और नाजिम ने आर्थिक क्षेत्र पर भी अपना अधिकार जमाना और राजस्व-सम्बन्धी मामलों में भी दस्तन्दाजी करना शुरू कर दिया था। यह बात अधिकारों को विभक्त रखने की मुगल-परम्परा और औरंगजेब की अपनी नीति के प्रतिकूल थी।

अजीमुश्शान परले सिरे का लोभी था। उसने अंगरेजों से कुल १६,००० रु० लेकर ही उन्हें सुतानुती, गोविन्दपुर और कलिकाता इन तीनों गांवों की जमींदारी दे दी थी। इन्हीं की समष्टि का नाम पीछे कलकत्ता पड़ा। ऐसे हस्तक्षेप से ही संतुष्ट न रह कर उसने व्यापार में भी हाथ लगाया। जो माल चटगांव बन्दरगाह में उतरता वह उसकी ओर से खरीद लिया जाता, जिसे 'सौदा-य-आम' कहते। फिर वही माल मुनाफे पर 'सौदा-य-खास' के नाम से व्यापारियों

को बेच दिया जाता। खरीद-बिक्री के दाम बहुत कुछ उसकी मर्जी पर मुनहसर होते। ज्योंही औरंगजेब को इसकी सूचना मिली उसने अपने स्वाभाविक ढंग से पोते को यह लिख कर तिरस्कृत किया कि "तेरा यह 'सौदा-य-खास' रिआया पर जुल्म है। मैं इसे 'सौदा-य-खाम' (कच्चा) कहूंगा। अपनी इस सौदागरी से तू अपने को 'सौदाई' (पागल) साबित कर रहा है।" अपनी नाराजगी जाहिर करने के लिए उसने अजीमुश्शान का मनसब भी घटा दिया। नाजिम फौरन व्यापार के क्षेत्र से अलग हो गया।

पर बंगाल में एक ऐसे दीवान की जरूरत थी। जिसकी रीढ़ मजबूत हो और जो नाजिम से ऐसी बातों में दबने वाला या उसकी हां में हां मिलाने वाला न हो। इसलिए औरंगजेब ने सन् १७०१ में कारतलब खां को, जिसका असली नाम मुहम्मद हादी था, दीवान के पद पर नियुक्त कर वहां भेजा। यही कारतलब खां बंगाल के इतिहास में मुर्शिदकुली खां के नाम से मशहूर हुआ।

कहा जाता है कि मुहम्मद हादी का जन्म किसी ब्राह्मण-कुल में हुआ था, पर बचपन में अनाथ होकर वह एक ईरानी व्यापारी के हाथ में पड़ गया और मुसलमान हो गया। फिर कुछ समय ईरान में बिता कर वह भारतवर्ष लौटा और यहां सरकारी कर्मचारी हो गया। तरक्की करते करते वह उड़ीसा का दीवान हुआ। औरंगजेब उसे अपना खैरख्वाह समझता था, इसलिए उसने उसे और भी ऊंचा पद देकर बंगाल का दीवान बना दिया।

कुछ समय से बंगाल सरकार की आर्थिक अवस्था असंतोषजनक हो रही थी। आय से व्यय का पूरा पड़ना कठिन हो रहा था। कर्मचारी या मनसबदार बंगाल में रहना पसन्द न करते। वहां की जलवायु

बदनाम थी। इसलिए प्रलोभन-स्वरूप उन्हें बड़ी बड़ी जागीरें दी जातीं। नतीजा यह हुआ कि खास महाल कम रह गये और बंगाल में बचत के बजाय टोटा रहने लगा। केन्द्र अर्थात् दिल्ली से सहायता मिले बिना प्रान्तीय सरकार का काम चलना असंभव हो गया। कारतलब खां ने पहुंचते ही पहला सुधार यह किया कि जागीरदारों की जो जमीन बंगाल में थी वह प्राय: ले ली और उसके बदले उन्हें उड़ीसा में उससे घटिया जमीन दे दी। फिर उसने माल या खिराज की उगाही और सरकारी खर्च कम करने की ओर ध्यान देना शुरू किया। कुछ ही समय में वहां खासी बचत होने लगी और 'भूखा' बंगाल[१] अब सम्राट् की दक्षिण की लड़ाइयों में उलझी हुई सेना के लिए प्रचुर परिमाण में आहार जुटाने लगा।

कारतलब खां द्वारा किये गये सुधारों का एक फल यह हुआ कि उसकी विभिन्न दलों से शत्रुता हो गई। स्वयं अजीमुश्शान आग में घी डालने का काम करने लगा। कुछ दुश्मनों ने एक दिन उस पर वार भी किया, पर वह खाली गया। दरबार में कारतलब खां ने अजीमुश्शान को इसके लिए दोषी बताया और नाजिम ने अपने को निर्दोष साबित करने के लिए अपने गुरगों को बुला कर भला-बुरा कहा भी, पर बात इससे बनने वाली न थी।

कारतलब खां पर वार करने वाले खास सम्राट् के सैनिक थे जो वेतन नकद पाने के कारण 'नकदी' कहाते थे। दीवान ने उन सबको बरखास्त तो कर दिया, पर आखिर एक म्यान में दो तलवारें कब तक रह सकती थीं? अपने मित्रों और शुभचिन्तकों से सलाह कर उसने यह निश्चय किया कि ढाका बंगाल की राजधानी भले ही रहे, पर

दीवानखाना यहां न रहेगा। यह निश्चय कर, वह नाजिम से दूर रहने के विचार से, अपना दफ्तर उठा कर मखसूदाबाद[२] ले गया।

शासन की दृष्टि से इस नगर की भौगोलिक स्थिति में बड़ी विशेषता यह थी कि यह बिहार या उड़ीसा से उतनी दूर न था जितनी कि ढाका। बंगाल पर आक्रमण का भय हो सकता था तो पश्चिम से ही। उस समय सकरी गली और तिलिया गढ़ी के बीच का रास्ता 'बंगाल का दरवाजा' कहा जाता था। यह राजमहल के पास था और इसकी रक्षा जितनी आसानी से मखसूदाबाद से हो सकती थी उतनी ढाके से नहीं। एक मुसलमान इतिहासकार ने लिखा है कि यह नगर 'आंख की पुतली' की तरह इस सारे प्रदेश के बीचोबीच था। कारतलब खां अभी बंगाल का नाजिम न बना था, पर ऐसे स्थान में दीवानखाना ले जाने में उसने दूरदर्शिता दिखाई थी, इसमें संदेह नहीं।

जब औरंगजेब को सारी हकीकत मालूम हुई तो उसने अजीमुश्शान को लिखा कि "तुम्हें याद रखना चाहिए कि कारतलब खां मेरा कर्मचारी है। अगर तूने उसे कुछ भी नुकसान पहुंचाया तो मैं तुझे इसका दंड दिये बिना न रहूँगा।" साथ ही उसने अजीमुश्शान को ढाका छोड़ कर पटने रहने का हुक्म दिया। इससे पहले अजीमुश्शान को बिहार की भी निजामत मिल चुकी थी। उसने ढाका छोड़ कर पटने या अजीमाबाद को अपना मुकाम वनाया। बंगाल में उसका बेटा फर्रुखसियर अपने बाप के प्रतिनिधि-स्वरूप रहने लगा।

दीवान के साथ मखसूदाबाद जाने वाले लोगों में मानिकचन्द प्रमुख थे। उनकी अजीमुश्शान के साथ खूब बनती आई थी। पर कारतलब खां को इससे किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं हुई। ढाके में ही

उसने उनके गुणों को अच्छी तरह पहचान लिया था। मानिकचन्द के गुणों का उपयोग राजस्द-विभाग में करने के विचार से उसने उनसे आग्रह किया कि आप भी अपना कार्य-क्षेत्र बदल दें। मानिकचन्द ने दूरदर्शी व्यवसायी होने के कारण यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। उनके विभव और अनुभव की उपयोगिता अर्थ के ही क्षेत्र में हो सकती थी, रण के क्षेत्र में नहीं। और जहां ऐसी उपयोगिता न हो सकती वहां उनकी उन्नति होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। बहुत संभव है कि राजस्द-विभाग से उनका ढाके में ही सम्बन्ध हो चला था। अब यह विभाग वहां से हट कर अन्यत्र जा रहा था। इसलिए भी उनका अपना यह सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वहां जाना जरूरी था। अगर वह ढाका न छोड़ते तो बहते हुए स्रोत के साथ आगे न बढ़ कर किनारे अपनी जगह पड़े या दलदल में फंसे रह जाते। फिर अजीमुश्शान ने इस पर कोई आपत्ति की हो ऐसा भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। बल्कि बाद घटने वाली घटनाओं से जान पड़ता है कि उसकी आंखें कभी फिरीं नहीं और जब वह अपने पिता बहादुर शाह के शासनकाल में काफी प्रभावशाली हो गया तब उसकी पृष्ठपोषकता से दिल्ली में भी मानिकचन्द कम लाभान्वित न हुए।

१७०४ में कारतलब खां सम्राट् से दक्षिण में जा मिला। हिसाब-किताब, बचत की रकम और उपहारादि सब साथ लेता गया था। औरंगजेब का कृपापात्र वह पहले से ही था, इस अवसर पर उसे मुर्शिदकुली खां की उपाधि मिली और वह बंगाल तथा उड़ीसा दोनों का नायब नाजिम भी बना दिया गया। नाजिम और दीवान के अधिकार एक ही आदमी के हाथों में रहने देना परंपरा और औरंगजेब की अपनी नीति के प्रतिकूल था। कुछ मुसलमान इतिहासकारों ने औरंगजेब

को इस व्यतिक्रम के लिए कोसा भी है। पर याद रखना चाहिए कि औरंगजेब अब प्राय: ८८ साल का हो चला था, उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियां अत्यन्त शिथिल हो गई थीं और इस समय आर्थिक संकट[3] से उसकी रक्षा करने वाला था तो यही मुर्शिदकुली खां, जिसकी सेवाओं के लिए, मरने से पहले, इस प्रकार का विशेष पुरस्कार दे जाना सम्राट् की दृष्टि में सर्वथा उचित था।

मुर्शिदकुली खां जमींदारों तथा अपने विभाग के कर्मचारियों के साथ बड़ी सख्ती से पेश आया करता। "रियाज" के लेखक का कहना है कि "नियत समय पर जब तक जमींदार, मुत्सद्दी, आमिल, कानूनगो तथा अन्य कर्मचारी अपना अपना हिसाब बेबाक न कर देते तब तक दीवानखाने से बाहर निकलने न पाते। खाने-पीने की कौन कहे, टट्टी-पेशाब की भी हाजत होने पर उन्हें हिरासत से छुटकारा न मिलता। चारों ओर जासूस यह देखते रहने के लिए तैनात रहते कि कहीं कोई सिपाही या पहरेदार किसी से कुछ लेकर किसी को बाहर तो निकलने नहीं देता। किसी किसी को तो बिना कुछ भी खाये-पिये हफ्तों उसी हाजत में रहना पड़ता। जो इस पर भी हिसाब चुकता न करते वे बल्लों से औंधे लटका दिये जाते। किसी के तलवे खुरदरे पत्थरों से रगड़े जाते तो किसी पर कोड़ों की मार पड़ती। दंड देने में दीवान जरा भी रहम या रिआयत करने वाला न था। अमानत में खयानत करने वाले हिन्दू कर्मचारियों से जब कुछ भी मिलने की आशा न रह जाती तब वे मुसलमान बना कर छोड़ दिये जाते।"

पर केवल ऐसी तीक्ष्ण दंड-नीति से ही काम चलना कठिन था। आर्थिक व्यवस्था के लिए कुछ और बातों की आवश्यकता थी, विशेषत: मानिकचन्द जैसे सेठ-साहूकार के सहयोग की, जो वसूली के पैसे

पैसे का हिसाब रक्खे, जो लाख-करोड़ पर भी कभी हाथ न मारे और जिसमें इतनी आर्थिक शक्ति हो कि दीवान को बदनामी से बचाने के लिए दूसरों का बोझ अपने सिर पर उठा ले।

दीवान मानिकचन्द को दो बड़े सरकारी काम सौंप चुका था, जिनमें एक का सम्बन्ध राजस्व की उगाही से था और दूसरे का टकसाल[४] के प्रबन्ध से। दोनों ही काम बड़ी जिम्मेवारी के थे और दोनों ही इस वंश के लिए बड़े लाभदायक सिद्ध हुए।

मखसूदाबाद या मुर्शिदाबाद में मानिकचन्द की कोठी, भागीरथी के तट पर, महिमापुर[५] नामक स्थान में थी। हर साल वहीं, चैत्र राम-नवमी को प्रान्त के विभिन्न भागों से आये हुए जमींदारों[६], पोतदारों और कारिन्दों का मेला-सा लगता। नियमानुसार जमींदारों को पिछले साल का बकाया चुका कर कुछ रकम नये साल के हिसाब में, बतौर पेशगी, जमा करानी पड़ती। जिन्हें फारखती मिल जाती वे तो सही-सलामत अपने घर लौटते। जिन्हें न मिलती, उन्हें और ही कहीं जाने के लिए तैयार हो जाना पड़ता। कभी कभी इन्हें हाजत की ओर न जाकर एक ऐसे बड़े हौज की ओर जाना पड़ता जो गलीज से भरपूर रहता और जिसे सरकारी कर्मचारी "बैकुंठ" कहा करते। हां, जिसकी साख अच्छी होती वह मानिकचन्द की कोठी से कर्ज लेकर अपना हिसाब चुकता कर सकता और इस "बैकुंठ" की यंत्रणा भोगने से या और दंड पाने से बच सकता था।

आय और व्यय का हिसाब हो जाने पर जो बचत रहती वह मुर्शिदाबाद से सम्राट् की सेवा में भेजी जाती। यह काम निर्विघ्न पूरा करने के लिए बड़ी तैयारियां करनी पड़ती थीं। सफर लम्बा होता, खजाना सिक्कों के रूप में छकड़ों पर भेजा जाता, सम्राट् तक

पहुंचने में महीनों लग जाते। "रियाज" के लेखक ने एक ऐसे अवसर का वर्णन करते हुए लिखा है—"साल तमाम होने पर, सिक्कों की जांच-पड़ताल और गिनती की गई, फिर आषाढ़ के महीने में मुर्शिद-कुली खां ने बंगाल का खजाना रवाना किया। रुपयों और अशर्फियों की थैलियां दो सौ छकड़ों पर लादी गई। उनकी रक्षा के लिए छः सौ घुड़सवार और पांच सौ पैदल साथ किये गये। जो रकम भेजी गई वह १ करोड़ ३ लाख रुपया थी। पर यह बचत खालसा विभाग की थी। जागीरों तथा अन्य मदों से होने वाली आय इसके अलावा थी। हर साल ऐसे अवसरों पर दीवान की ओर से तरह तरह के उपहार भी सम्राट् और विशिष्ट पदाधिकारियों को भेजे जाते। इनमें हाथी, टांगन, हिरन, भैंसे, जंगली जानवरों की खालें, सीतलपाटी चटाइयां, चमड़े के तरह तरह के सामान, सिलहट में बने हुए गंगाजली कपड़े की मसहरियां, हाथी-दाँत, कस्तूरी, बाजे और विदेशी व्यापारियों से प्राप्त यूरोप में बनी हुई वस्तुएं प्रधान होतीं। दीवान सदल-बल इन सब को शहर की हद तक पहुंचा कर लौट जाता और वाकयानवीस से यह बात उसके रोजनामचे में दर्ज करा देता। जब खजाना दूसरे सूबे में पहुंचता तब उसकी सारी जिम्मेवारी उसके सूबेदार पर जा पड़ती और उसे नये छकड़े तथा नये सवार और पैदल साथ जाने के लिए देने पड़ते। इसी तरह कई मंजिलों को तै कर खजाना सम्राट् के पास पहुंचता।"

तत्कालीन शासन-प्रणाली में इस बात की पूरी व्यवस्था थी कि एक पदाधिकारी पर दूसरे की रोक-टोक और नियंत्रण जरूर रहे। दीवान को अपने हिसाब-किताब पर प्रान्त के कानूनगो से सही भरानी पड़ती। बिना इसके दीवान का भेजा हुआ जमाखर्च ऊपर वालों को

मंजूर न हो सकता था। जिस समय की यह बात है उस समय बंगाल में दो कानूनगो थे—दरब (दर्प ?) नारायण और जयनारायण। कहते हैं कि दीवान के जमाखर्च पर सही भरने के लिए दरब नारायण ने तीन लाख रुपये मांगे। मुर्शिदकुली खां को दक्षिण जाना था। पर वह बिना कानूनगो से अपने हिसाब-किताब की तसदीक कराये प्रस्थान न कर सकता था। इसलिए उसने जयनारायण से तसदीक कराके अपना काम निकाल लिया। फिर बंगाल लौटने पर उसने दरब नारायण पर कुछ झूठे अभियोग लगा कर उसे कैद कर लिया और उसकी ऐसी दुर्दशा कराई कि वह कैदखाने ही में मर गया। फिर भी उसे इस बात की फिक्र थी कि सम्राट् का ऐसा खयाल न हो कि मुर्शिदकुली खां ने व्यक्तिगत कारणों से ही दरब नारायण के साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया था। इसलिए उसने खुद सिफारिश कर दरब नारायण के बेटे शिवनारायण को बाप की जगह दिला दी। इससे दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि शासन-पद्धति के अनुसार दीवान भी अनियंत्रित या निरंकुश न रह सकता था। दूसरी यह कि औरंगजेब की बड़ी इच्छा होते हुए भी राजस्व-विभाग का इस्लामीकरण न हो सका था।

जिस समय औरंगजेब ने अपने पिता के शासनकाल में, विद्रोही के रूप में, दिल्ली पर चढ़ाई की थी उस समय उसका अपना दीवान भगवानदास उर्फ दयानत राय था। केन्द्र में नायब दीवान के पद पर रघुनाथदास था। औरंगजेब के तख्त पर बैठने पर, रघुनाथदास साम्राज्य भर का दीवान बना दिया गया। बाद उसे राजा की उपाधि भी प्राप्त हुई। जब तक महाराज यशवन्त सिंह, राजा जयसिंह और राजा रघुनाथदास जीवित रहे, औरंगजेब की धर्मान्धता संकुचित-सी

बनी रही। पर एक-एक कर इनके संसार से बिदा होते ही उसका नग्न नृत्य आरम्भ हो गया। फिर किसी हिन्दू को किसी प्रकार का उच्च पद न मिला। राजस्व-विभाग में हिन्दुओं की प्रधानता औरंगजेब को बहुत अखरती थी। उसने हुक्म जारी किया कि उस विभाग से जहां तक संभव हो हिन्दू बहिष्कृत कर दिये जायं। कितने ही हिन्दू करोड़ी बरखास्त कर दिये गये। कितने ही करोड़ी तथा अन्य कर्मचारी मुसलमान बन गये। पर अन्त में औरंगजेब को विवश हो कर हिन्दुओं को उस विभाग से हटाने की अपनी यह नीति त्यागनी पड़ी। बात यह थी कि आर्थिक क्षेत्र में कार्य-संपादन के लिए जो गुण आवश्यक हैं उनसे सम्पन्न मुसलमानों का मिलना कठिन था। मुर्शिदकुली खां कहा करता कि हिन्दू कुछ गबन भी कर ले तो उसे डरा-धमका कर उससे पूरी रकम वसूल की जा सकती है, पर मुसलमान से पाला पड़ने पर आंशिक सफलता की भी आशा दुराशामात्र ही हो सकती है। एक और मुसलमान शासक ने कभी कहा था कि मुसलमान चलनी के समान हैं जिसमें पानी की एक बूंद भी नहीं ठहर सकती, पर हिन्दू इस्पंज हैं जिससे जब चाहो निचोड़ कर पानी निकाल सकते हो। यही कारण है कि जहां रुपये-पैसे से सम्बन्ध होता वहां विशेषतः हिन्दू ही नियुक्त किये जाते थे। सरलश्कर, फौजदार, कोतवाल, थानेदार जैसे पदों से हिन्दू प्रायः दूर रखे जाते, पर दीवान, खजानची, कानूनगो, मजमुआदार (मजुमदार), शिकदार (सिकदर), कारकून, पटवारी जैसे पदों की जिम्मेवारी प्रायः उन्हीं को सौंपी जाती थी।

टोडरमल के समय से राजस्व-विभाग में भी सारी लिखा-पढ़ी फारसी में होने लगी थी। पर यह परिवर्तन हिन्दुओं की नियुक्ति के मार्ग में किसी प्रकार का बाधक नहीं हुआ था। बल्कि हिन्दू-समाज

के कुछ खास स्तरोंमें फारसी का ऐसा प्रचार हुआ था कि "आईने अक-बरी" के अंगरेजी अनुवादक और संपादक मि० ब्लाकमैन के शब्दों में, अठारहवीं सदी बीतते बीतते हिन्दू मुसलमानों के उस्ताद बन गये थे और उन्हें फारसी लिखाने-पढ़ाने का काम प्रायः वही करने लगे थे। उधर मुसलमानों का झुकाव विशेषतः सैनिक-वृत्ति की ओर रहता था। तह की बात यह थी कि हिन्दुओं की स्वतंत्रता हरने वाले मुसलमान यथासंभव उन्हें अपंग बनाये रखना चाहते थे। हिन्दुओं के कंधों पर सरकारी सेना में किसी प्रकार की बड़ी जिम्मेवारी सौंपना उनकी नीति के प्रतिकूल था। इक्के दुक्के सम्राटों को छोड़ कर बाकी सबकी नीति यही रही कि जहां तक हो सके हिन्दू सेना-विभाग से अलग ही रखे जायं। हां, जहां कागजी घोड़े दौड़ाने की जरूरत पड़ती वहां उनका उपयोग अवश्य किया जाता। लिखने-पढ़ने के काम में हिन्दू अपना सानी रखने वाले न थे और यह प्रयोजन उनके हाथों सिद्ध कराने में, मुसलमान शासकों की दृष्टि से, किसी तरह का खतरा तो था ही नहीं, लाभ ही लाभ था।

हम ऊपर कह आये हैं कि मुर्शिदकुली खां ने टकसाल का काम भी मानिकचन्द को ही सौंप दिया था। उन्हें एक प्रकार से इसका इजारा मिल गया था। उनके लिए सिक्कों की ढलवाई कम से कम रक्खी गई थी। उस समय पुराने सिक्कों पर छीजन के लिए बट्टा कटता था। सिक्के की ढलाई के साल के और लेन-देन के स्थान के अनुसार बट्टा प्रायः उसी दर पर निर्भर करता जो मानिकचन्द की कोठी से समय समय पर निश्चित हुआ करती। चांदी उन दिनों भी बाहर से आया करती और बंगाल में उसके सब से बड़े खरीदार मानिकचन्द ही थे।

मुर्शिदकुली खां के समय में, जिस रुपये का बंगाल में चलन था वह 'सिक्का' कहा जाता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी की मद्रास में अपनी टकसाल थी और उसके ढले हुए सिक्के मद्रासी या 'आरकाटी' कहे जाते थे। जो रुपया प्रचलित या राइज माना जाता वह काल्पनिक था और इन तीनों रुपयों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः यह था—८६ 'सिक्के' = १०० प्रचलित = ९२ आरकाटी। पर इस पारस्परिक विनिमय-मूल्य में कई कारणों से घटा-बढ़ी हो सकती थी।

ईस्ट इंडिया कंपनी बाहर से चांदी[७] लाकर यहां बेचती थी। उसका सब से अधिक उपयोग सिक्कों की ढलाई में होता था और बंगाल में चांदी बेचने की दृष्टि से परिस्थिति कंपनी के उतनी अनुकूल न थी जितनी कि वह चाहती थी। अव्वल तो उसकी मांग यह थी कि वहां भी उसे अपनी टकसाल खोलने की इजाजत दी जाय। यह मिलने वाली न थी। उसकी दूसरी मांग यह थी कि वह मुर्शिदाबाद की टकसाल में अपनी चांदी के सिक्के करा सके। इसके लिए उसे ढलवाई मानिकचन्द की अपेक्षा कहीं ऊंची देनी पड़ती और वह इतनी ऊंची दर देने के लिए तैयार न थी। उसकी तीसरी मांग यह थी कि आरकाटी रुपयों पर बंगाल में किसी प्रकार का बट्टा न कटे। पर आर्थिक परम्परा या पद्धति इसके प्रतिकूल थी और यह अपवाद चल न सका। कंपनी और मुर्शिदाबाद-दरबार के बीच टकसाल-सम्बन्धी वाद-विवाद बना ही रहा और कंपनी सारे फसाद की जड़ मानिक-चन्द या उनके घराने को ही मानती रही। इस झगड़े का अन्त तभी हुआ जब बरसों बाद कंपनी का बंगाल पर आधिपत्य हो चला और मुर्शिदाबाद में टकसाल ही न रही।

कंपनी अपनी मद्रास की टकसाल में ८९।। औंस अर्थात २३७।। तोले चांदी के प्राय: २१८ आरकाटी* रुपये ढला सकती थी। ढलाई में खर्च प्राय: २ प्रतिशत के हिसाब से बैठता। यह काट कर उसे उतने रुपये मिल जाते। कंपनी का कहना था कि उतनी चांदी के बंगाल में भी २२० नहीं तो २१९ 'सिक्के' अवश्य मिलने चाहिए। पर अगर वह उतनी चांदी बंगाल में ले जाकर बेचती तो उसे २०९ सिक्कों से अधिक न मिलता। और अगर वह उसे बेचने के बजाय टकसाल में ले जाकर उस चांदी के 'सिक्के' कराती तो उसे खर्च कटने के बाद कुल २१२ सिक्के हाथ लगते। औरंगजेब के मरने से पहले मद्रासी या आरकाटी रुपयों की कीमत कुछ ऊंची थी। बंगाल के रुपये राइज के मुकाबले, कीमत में ९ प्रतिशत ऊंचे माने जाते थे। उस समय आरकाटी रुपये भी राजस्व के रूप में बंगाल से दाक्षिणात्य भेजे जा सकते थे। पर औरंगजेब के मरते ही परिस्थिति बदल गई। राजस्व का स्रोत फिर दिल्ली की ओर बहने लगा—बंगाल में आरकाटी रुपयों की पहले की तरह न मांग रही न कीमत। जहां पहले १०० आरकाटी रुपये = १०९ बंगाल के रुपये राइज, यह भाव या निर्ख था, वहां अब यह भाव या निर्ख हो चला १०० आरकाटी = १०७ बंगाल के 'रुपये' ('सिक्के' नहीं)। ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टर या संचालक कभी यह मानने को तैयार न हुए कि मांग कम हो जाने पर उनके मद्रासी या आरकाटी रुपयों का मूल्य घट जाना स्वाभाविक था। वे यह कहते ही रहे कि इसकी तह में किसी न किसी की कारसाजी या दगाबाजी थी।

---

* विल्सन, भाग १, पृष्ठ ३७६।

मानिकचन्द और कंपनी के सम्बन्ध का सूत्रपात कब हुआ, यह कहना कठिन है। निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि यह १७०६ से पहले हो चुका था।

१७०४ में कंपनी को नई सनद हासिल करने के लिए अपने वकील को मुर्शिदकुली खां के पास भेजना पड़ा। इसका नाम राजाराम था। कंपनी पेशकश के तौर पर वही ३,००० रुपये देना चाहती थी। दीवान की मांग ३०,००० रुपये की थी। और शर्त्त यह थी कि यह सब का सब नकद मिलना चाहिए। राजाराम की वकालत का दीवान पर कुछ भी असर न पड़ा। कंपनी ने निरुपाय होकर ३०,००० रुपये देना तो मंजूर कर लिया, पर रुपये न भेजे। जान पड़ता है कि इस सम्बन्ध में कंपनी मानिकचन्द का भी दरवाजा खटखटा चुकी थी। कलकत्ते में कंपनी की जो प्रबन्धकारिणी-समिति या कौंसिल थी, वह अपने १८ जुलाई १७०६ के लेखे में लिखती है—

"मानिकचन्द सूचित करते हैं कि दीवान ने अपने पटने के नायब को लिखा है कि कंपनी को पहले ही की तरह अपना कारबार करने दो। दीवान ने यह भी आश्वासन दिया है कि अगर कंपनी ने ३०,००० रुपये पेशकश दे दिये तो उसे बंगाल में निःशुल्क व्यापार करने की सनद मिल जायगी।"

कासिमबाजार की फैक्टरी कुछ समय से बन्द पड़ी थी। वहां कंपनी की ओर से विशेषतः रेशम की खरीदारी हुआ करती थी। मानिकचन्द का पत्र मिलने पर कौन्सिल ने निश्चय किया कि नवाब की मांग पूरी कर कासिमबाजार में कामकाज फिर से जारी किया जाय। इधर मानिकचन्द के सिफारिश करने पर दीवान ने अपनी मांग

में ५,००० रुपये की कमी कर दी। कंपनी की ओर से एक प्रतिनिधि मामला निबटाने के लिए कासिमबाजार भेजा गया। उसने लिखा कि दीवान पहले रुपये लेगा, फिर सनद देगा। कौंसिल को यह मंजूर न था। उसने अपने प्रतिनिधि को आदेश दिया कि एक हाथ से सनद लेना, दूसरे से रुपये देना। इसी समय औरंगजेब की मृत्यु का समाचार मिला। बात जहां की तहां रह गई। न रुपये दिये गये, न सनद ली गई। अपने प्रतिनिधि को कौंसिल ने कलकत्ते वापस बुला लिया।

कंपनी ने शायद खयाल किया हो कि औरंगजेब के मरने पर मुर्शिदकुली खां को बंगाल की निजामत से हाथ धोना पड़े और नये दीवान के साथ उसे नया सौदा करने का मौका मिल जाय। पर उसके दुर्भाग्य से ऐसी कोई क्रान्ति हुई नहीं। मुर्शिदकुली खां बहादुर शाह के समय में भी पूर्ववत् दीवान बना रहा। मुश्किल यह हुई कि जहां वह पहले ३०,००० रुपये मांगता था, वहां अब ६०,००० रुपये मांगने लगा। कंपनी ने अपने कासिमबाजार के प्रधान की मार्फत फिर बातचीत शुरू की। जब नवाब को टस से मस होते न देखा तो कहलाया कि हम यहां होकर किसी भी हिन्दुस्तानी व्यापारी की नाव या जहाज को गुजरने न देंगे। एक ओर यह धमकी दी गई, दूसरी ओर किसी फतहचन्द साह* के साथ यह तै किया गया कि कासिमबाजार में हमें जो माल खरीदना है उसे आप सवा छः रुपया सैकड़ा आढ़त पर खरीद कर कलकत्ते पहुंचा देंगे। यह समझौता ही रहा। कंपनी को फिर वही पुराना प्रसंग छेड़ना पड़ा। दीवान ने ६०,००० रुपये में से ७,५०० रुपये

---

* मानिकचन्द का भांजा इस काम में पड़ने का दुस्साहस नहीं कर सकता था।

कम कर दिये और ५२,५०० रुपये लेकर मुर्शिदाबाद से दिल्ली तक मामला निबटा देना मंजूर कर लिया। शर्त्त यह थी कि ज्यों ही वह सनद दे दे त्यों ही उसे ३०,००० रुपये मिल जायँ और बाकी २२,५०० रुपये तब मिलें जब वह बहादुर शाह से फरमान मंगा दे। कंपनी और भी छूट कराने की कोशिश करती, मगर नवाब का रुख देख कर उसे मोलचाल करने का साहस नहीं हुआ। नवाब की मांग पूरी कर उसने नई सनद ले ली और दिल्ली से भी इसकी बरकरारी का फरमान आ गया।

कंपनी के अंगरेज कर्मचारियों में से कुछ मानिकचन्द की कोठी से भी लेनदेन का व्यवहार करने लगे थे। इन्हीं में एक चिट्टी था। यह कंपनी का बख्शी था, पर मालिक की भी कुछ रकम गबन कर चुका था। उधर मानिकचन्द तथा कुछ अन्य व्यवसायियों का भी यह ऋणी था। कंपनी ने उसकी जायदाद जब्त कराके अपनी रकम वसूल कर ली और उसे इंगलैण्ड भेज देना निश्चित कर लिया। पर वह जानती थी कि जब तक कम से कम मानिकचन्द की रकम वसूल नहीं हो जाती, चिट्टी जहाज पर पैर नहीं धर सकता। मानिकचन्द ने ७,००० रुपये लेकर उसे उऋण कर देने की स्वीकृति दे दी। उन्हें इतना मिल जाने पर ही चिट्टी १७१३ में कलकत्ते से इंगलैण्ड रवाना हो सका। औरों का पावना प्रायः डूब कर ही रहा।

अजीमुश्शान बंगाल, बिहार और उड़ीसा का नाजिम तो था ही, बहादुर शाह के सम्राट् होने पर उसे इलाहाबाद की भी निजामत मिल गई थी। बंगाल और उड़ीसा का नायब नाजिम मुर्शिदकुली खां था। यह पद उसे औरंगजेब-द्वारा ही मिल चुका था। जब अजीमुश्शान

अपने बाप की नाक का बाल हो चला तब बिहार और इलाहाबाद के लिए भी नायब नाजिम नियुक्त करने की आवश्यकता हुई। बहादुर शाह ने बिहार में नायब नाजिम हुसैनअली खां को बनाया और इलाहाबाद में उसके बड़े भाई सैयद अब्दुल्ला खां को। यही भारत के इतिहास में "सैयद-बन्धु" के नाम से प्रसिद्ध हुए। कुछ ही समय बाद ये दोनों भाई, इस देश के राजनीतिक रंगमंच पर, सम्राट्-रूपी मूर्त्तियों को तोड़ने और गढ़नेवालों के रूप में आने वाले थे।

बहादुर शाह ६५ साल की उम्र में आगरे के पास तख्तनशीन हुआ था। उसके बाद उसे दिल्ली जाने या कहीं महल में रहने का मौका ही न मिला। बराबर दौरे पर ही रहा। अपने शासन-काल के पांचवें बरस में वह सिक्खों के दमन के उद्देश से पंजाब गया। वहीं लाहौर के पास रावी नदी के किनारे उसकी मृत्यु हो गई। मरने से पहले वह पागल-सा हो गया था और एक दिन कुत्तों के कत्ले-आम का हुक्म जारी कर दिया था। अजीमुश्शान अपने बाप के साथ था। उसके और भाइयों के पड़ाव भी आस ही पास थे। पर वह बड़ा दीर्घसूत्री था। बहादुर शाह का सेनापति जुल्फिकार* खां उसके भाइयों से मिल गया था। अगर बाप के मरते ही वह जुल्फिकार को गिरफ्तार कर लेता और अपने भाइयों पर टूट पड़ता तो भारत का सम्राट् वह होता, न कि उसका भाई मुइजुद्दीन जो जहांदार शाह के नाम से तख्त पर बैठा। अजीमुश्शान रावी के तट पर होने वाली लड़ाई में—जिसमें उसके तीनों भाई उसके विरुद्ध थे—लड़ा वीरतापूर्वक, पर तब जब उस वीरता से कुछ भी बनने वाला न था। उसकी ढिलाई, सुस्ती,

* औरंगजेब के मशहूर वजीर असद खां का बेटा।

आज-कल करने की आदत से तंग आकर और पस्त-हिम्मत होकर बड़े बड़े सरदार, अपने सैनिकों के साथ मैदान छोड़ कर, अपने अपने घर सिधार चुके थे। जहां आरंभ में उसकी ओर सत्तर हजार सैनिक थे वहां लड़ाई के अन्तिम दिन उसका साथ देने वाले सत्तर भी न रह गये थे। जिस हाथी पर वह सवार था उसको अचानक एक गोला जा लगा और चोट-चपेट ने उसकी यह हालत कर दी कि फीलवान तो नीचे जा पड़ा और दूसरों के लाख रोकने पर भी हाथी न रुका। अजीमुश्शान को अपनी पीठ पर लिये रावी नदी में जा गिरा। बहुत तलाश करने पर भी उसके सवार की लाश का कहीं पता न चला। बंगाल-बिहार में बरसों निजामत करके उसने जो धन बटोरा था वह उसके साथ था। बहादुरशाह के साथ रहने के कारण उसके पक्ष-पातियों की कमी न थी। पर समयोचित कार्य न कर सकने के कारण उसे इन सब से हाथ धोना पड़ा और दिल्लीश्वर के पद से भी वंचित होना पड़ा।

जहांदार शाह ने अपना मार्ग निष्कंटक करने के काम में हाथ लगाया। खोजिस्ता अख्तर और रफीउलकद्र इन दो भाइयों को पहले तो उसने अपनी ओर मिला लिया था पर ये दोनों भी एक एक कर के मौत के घाट उतारे गये। अजीमुश्शान के बड़े बेटे करीमुद्दीन की भी यही दशा हुई। बहादुर शाह के भाई आजम शाह तथा कामबख्श के बेटों को कठोर से कठोर कारादंड मिला। पुरस्कृत होने वालों में प्रधान था जुल्फिकार खां जिसे वजीर का पद प्रदान किया गया। लालकुंवर* नाम की एक मुसलमानिन वेश्या या गायिका पर वह लट्टू

* कहा गया है कि यह तानसेन के वंश में थी।

हो चुका था। उसे अब 'इम्तियाज महल बेगम' की उपाधि मिली और उसके रिश्तेदारों का बोलबाला हो चला। जो कलावंत कहाते थे और गाने-बजाने का काम किया करते थे वे मनसबदार बन बैठे। फिर लालकुंवर के भाई को सूबेदार कहाने का हौसला हुआ। इच्छा प्रकट करते ही सम्राट् से इसकी स्वीकृति मिल गई और वह आगरे का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। पर जब नियुक्ति-पत्र वजीर के पास पहुंचा तब उसकी सहनशीलता जाती रही और उस पत्र पर मोहर लगाने से पहले उसने लालकुंवर के भाई से अपनी दस्तूरी तलब की। रुपया-पैसा न मांग कर उसने कहा कि दस्तूरी के रूप में मुझे पांच हजार सितार और सात हजार तबले* मिलने चाहिए। जब लालकुंवर ने बादशाह से इसकी फर्याद की तो जहांदार शाह ने जुल्फिकार खां को बुलवाया और इस मामले का जिक्र कर कहा कि यह मजाक खूब ही रहा। वजीर ने जवाब दिया—"जहांपनाह! यह मजाक न था, मैंने जो कुछ कहा वह संजीदगी से, खूब सोच-विचार कर। जब हुकूमत का काम गाने-बजाने वालों के सिपुर्द किया जा रहा है तब पुराने सरदार या उमरा आखिर करेंगे क्या? उनके रोटी-दाल चलने का भी तो कोई रास्ता होना चाहिए। मैंने यह तरकीब सोच निकाली है कि जिन लोगों से सल्तनत के इन्तजाम का पुश्तैनी पेशा छीना जा रहा है उन्हें खाने-कमाने के लिए सितार और तबले दे दिये जायं। उनके हक में बेकारी से 'ता-ना री-री' कहीं अच्छी साबित होगी।" वजीर ने ऐसी लगती-चुभती बात कही थी कि लालकुंवर के लाख मचलने पर भी उसका भाई सूबेदार न हो सका।

---

* "मुताखरीन"।

जहांदार शाह को अब रंग में भंग की कुछ आशंका रह गई थी तो अजीमुश्शान के दूसरे लड़के फर्रुखसियर से। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वह बंगाल में रहता था। दिल्ली से मुर्शिदकुली खां और हुसैन अली खां दोनों के नाम परवाने भेजे गये कि फर्रुखसियर को जहां पाओ गिरफ्तार कर फौरन दिल्ली भेज दो। उधर लाहौर और दिल्ली से मिलने वाले समाचारों ने उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया था। कभी सोचता था कि आत्महत्या कर लूं, कभी यह कि कलकत्ते पहुंच कर समुद्र की राह कहीं भाग जाऊं। पर उसकी मां बड़ी हिम्मत वाली औरत* थी। उसने कहा कि "बेटा! समुद्र की परीक्षा करनी ही है तो वह समुद्र पानी का न होकर लड़ाई के मैदान का हो। उसी तू ानी समुद्र में अपनी किश्ती चलने दे। खुदा की मेहरबानी होगी तो तेरी किश्ती पार लग जायगी। जिन्दगी आखिर है क्या? यह चन्द दिनों का खेल है, फिर दांव लगा कर खेलने से डरता क्यों है?" फर्रुखसियर राजमहल में सपरिवार रहता था, पर वहाँ से इधर पटने आ गया था। वहीं उसको पिता की मृत्यु का समाचार मिला। उसको आशा थी कि हुसैन अली खां ऐसे गाढ़े दिन में उसकी कुछ मदद जरूर करेगा। पर हुसैन अली खां ने कोरा जवाब दे दिया और यह भी कहलाया कि मैं आप को गिरफ्तार नहीं करता, यही मेरी बड़ी मदद समझिए। पर फर्रुखसियर की मां इससे निराश होने वाली न थी। उसने ऐसी युक्ति रची कि हुसैन अली खां को फर्रुखसियर के पड़ाव पर जाना ही पड़ा। फिर तो वहां उसके सामने ऐसा नाटक खेला गया कि वह बात की बात में द्रवीभूत हो गया। नाटक का आरम्भ फर्रुखसियर द्वारा अनुनय-विनय से हुआ। उसने अपनी दयनीय दशा का चित्र

---

* यह काश्मीर की रहने वाली थी और इसका नाम सेवुन्निसा था।

खींचते हुए हुसैन अली खां से दया की भिक्षा मांगी। ज्यों ही उसने अपना वक्तव्य पूरा किया, पर्दे की ओट औरतें सिसकने और रोने-पीटने लगीं। अन्त में फर्रुखसियर की सब से छोटी लड़की बाहर निकली और हुसैन अली खां की गोद में जा बैठी। अपना सिखाया-पढ़ाया हुआ 'पार्ट' इस खूबी से अदा किया कि हुसैन अली खां की भी आंखें आंसुओं से तर हुए बिना न रह सकीं और उसने उसी दम फर्रुखसियर का पक्ष अपना लिया। उसकी सलाह से फर्रुखसियर ने पटने में ही अपने आप को भारत का सम्राट् घोषित किया* और युद्ध का डंका बजा कर, हुसैन अली खां विजय की प्राप्ति के लिए काफी बड़े पैमाने पर धन-जन जुटाने में पिल पड़ा। उसके भाई अब्दुल्ला खां ने यह नाटक नहीं देखा था। इसलिए वह फर्रुखसियर की ओर से लड़ने के प्रस्ताव का विरोध करता गया। पर अन्त में वह अपने भाई के आग्रह को टाल न सका या यों कहा जाय कि फर्रुखसियर की मां का जादू उस पर भी चले बिना न रह सका।

आर्थिक समस्या हल करने के लिए हुसैन अली खां ने शहर के सेठ-साहूकारों को बुलवाया और उनसे कहा कि, "आप लोग इस अवसर पर अपनी अपनी हैसियत के मुताबिक सम्राट् की सहायता कीजिए। यह सहायता कर्ज समझी जायगी। जो रकम आप देंगे वह सम्राट् के विजयी होने पर आप को लौटा दी जायगी। इस समय आप को ऐसी रसीदें दे दी जायंगी जिन पर सम्राट् के हस्ताक्षर होंगे।"

पर चन्दा जैसे आजकल दबाव से वसूल होता है वैसे ही उन दिनों भी होता रहा होगा। १३ अप्रैल १७१२ को कौंसिल को पटने से

---

* यह 'अफजल खां के बाग में' सम्राट् घोषित हुआ था।

फरुंखसियर क सम्राट् होने की सूचना मिली। पत्र में यह भी लिखा था कि, "डर है कि इस मौके पर पेशकश नजर करने के लिए हम लोगों की भी बुलाहट होगी। खबर मिली है कि डच और अंगरेज दोनों कंपनियों से चार-पांच लाख तक वसूल किया जायगा। कुछ समय से अपनी फैक्टरियों पर सिपाहियों और चोबदारों का पहरा है। बिना कुछ दिये छुटकारा नहीं होने का। पर हमारी कोशिश यह जरूर होगी कि हम सस्ते छूट जायं। हां, अगर जहांदार शाह का बेटा अपनी सेना के साथ यहां आ धमका तो दोनों ओर से लूटमार होकर ही रहेगी और हमें यह शहर छोड़ देना होगा। पटने में रहना हमारे लिए निरापद नहीं हो सकता।"

२६ अप्रैल को पटने के कर्मचारियों ने कौंसिल को लिखा कि, "१९ ता० को राय कृपानाथ ने कहलाया कि फर्रुखसियर की इच्छा इस नगर के सभी धनी लोगों से मोटी रकम ऐंठने की है। इनकी एक सूची तैयार हो चुकी है। सब से पहला नाम ईस्ट इंडिया कंपनी का है, दूसरा है डच कंपनी का, फिर और सराफों और साहूकारों के नाम आते हैं। कृपानाथ की सलाह है कि हम अपनी रक्षा के लिए जो मुनासिब समझें करें —हम लोगों ने आपस में सलाह-मशविरा किया और अपने वकील की भी सलाह ली। यह तै हुआ कि हम अपनी फर्याद नवाब हुसैन अली खां के कानों तक पहुंचावें और उनसे कह दें कि अगर उसकी सुनवाई नहीं हुई तो हम यह शहर छोड़ देंगे।"

इसके बाद वकील जाकर नवाब से मिला और कंपनी की अर्जदाश्त दाखिल की। नवाब ने आश्वासन दिया कि कंपनी मेरा भरोसा रखे, जब मैं दरबार में जाऊंगा तब सब बातें ठीक करा दूंगा। वकील

मेहता हृदयराम से मिला और कंपनी की ओर से नवाब तथा अन्य पदाधिकारियों के लिए सब मिलाकर २५०० रुपये नजर पेश किये। हृदयराम ने कहा कि जो काम कराना है उसको देखते हुए रकम तो बहुत छोटी है, पर मुझसे जो कुछ बन सकेगा कंपनी की ओर से जरूर करूंगा, यह आप विश्वास रखिए। अन्त में नवाब की सिफारिश का नतीजा यह हुआ कि फर्रुखसियर ने कर्मचारियों को आदेश दे दिया कि कोई कंपनी के साथ नाजायज तौर से पेश न आवे और उसे डरा-धमका या सता कर उससे कुछ भी वसूल न करे। इस बीच मुर्शिदकुली खां के होश की दवा करने के लिए कई उपाय सोचे जा चुके थे। पटने में रोज नई अफवाह उड़ती थी। कभी कहा जाता कि खुद हुसैन अली खां मुर्शिदाबाद भेजे जायंगे, कभी यह कि उनकी जगह मिर्जा मुहम्मद रजा और मिर्जा जाफर। चाहे जो भेजे गये हों, किसी से कुछ न बन पड़ा। फर्रुखसियर की एक सेना जब हार खा चुकी तो दूसरी 'मुर्शिदकुली खां का खजाना या उसका सर' ले आने के लिए भेजी गई और कौंसिल को एक फरमान और हस्बुलहुक्म द्वारा यह आदेश भेजा गया कि मुर्शिदकुली खां अगर भाग कर कलकत्ते पहुंचे तो तुम उसे सारी संपत्ति के साथ गिरफ्तार कर लेना। कौंसिल ने यह सोच कर कि ऐसे हुक्म के जवाब में कुछ भी लिखना खतरनाक है, बात थोड़े समय के लिए टाल दी। मुर्शिदकुली खां के विरुद्ध जो दूसरे सरदार भेजे गये उन्हें मुर्शिदाबाद पहुंचने से पहले ही हतोत्साह होकर पटने लौट जाना पड़ा।

कुछ दिन बाद कौंसिल ने सोच-विचार कर पटने के कर्मचारियों को यह लिखना निश्चित किया कि, "जो कुछ माल खरीदा जा चुका है उसे तो नावों के जरिए यहां भेज दो और जितने रुपये की जरूरत

हो हुंडियां करके बाजार से लो। ऐसे समय में और माल खरीदने की जरूरत नहीं। जो फरमान और हस्बुलहुक्म आये हैं उनका जवाब फारसी में देना होगा। संभव है, वह रास्ते में दीवान के हाथ लग जाय और हमारे मालिकों के लिए इसका नतीजा बहुत ही बुरा हो। इसलिए पटने वालों को यही लिख दिया जाय कि तुम उनकी पहुंच स्वीकार कर कंपनी की ओर से यह उत्तर दे दो कि 'श्रीमान् की आज्ञा शिरोधार्य है। अगर श्रीमान् का कोई भी शत्रु इधर होकर भागने की चेष्टा करेगा तो हम उसे आप के आज्ञानुसार यथाशक्ति रोके बिना न रहेंगे।"

जुलाई १७१२ में कौंसिल को समाचार मिला कि पटने में डच फैक्टरी के प्रधान मि० जेकब वान हूर्न की मृत्यु हो जाने पर फर्रुखसियर ने उसकी सारी संपत्ति यह कह कर जब्त करा ली थी कि वह लावारिस था और लावारिसी माल कानून के मुताबिक बादशाह का है। पटने वालों ने कौंसिल को लिखा कि "डच के साथ जो अन्याय हुआ है उससे हमें आशंका हो रही है कि कहीं हमारी भी एक दिन यही दशा न हो। पर नवाब की हम लोगों पर दयादृष्टि रहती आई है और बादशाह पर नवाब की बातों का प्रभाव भी पड़ता है—अंधकार में आशा की एक किरण दिखाई देती है तो यही। हम लोगों का यही प्रयत्न रहता है कि सभी पदाधिकारियों को खुश रखें। मीठी बातें अधिक से अधिक करना और रुपया-पैसा कम से कम देना यही हमारी नीति है।" सितम्बर में कौंसिल को खबर मिली कि:—

"फर्रुखसियर को सैनिकों का वेतन चुकाने के लिए २८ लाख रुपये की जरूरत थी। सैनिक अधीर होने लगे थे। इसलिए उसने अपने पास से एक लाख अशर्फियां दीं और चार लाख की चांदी,

जिसके सिक्के ढाले गये। साथ ही उसने नवाब (हुसैन अली खां) से कहा कि मेरा इरादा अब धनिकों को लूटने का है, उसमें से चौथाई भाग आप का होगा। नवाब को यह बुरा लगा और उसने अपनी सेना के साथ इलाहाबाद जाने की इजाजत मांगी, पर उसे अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला है। उधर पटने के अधिकांश धनिक नगर का परित्याग कर अन्यत्र चले गये हैं।''

कंपनी के भी कर्मचारी पटने से गंगा के उत्तर लालगंज सिंघिया चले गये थे। पर हुसैन अली खां अपनी बात का पक्का था। उसने कंपनी की किसी प्रकार की हानि न होने दी। हाजीपुर, सरैसा और बिसारा परगनों के आमिल शुक्रुल्ला खां के नाम एक हस्बुलहुक्म भेज कर उसने उसे आदेश दिया कि कंपनी के कर्मचारियों को समझा-बुझा कर पटने लौटा लाओ। पटने में उस समय रुपये की बड़ी टान थी। सिंधिया से कर्मचारियों ने कौंसिल को लिखा कि कई कारणों से इस समय कलकत्ते माल भेजना युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। पर साथ ही उन्होंने यह सूचित किया कि नवाब पटने में लोगों के जान-माल की हिफाजत की ओर पूरा ध्यान दे रहा है और हम लोगों की फैक्टरी पर भी उसने अपनी ओर से पहरा बैठा दिया है। कंपनी कृतज्ञता-ज्ञापन-स्वरूप ६,५०० रुपये उसको और उसके अधिकारियों की नजर कर चुकी थी।

फर्रुखसियर ने कई बार पटने को निचोड़ने की कोशिश की, पर हुसैन अली खां की दया से नागरिक बचते गये। अन्त में उसे मजबूर होकर स्वयं इस काम में हाथ डालना पड़ा। जितने सेठ-साहूकार, जमींदार या अन्य संपत्तिशाली व्यक्ति थे सब को अपनी अपनी क्षमता के अनुसार, चन्दा देना ही पड़ा। डच कंपनी से दो लाख वसूल किये

गये। ईस्ट इंडिया कंपनी से भी उतना ही मांगा गया, पर हुसैन अली खां की मेहरबानी से उसे २२,००० रुपये से अधिक न देना पड़ा।

बंगाल का खजाना हर साल बरसात में दिल्ली भेजा जाता। इस साल जब वह इलाहाबाद पहुंचा तब हुसैन अली खां के लिखने पर उसके भाई ने उसे स्वायत्त कर लिया। सारी रकम एक करोड़ के करीब थी। अब्दुल्ला खां उस समय तंगदस्त था और अपने सैनिकों का वेतन चुकाने में असमर्थ था। अनायास इतनी बड़ी रकम हाथ लग जाने से उसका अर्थ-संकट दूर हो गया। इसका कुछ हिस्सा फर्रुखसियर को भी सैनिक यय के लिए मिला*। कुछ ही समय बाद वह हुसैन अली खां के साथ इलाहाबाद पहुंच गया और गंगा-यमुना के संगम की तरह दोनों सैयद-बन्धुओं की सेनाओं का संगम हो जाने से फर्रुखसियर के पक्ष में आशातीत बल आ गया।

छोटी-मोटी लड़ाइयों के बाद आगरे के पास दोनों दलों के बीच महायुद्ध हुआ। इसमें जहांदार शाह को पीठ दिखानी पड़ी और मूंछ-दाढ़ी मुड़ा कर हिन्दू के वेष में लालकुंवर के साथ दिल्ली भागना पड़ा। वहां किले में न जाकर वह सीधे जुल्फिकार खां के घर गया। वह भी मैदान छोड़ कर वहीं आ पहुंचा। इसकी तो इच्छा थी कि जहांदार शाह को काबुल, मुल्तान या दक्खिन की ओर ले जायं और वहां फौज इकट्ठी कर फिर फर्रुखसियर से लड़ें। पर बूढ़े बाप ने यह होने न दिया और कृतज्ञता के बजाय ऐसी कृतघ्नता दिखाई कि

* फिर भी, इतिहासकारों ने लिखा है कि "फर्रुखसियर के लश्कर के साथ चलने वालों में बंगाल और पटने के कुछ महाजन थे जिनसे वह सवाई पर कर्ज लेता जा रहा था। सूद-सहित मूल चुका देने के अलावा, वह उन महाजनों को सम्मान-प्रदान करने के लिए भी प्रतिज्ञाबद्ध था"—अर्विन।

जहांदार शाह को वहीं गिरफ्तार करा लिया। पर इसका परिणाम वह न हुआ जो असद खां चाहता था।

जब बाप-बेटा फर्रुखसियर से मिलने गये तो इनाम-इकराम देना तो दर किनार, फर्रुखसियर ने असद खां को बिदा कर जुल्फिकार खां की वहीं हत्या करा डाली। इसके बाद जहांदार शाह की भी यही दुर्दशा हुई। लालकुंवर उस समय उसके साथ ही थी। बाद को वह उस स्थान पर पहुंचाई और नजरबन्द कर दी गई जो बेवाखाना या सुहाग-पुरा कहा जाता था। दूसरे दिन फर्रुखसियर ने राजधानी में प्रवेश किया। जुलूस में एक हाथी की पीठ पर जहांदार शाह की लाश लदी हुई थी। उसी हाथी की पूंछ से जुल्फिकार खां की लाश बंधी लटक रही थी। हाथी पर एक जल्लाद भी सवार था। वह हाथ में लम्बा बांस लिये था और उस बांस के सिरे से लटकता हुआ जहांदार शाह का सिर कुछ दर्शकों को रुला और कुछ को हंसा रहा था। जुल्फिकार खां के बूढ़े बाप असद खां पर भी फर्रुखसियर रहम करने वाला न था। उसे भी सपरिवार इस जुलूस में हाथी के पीछे पीछे चलना पड़ा। उसकी सारी संपत्ति जब्त कर ली गई और उसे अपना घर तक छोड़ना पड़ा।

फिर औरों की बारी आई। फर्रुखसियर के राजसिंहासन पर बैठने के कुछ ही दिनों के भीतर कई सरदार तो फांसी चढ़ा दिये गये। किसी की जीभ काट ली गई तो किसी की आंख निकाल ली गई। दिल्ली में ऐसा आतंक फैला कि जो कोई दरबार जाता उसे जिन्दा घर लौटने की आशा त्याग देनी पड़ती। आग में तपा कर लाल की हुई लोहे की सलाइयों से जो लोग नेत्रविहीन कर दिये गये, उनमें एक आजम शाह का बेटा था, एक जहांदार शाह का और एक था फर्रुख-

सियर का सगा छोटा भाई। पर इन कुकृत्यों में सैयद-बन्धुओं का हाथ न था, यद्यपि अब्दुल्ला खां को वजीर का पद मिल चुका था और हुसेनअली खां को मीरबख्शी का। इनके लिए प्रधानतः जिम्मेवार था एक तूरानी सरदार जिसका नाम मीर जुमला था और जो ढाके में काजी के पद पर रह चुका था। बंगाल में ही फर्रुखसियर पर इसका वशीकरण-मंत्र चल चुका था और यद्यपि दिल्ली में यह खवासों के दारोगा के ही पद पर था तथापि सम्राट् पर इसका ऐसा प्रभाव था कि उससे जो चाहता करा सकता था।

उधर मुर्शिदाबाद में बहादुर शाह के मरने की खबर पहुंचते ही, मुर्शिदकुली खां ने अजीमुश्शान को सम्राट् घोषित कर दिया था फिर जब उसे यह खबर मिली कि अजीमुश्शान की भी दुर्घटना से मृत्यु हो चुकी थी और उसके भाई आपस में तख्त के लिए लड़ रहे थे तो वह असमंजस में पड़ गया। परिस्थिति डावांडोल थी और यह कहना कठिन था कि इनमें जीत किसकी होगी। इसलिए उसने अजीमुश्शान के मरने की खबर ही दबा दी और मुनादी करा दी कि जो कोई और किसी प्रकार का समाचार फैलावेगा वह कठोर दंड का भागी होगा। पर व्यापारी-समाज को यथार्थ घटना से अवगत होते देर न लगी। ईस्ट इंडिया कंपनी से भी असलियत छिपी नहीं रह सकी। कौंसिल को अप्रैल (१७१२) के आरंभ में पटने से समाचार मिला कि १७ मार्च * को आजीमुश्शान मारा जा चुका था। ७ अप्रैल के कंपनी के लेखे में लिखा हैः——

"१ली अप्रैल को कासिमबाजार से भेजा हुआ मि० हेजेस का पत्र ५वीं अप्रैल की शाम को मिला। वह लिखता है कि उधर तरह तरह

*प्राचीन पंचांग-पद्धति के अनुसार ६ मार्च

की अफवाहें उड़ रही हैं, पर क्या सच है, क्या झूठ, यह कहना कठिन है। अजीमुश्शान के जीवित होने का लोगों को विश्वास दिलाने के लिए दीवान ने मानिकचन्द और फतहचन्द को खिलअतें दी हैं। एक को हाथी और दूसरे को घोड़े के साथ सरोपा मिला है। २७ मार्च को हेजेस दीवान से मिलने गया था। रात में ८ से १० बजे तक दोनों की बातें होती रहीं। दीवान ने लाहौरीमल को बुलवाया और कहा कि सम्राट् अजीमुश्शान ने अपने नाम से ढलने वाले सिक्कों के लिए जो इबारत भेजी है उसे पढ़ कर सुना दो। जब हेजेस चलने लगा तब नवाब ने कहा कि 'किसी बात की फिक्र मत करना, किसी तरह की गड़बड़ी होने वाली नहीं।' हेजेस नवाब को नजर करने के लिए पांच अशर्फियां और नौ रुपये लेता गया था, पर नवाब को कुछ भी लेना मंजूर न हुआ। हेजेस ने यह जानना चाहा कि दिल्ली से इधर कोई खबर नवाब को मिली थी या नहीं, पर उसने इस विषय में कुछ भी नहीं कहा। इसका कारण स्पष्ट है। उसकी ओर से झूठ का प्रचार करने के लिए मानिकचन्द का मुंह काफी है। यद्यपि दूसरे व्यापारी यह कहते नहीं, पर उनके पास तो लाहौर से पक्का समाचार आ गया है कि अजीमुश्शान और उसका बेटा करीम दोनों मारे जा चुके।"

आखिर सत्य पर परदा कब तक डाला जा सकता था? मुर्शिदकुली खां को एक दिन यह घोषित करना ही पड़ा कि दिल्ली के तख्त पर जहांदार शाह बैठ चुके थे। पर वह पूरा साल भर भी उस पर न बैठ सका। ११ फरवरी १७१३ को उसकी हत्या हुई। उस समय उसकी अवस्था ५३ वर्ष से कुछ ऊपर थी।

मानिकचन्द और अजीमुश्शान का परिचय पुराना था। अजीमुश्शान १६९७ में बंगाल का नाजिम बना कर ढाके भेजा गया था।

मानिकचन्द वहां कब गये या अपनी कोठी उन्होंने वहां कब खोली, इसका पूरा पता नहीं चलता, पर अनुमान किया जाता है कि दोनों घटनाएं आसपास की हैं। फिर जैसा कि हम देख चुके हैं, नियति के वशीभूत होकर, मानिकचन्द को ढाका छोड़ कर मुर्शिदाबाद जाना पड़ा और अजीमुश्शान को पटने या अजीमाबाद। पर जान पड़ता है कि जुदाई होने पर भी मानिकचन्द का अजीमुश्शान से सम्बन्ध अच्छा ही बना रहा। बहादुर शाह के शासन-काल में, अजीमुश्शान की सहायता से उन्होंने दिल्ली में भी अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली और बंगाल-सम्बन्धी मामलों में वहां उनकी सम्मति को खास वजन मिलने लगा।

इसके बाद जब फर्रुखसियर ने बगावत का झंडा उठाया और अपने को सम्राट् घोषित कर, धन-संग्रह करने लगा तब मानिकचन्द से उसे क्या मिला यह कहना तो कठिन है पर इतिहास में कुछ ऐसे इशारे जरूर मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि मानिकचन्द ने उसकी विशेष सहायता की। "रियाज" में लिखा है कि, "जब फर्रुखसियर पटने से कूच कर बनारस* पहुंचा तब उसने वहां भी नगरसेठ और दूसरे महाजनों से एक करोड़ रुपये लिये"। आगे चलकर "रियाज" का लेखक लिखता है, "नवाब जफर खां (मुर्शिदकुली खां) के सिफारिश करने पर

---

* ३० अक्टूबर १७१२ को फर्रुखसियर का पड़ाव मुगलसराय से कुछ आगे मिर्जापुर के आसपास था। उसने बनारस के महाजनों से चंदा वसूल करना चाहा। उनके सौभाग्य से राय कृपानाथ भी लशकर के साथ थे। इन्हें हम पटने में व्यापारियों की रक्षा करते देख चुके हैं। फिर वैसा ही प्रसंग पड़ने पर इन्होंने बनारस के व्यापारियों की भी रक्षा की और एक लाख पर ही सौदा तै करा दिया। मानिकचन्द से जो कुछ मिला वह इसके अलावा रहा होगा।

फर्रुखसियर ने नगरसेठ के चचा और मुनीम फतहचन्द को जगत्सेठ की उपाधि दी।" इसमें सत्य और असत्य का मिश्रण है। नगरसेठ से अभिप्राय मानिकचन्द से है, यह तो निश्चित है। यह भी निश्चित है कि पटने या बनारस में—संभवतः दोनों जगह—फर्रुखसियर को मानिकचन्द की कोठियों से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई, यद्यपि यह सहायता प्रकट रूप से नहीं दी गई। "रियाज" ने फतहचन्द को मानिकचंद का चचा बताया है और उन्हें फर्रुखसियर से जगत्सेठ की उपाधि मिलने की बात लिखी है। यह उसकी भूल है। हम आगे देखेंगे कि वह मानिकचन्द के चचा नहीं, भांजा थे और उन्हें यह उपाधि बरसों बाद मुहम्मद शाह से मिलने वाली थी। हां, थोड़ी उम्र से ही वह कामकाज में अपने मामा का हाथ बंटाने लगे थे, इसलिए प्रायः मानिकचन्द के 'मुनीम' समझे जाते थे। फर्रुखसियर से फतहचन्द को जगत्सेठ की उपाधि नहीं मिली, पर मानिकचन्द को 'सेठ' की उपाधि और पैर में सोना पहनने का अधिकार जरूर मिला। यह फर्रुखसियर के तख्तनशीन होने के दो बरस बाद की बात है। मानिकचन्द को जिस फरमान द्वारा 'सेठ' की उपाधि मिली थी वह इस समय भी मौजूद* है। फर्रुखसियर ने उनकी स्त्री के लिए कोई बहुमूल्य आभूषण भेज कर भी उनके परिवार को सम्मानित किया।

मुर्शिदकुली खां की बात और थी। वह अजीमुश्शान से तो लड़-झगड़ चुका था ही, फर्रुखसियर का भी साथ देने से उसने साफ इन्कार कर दिया था। फिर भी उसे किसी प्रकार का दंड नहीं मिला। कहना चाहिए कि फर्रुखसियर ने सम्राट् हो जाने पर आश्चर्यजनक क्षमाशीलत दिखाई और उसके समय में मुर्शिदकुली खां को जफर खां नासिरी का

* मि० लिटल के कथनानुसार।

खिताब ही नहीं मिला, बल्कि वह नायब नाजिम से उड़ीसा प्रान्त का नाजिम बना दिया गया।

अचंभे की इस बात के तीन कारण जान पड़ते हैं:—

(१) अव्वल तो दिल्ली-दरबार की ऐसी हालत न रह गई थी कि वहां ऐसे प्रश्नों की ओर कोई ध्यान भी दे सकता। केन्द्र की कमजोरी बढ़ रही थी और इससे प्रान्तों का अनुशासन दिनोंदिन ढीला होता जा रहा था।

(२) मुर्शिदकुली खां बराबर दिल्ली की दलबन्दियों और झगड़ों से दूर रहता था। जो कोई सम्राट् हो उसकी आज्ञाओं का पालन करना और खर्च के बाद जो रकम बचे उसे नियमित रूप से दिल्ली पहुंचा देना, थोड़े में यही उसका सिद्धान्त था।

(३) मानिकचन्द और उनके बाद फतहचन्द जैसे धनाढ्य और प्रभावशाली सेठ उसके शुभचिन्तक और पृष्ठपोषक थे—इसने भी आपत्काल में बराबर उसकी रक्षा ही की।

विक्रम संवत् १७७१ (सन् १७१४) में माघ शुक्ल १० को मानिकचन्द का शरीरान्त हुआ। उनके दो स्त्रियां थीं, पर किसी से भी पुत्र न होने के कारण उन्होंने अपने भांजे फतहचन्द को गोद ले रखा था। यही उनके उत्तराधिकारी और प्रथम जगत्सेट हुए। मानिकचन्द की पहली स्त्री, पति के मरने के बाद २७ बरस तक जीवित रहीं। बड़ी परोपकारिणी थीं और उनका अधिकांश समय नेम-धरम में ही व्यतीत होता था।

महिमापुर के पास, मानिकबाग में, स्तंभ के रूप में मानिकचन्द का एक स्मारक निर्मित हुआ था। बरसों बाद वह उस उद्यान के साथ,

भागीरथी का मुखग्रास बन गया। पर वह जब तक कायम था, पास से गुजरने वालों को एक ऐसे कर्मवीर की याद दिलाया करता था जो अपने समय के व्यापारी-समाज में सचमुच 'सेठ' अर्थात् श्रेष्ठ था और जिसने यह श्रेष्ठता उथल-पुथल के समय में भी अपने गुणों के विकास से प्राप्त की थी। मरते समय उसे इतना संतोष जरूर था कि नाव की पतवार अब जिस नाविक के हाथ जा रही थी वह अनुभवहीन न था अर्थात् वह समुद्र को शान्त तथा क्षुब्ध दोनों अवस्थाओं में देख चुका था, हवा के रुख के अनुसार पाल तानना या समेटना थोड़ा-बहुत सीख चुका था।

टिप्पणी

(१) पृष्ठ २५--बंगाल को मुसलमान शासक जन्नत अर्थात् स्वर्ग कहा करते थे। इसका कारण था वहां की भूमि का उर्वर और शस्य-श्यामल होना। औरंगजेब बंगाल को स्वर्ग नहीं, नरक कहा करता था, यद्यपि वह इतना स्वीकार करता था कि यह नरक खाद्य-पदार्थों से भरपूर है।

अकबर के समय में बंगाल १९ सरकारों या जिलों में विभक्त था। उसके बाद इसकी सीमा का क्रमशः विस्तार होता गया; आसाम, कूचविहार, त्रिपुरा आदि बंगाल के ही अंग बन गये। इसके फलस्वरूप सरकारों की संख्या बढ़ी, और उसके साथ राजस्व तथा अन्य मदों से होने वाली आय भी।

(२) पृष्ठ २६--कहा जाता है कि अकबर के शासन-काल में मखसूस खां नामक किसी व्यापारी ने यहां एक सराय बनवाई और उसी के नाम पर यह स्थान मखसूसाबाद कहाने लगा। मखसूसाबाद या मखसूदाबाद या मकसूदाबाद ही पीछे मुर्शिदाबाद के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ।

व्यापारिक दृष्टि से इ का म त्व बंगाल में रेशम के व्यवसाय का प्रधान केन्द्र होने में था। सतरहवीं शताब्दी में ही विदेशी व्यापारी वहां पहुँच चुके थे और उसके आसपास अपनी फैक्टरियां या कारखाने खोल चुके थे। उस समय विशेष ख्याति कासिमबाजार की थी। अंगरेज कासिमबाजार में रहते थे, डच कालकापुर में, फरासीसी और अर्मनी सैदाबाद या फरासडांगा में। आसपास के और स्थानों के नाम ब्रह्मपुर, अजीमगंज, बड़नगर, भगवानगोला, गिरिया, जंगीपुर, कांडी, किरीटकोना या किरीटेश्वरी, मैदापुर, गंगामाटी आदि थे--जिनसे बंगाल का इधर प्रायः ढाई सौ बरसों का इतिहास सम्बद्ध है।

आज भी मुर्शिदाबाद भागीरथी के तट पर स्थित है। भागीरथी गंगा के प्राचीन स्रोत का नाम है। अब गंगा वहां से कई मील पूरब होकर बहती है और बंगाल में प्रायः पद्मा कही जाती है। इधर प्रायः सवा सौ बरसों में भागीरथी का मार्ग भी बदल चका है। इसका एक नतीजा यह हुआ है कि इसके किनारे के कुछ स्थानों की जलवायु स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर हो गई है और

साथ ही उनका गौरव मिट्टी में मिल चुका है। कासिमबाजार का उदाहरण देने लायक है। जब १८१३ के लगभग भागीरथी अपने पुराने मार्ग से प्रायः तीन मील पश्चिम हट कर बहने लगी तब जहां पहले नदी थी वहां 'खाल' हो जाने से कासिमबाजार में ऐसी महामारी फैली कि हजारों लोग काल-कवलित हो गये और सारा स्थान श्मशान-सा बन गया।

नवाबों का मुर्शिदाबाद भागीरथी के दोनों ओर था और पलासी के युद्ध के समय भी खास शहर का रकबा प्रायः पच्चीस वर्ग मील बताया गया था। क्लाइव ने लिखा था—"विस्तार में, जनसंख्या में और ऐश्वर्य में मुर्शिदाबाद लंदन की बराबरी का है—अन्तर है तो इतना ही कि मुर्शिदाबाद के कुछ व्यक्तियों के पास इतनी धन-सम्पत्ति है कि उनकी बराबरी करने वाले लंदन में नहीं मिल सकते। अगर मुर्शिदाबाद के लोग अंगरेजों की खूनखराबी पर आमादा हो जाते तो ईंट-पत्थरों से और छड़ी-लाठियों से ही उनकी हस्ती मिटा सकते थे।"

यह सब होते हुए भी, मुर्शिदाबाद न तो सुरक्षित ही कहा जा सकता था, न सुन्दर ही। किले की तो बात ही क्या, वहां शहरपनाह भी न थी। कुछ बरसों तक तो इससे कोई हानि नहीं हुई, पर मराठों की चढ़ाइयों के समय नगर की रक्षा का प्रश्न बड़ा विकट हो गया। शहर भी किसी क्रिते पर बसाया हुआ नहीं था। मुर्शिदकुली खां को तड़क-भड़क पसन्द न थी। बड़ी और खूबसूरत इमारतों के बनवाने की ओर कुछ ध्यान गया तो शुजाउद्दौला का। अलीवर्दी खां का प्रायः सारा समय बंगाल, बिहार और उड़ीसा में लड़ते ही बीता। उसके बाद ऐसी क्रान्ति हुई कि मुर्शिदाबाद नाम-मात्र को राजधानी रह गया। १७९० में तो यह बचा-खुचा गौरव भी उससे छिन गया।

(३) पृष्ठ २८—औरंगजेब को अपने जीवन के शेष भाग में, रुपये की बड़ी तंगी रहने लगी थी। प्रायः बीस बरस तक निरंतर जारी रहने वाली दक्षिण की लड़ाई या लड़ाइयों के कारण अर्थाभाव बराबर बना ही रहता था। सैनिकों का वेतन तीन तीन साल तक न चुकना साधारण-सी बात थी। इस समराग्नि में उसने उस धन के भी काफी बड़े अंश की आहुति दे दी, जो अकबर के समय से आगरे और दिल्ली के किलों के तहखानों में, गाढ़े समय में काम आने के लिए,

जमा होता आया था। फिर भी पूरा न पड़ा। सैनिक इतने असंतुष्ट रहने लगे कि उन पर पूरा अनुशासन या नियंत्रण रखना असंभव-प्राय हो गया। छावनी में उपद्रव मचे ही रहते। कभी कोई सैनिक किसी बख्शी को इज्जत उतार लेता तो कभी कोई किसी के दो टुकड़े कर देता। कभी बागी सिपाहियों के जत्थे के जत्थे, दक्षिण की ओर पीठ कर, अपने अपने घर चल देते।

इलाके के इलाके वीरान और बरबाद हो चुके थे। पेड़-पौधों की जगह कहीं कहीं दूर तक सिर्फ आदमियों और जानवरों की हड्डियां नजर आने लगी थीं। अनुशासन दिन दिन शिथिल होता जा रहा था। अराजकता के बीज बोये जा रहे थे और जहां तहां अंकुरों का उगना भी प्रारंभ हो गया था। ऐसी स्थिति में औरंगजेब का सहारा रह गया था तो बंगाल, बिहार, उड़ीसा-जैसे इने-गिने प्रान्तों का, जो दक्खिन से फैले हुए संक्रामक रोगों से अभी तक अछूते थे और जो औरंगजेब की भूखी सेना के लिए बराबर थोड़ा-बहुत आहार जुटाते जाते थे। बादशाही लश्कर में मुर्शिदकुली खां द्वारा भेजे गये खजाने की राह लोग बड़ी उत्सुकता से देखा करते थे।

(४) पृष्ठ २९—'टकसाल किस जगह पर थी, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का ख्याल है कि यह पहले नदी के पश्चिम तट पर इच्छागंज के आमने-सामने थी, फिर वहां से हटाकर उस स्थान पर लाई गई जहां इस समय (१९०५) निजामत इमामबाड़ा का एक अंश है। इसके पास ही टकसाल-घाट है। जगत्सेठ की समाधि कहाने वाली इमारत भी यहां से थोड़ी दूर पर दयाबाग के पास थी। नदी के कटाव से अब इसका लोप हो गया है! सिक्कों की ढलाई से जगत्सेठों का जो घनिष्ठ सम्बन्ध था उससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि टकसाल इस घाट और उस इमारत के आसपास ही थी।" (श्री पूर्णचन्द्र मजुमदार)

टकसाल में ढलने वाले सिक्कों में रुपया मुख्य था। यह शायद शेरशाह का चलाया हुआ था और अकबर के समय में इसके आकार-प्रकार में काफी सुधार हुआ। टकसाल-सम्बन्धी व्यवस्था और तत्कालीन सिक्कों

का "आईने अकबरी" में काफी विस्तृत वर्णन है, जिससे कुछ बातें नीचे दी जाती हैं :—

सोने के सिक्के प्राय: २६ प्रकार के थे जिनमें मुख्य थे, मोहर, आफताबी, इलाही और जलाली। मोहरों में ११ माशा सोना होता था और उसकी कीमत होती ९ रुपया। चांदी के कुछ सिक्कों के नाम थे:—जलाला (१ रुपया), दरब (॥)), चरन (।)), अष्ट (=)), दस (-)॥) और कला (-))। जलाला अर्थात् रुपया साढ़े ११ माशे चांदी का होता। तांबे के सिक्कों में मुख्य था दाम, जिसे पहले पैसा या बहलोली कहा करते थे। दाम का आधा अधेला था, चोथाई पावला और आठवां भाग दमड़ी। हिसाब-किताब में दाम ही इकाई का काम करता था और ४० दाम एक रुपये के बराबर माने जाते थे। इन सब सिक्कों में मुख्य तीन ही थे—सोने की मोहर, चांदी का रुपया, और तांबे का दाम।

अकबर के समय में एक तोला और दो सुर्ख या रत्ती चांदी का मूल्य एक रुपया बैठता था। अर्थात् ९५० रुपये को ९६९ तोले, ९ माशे और ५ सुर्ख चांदी खरीदी जा सकती थी। अगर कोई इतनी चांदी टकसाल में ले जाकर इसके सिक्के कराता तो उसे बदले में १००६ रुपये मिलते और कुछ चांदी वापिस मिलती जिसकी कीमत २७॥ दाम होती।

खर्च इस प्रकार बैठता:—

	रुपये	दाम	जीतल
चांदी की कीमत	९५०	०	०
कारीगरों की मजदूरी	२	२२	१२
कोयला, पानी	०	१०	१५
ढलवाई	५०	१३	०
	१००३	६	२

गरज यह कि सराफ को आय में से व्यय निकाल देने के बाद साढ़े तीन रुपये की बचत होती ।

"आईने अकबरी" में 'जलाला' के अलावा एक और रुपये का जिक्र है जिसे 'अकबरशाही' कहते थे। यह जलाला से कीमत में १ दाम कम होता था। अगर इसका वजन दो सुर्ख या रत्ती कम होता तो इसके ३८ ही दाम मिलते। अगर वजन उससे भी कम होता तो सिक्का चांदी माना जाता और उसी के मोल बिकता । शिराज-निवासी अजुद्दौला जब अकबर का अर्थ-मन्त्री हुआ तब उसने यह नियम चलाया कि मोहर का वजन ३ चावल और रुपये का वजन ६ चावल तक कम होने पर भी उनका वजन पूरा ही माना जाय---उन पर किसी प्रकार का बट्टा न कटे । पर अकबर को यह अनुचित प्रतीत हुआ, इसलिए फिर यही नियम हो गया कि सिक्के में ठीक जितना सोना या चांदी हो उसका मूल्य उसी के अनुसार माना जाय।

(५) पृष्ठ २९---जगत्सेठों का घर भागीरथी के पश्चिम तट पर महिमापुर नामक स्थान में था। मुर्शिदाबाद गजेटियर में लिखा है (१९१४)---

"इसी मकान में, पलासी के युद्ध के तीन दिन बाद, वाट्स और वाल्श मीर जाफर और राजा दुर्लभराम से मिले थे और लेन-देन के बारे में बातचीत की थी। यहीं फिर २९ जून १७५७ को क्लाइव, वाट्स, स्क्राफ्टन, मीरन और दुर्लभराम एकत्र हुए थे और क्लाइव ने यह कहकर कि जो इकरारनामा हुआ था, उसमें अमीचन्द का कोई सरोकार न था, उनकी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया था--उन्हें विक्षिप्त-सा बना दिया था। मकान का अधिकांश भागीरथी अपने पेट में डाल चुकी हैं। बचा-खुचा अंश खंडहर हो रहा है। जैन मन्दिर की भी यही दशा हुई है, उसके कुछ खंभे और कुछ मेहराबें अब भी मौजूद हैं जिनकी बनावट देखते ही बनती है। १८०१ में हरखचन्द ने एक हिन्दू मन्दिर बनवाया था। इसका कुछ अंश तो १८९७ के भूकंप से नष्ट हो गया था, फिर भी अधिकांश वर्तमान है। इसमें चीनी मिट्टी के पट लगे हुए हैं। जहां पहले टकसाल थी---या दूसरे मत के अनुसार जहां पहले जगत्सेठों की कोठी थी---वहां

घासपात से ढका हुआ भीटा और संगमरमर का एक हौज, बस यही दो चीजें रह गई हैं। थोड़ी ही दूर पर पीतल का कलश वाला एक गोलाकार मंदिर है जिसे सतीचौरा कहते हैं। वहां कभी कोई स्त्री सती हुई थी।"

भागीरथी के इसी तट पर मुरादबाग, हीरा झील और मंसूरगंज थे। मंसूरगंज का महल सिराजुद्दौला का बनवाया हुआ था। यहीं से वह पलासी के मैदान में गया था और वहां हार होने पर फिर यहीं लौटा था। यहीं उसका वह खजाना था जिसकी लूट का इस पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख है।

(६) पृष्ठ २६— मि० मोरलैन्ड लिखते हैं:—"यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि राजस्व-विभाग ने खालसा गांवों या परगनों का इजारा देने की प्रथा कब चलाई और जो भूमि-कर पहले सरकार-द्वारा वसूल होता था वह कब से इन इजारेदारों या ठेकेदारों के द्वारा वसूल होने लगा। जान पड़ता है कि इस प्रथा का प्रारंभ कुछ प्रान्तों या प्रदेशों में, शाहजहां के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में हुआ और औरंगजेब तथा उसके वंशजों के समय में इसका प्रचार बढ़ा। बंगाल में खालसा-विभाग के हाथ में जब जमीन ज्यादा हो चली तब यह रिवाज बढ़ा कि गांव के गांव या परगने कुछ लोगों को इस शर्त पर दे दिये जाते कि लगान वसूल करना न करना उनका काम होता—वे एक निश्चित रकम सरकार को साल-ब-साल देते जाते। साधारणत: यह रकम न घटाई जाती न बढ़ाई जाती। और धीरे धीरे यह स्थायी या दवामी समझी जाने लगी। इस प्रकार इन इजारेदारों की स्थिति वही हो चली जो रजवाड़ों या नरेशों की थी और दोनों जमींदार कहे जाने लगे। पहले जमींदार उन नरेशों को ही कहते थे।"

लार्ड कार्नवालिस के दवामी या इस्तमरारी बन्दोबस्त ने कोई नई प्रथा नहीं चलाई। जो प्रथा चली आती थी—चाहे औरंगजेब के समय से, चाहे शाहजहां के समय से, चाहे और प्राचीन काल से, चाहे ईस्ट इंडिया कंपनी का आधिपत्य हो जाने के बाद से—उसने उसी को बहाल रक्खा और गैर-कानूनी तौर से होने वाले उलट-फेर की गुंजाइश मिटा दी। हां, जितने लोग जमींदारों की श्रेणी में आ गये, उनके अधिकार समान कर दिये गये और वे नरेशों के-से न

रहे। दरभंगा, बेतिया, टेकारी, बर्दवान ये जमींदारियां कार्नवालिस से पहले, कुछ तो बहुत पहले से—वर्तमान थीं । इनमें कुछ जमींदार बड़े शूर-वीर और निरंतर लड़ते-भिड़ते रहने वाले भी थे। "मुताखरीन" के लेखक ने टेकारी के 'ब्राह्मण' जमींदार राजा सुन्दर सिंह का वर्णन ऐसे ही लड़ाके के रूप में किया है । अब इनके बंशज भी जमींदार हो चले, पर इनके अधिकार उन जमींदारों के-से न रहे जो अब 'नरेशों' की श्रेणी में आ गये । उदाहरण के लिए, मैसूर के राजा एक समय 'जमींदार' ही कहे जाते थे। "मआसिरुल उमरा" के लेखक ने लिखा है– "(बीजापुरी)कर्णाटक विस्तृत तथा उपजाऊ प्रान्त था। इसके आसपास बहुत सेजमींदारों की जमीन थी जो अपने अधिकार के अनुसार कर दिया करते थे। इन्हीं में सेरिंगापत्तन का जमींदार मैसूरिया था, जो चार करोड़ रुपये कर देता था।" यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्नवालिस के समय में जमींदार वही माने गये जिनकी आय अपेक्षाकृत कम थी। बड़ी बड़ी आय वाले भी जमींदार बना दिये गये और नगण्य आय वाले भी 'नरेशों' या विशेष-अधिकार-सम्पन्न राजाओं की श्रेणी में बने रहे । सच पूछा जाय तो अंगरेज किसी सिद्धान्त के कायल न थे । उन्होंने अपने प्रभुत्व के विस्तार और शासन की व्यवस्था के मार्ग में कम से कम विरोध या रुकावट की दृष्टि से जहां जो उचित समझा, वही किया।

शाहजहां के समय में सारे साम्राज्य की आय प्रायः २० करोड़ थी। औरंगजेब के समय में यह प्रायः ३० करोड़ हो चली थी । आय-वृद्धि का प्रधान कारण था राज्य का विस्तार, विशेषतः दाक्षिणात्य में। फिर औरंगजेब के शासन-काल के पिछले दिनों में जजिया-कर से भी काफी आमदनी होने लगी थी।

बिहार या बंगाल में राजस्व-सम्बन्धी व्यवस्था का आधार प्रायः वह बन्दोबस्त था जो राजा टोडरमल अकबर के समय में कर चुके थे। "मआसिरुल उमरा" के लेखक ने अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लिखा था, "राजा टोडरमल के बनाये हुए नियम अब भी दफ्तरों में जारी हैं। हिन्दुस्तान के प्राचीन राजाओं और सुलतानों के समय में, उपज का छठा भाग जमीन के लगान के रूप में लिया जाता था। राजा टोडरमल ने भूमि के कई विभाग पहाड़ी, पड़ती, ऊसर, बंजर आदि किये। उपजाऊ और अन-उपजाऊ खेतों की नाप करके (जिसे

रकबा कहते हैं) तथा उनकी नाप बीघा, बिस्वा और लाठा से लेकर हर प्रकार के खेत पर प्रति बीघा नकद और कुछ पर अन्न-कर, जिसे बटाई कहते हैं, लगाया।" (श्री ब्रजरत्नदास-कृत हिन्दी -अनुवाद से)।

राजा टोडरमल के किये हुये मालगुजारी के बन्दोबस्त के बारे में, मौलाना मुहम्मद हुसैन "दरबारे अकबरी" में लिखते हैं:—

"अब तक मालगुजारी और माल-विभाग का प्राय: सारा प्रबन्ध अनिश्चित और अनियमित-सा था और मालगुजारी केवल कूत पर थी। प्रत्येक देहात की मालगुजारी प्राय: वही थी, जो सैकड़ों वर्षों से बंधी चली आती थी। बहुत-सी बातें ऐसी भी थीं जो कहीं लिखी तक न थीं, दफ्तर के मुंशियों को जबानों पर ही थीं। राज्यों के उलट-फेर ने सुप्रबन्ध और सुव्यवस्था का समय हो न आने दिया था। माल-विभाग में सब से बड़ा दोष यह था कि एक अमीर को एक प्रदेश दे दिया जाता था। दफ्तरवाले उसे दस हजार की आय का बतलाते थे, और वह वास्तव में पन्द्रह हजार की आय का होता था। इतने पर भी वह प्रदेश जिसे दिया जाता था, वह रोता था कि यह तो पांच हजार की आय का भी नहीं है। विचार यह हुआ कि सब प्रदेशों की पैमाइश या नाप हो जाय और उसकी वास्तविक आय निश्चित कर दी जाय। पहले ज़मीन की नाप के लिए जरीब की रस्सी हुआ करती थी जो भींगने पर छोटी और सूखने पर बड़ी हो जाया करती थी, इसलिए बांस में लोहे के छल्ले पहना कर जरीबें तैयार की गईं। प्रजा के लाभ के विचार से ५० गज के स्थान में ६० गज की नाप स्थिर हुई। सारा देश, रेतीले मैदान, पहाड़ी प्रदेश, उजाड़, जंगल, शहर, नदियां, नहरें, झीलें, तालाब, कूएं आदि-आदि सभी नाप डाले गये। जमीनों के भेद-प्रभेद आदि भी लिख लिये गये। कोई बात बाकी न छूटी। ज़रा-ज़रा-सी बात लिख ली गई। बस यही समझ लो कि आजकल बन्दोबस्त के कागजों में जो जो विवरण देखने में आते हैं, उनका आरम्भ अकबर के ही समय में हुआ था, और उनकी सब बातें तब से अब तक प्राय: ज्यों की त्यों चली आती हैं। उनमें कुछ सुधार भी अवश्य हुए हैं, पर बहुत अधिक नहीं। और ऐसा सदा से होता आया है।

"पैमाइश के उपरान्त उतनी उतनी जमीन एक एक विश्वसनीय आदमी को दे दी गई जितनी ज़मीन की आय एक करोड़ तिंगा (एक प्रकार का छोटा सिक्का) होती थी, और उसका नाम करोड़ी रख दिया गया। उस पर और भी काम करनेवाले आदमी नियुक्त हुए। इकरारनामा लिखा लिया गया कि तीन वर्ष के अंदर गैर-आबाद ज़मीन को भी आबाद कर दूंगा और रुपये खजाने में पहुँचा दूंगा, आदि आदि। इसी प्रकार की और भी अनेक बातें उस इकरारनामे में सम्मिलित की गईं।

"पर अकबर जिस प्रकार चाहता था, उस प्रकार यह काम न चला, क्योंकि लोग इसमें अपनी हानि समझते थे। माफीदार समझते थे कि हमारे पास ज़मीन अधिक है और इसकी आय भी अधिक है। पैमाइश हो जाने पर जितनी ज़मीन अधिक होगी, वह हमसे ले ली जायगी। जागीरदार अर्थात् अमीर भी यही सोचते थे। ईश्वर ने मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी बनाई है कि वह किसी के अधिकार में नहीं रहना चाहता। इसलिए ज़मींदार भी कुछ प्रसन्न और कुछ अप्रसन्न हुए। जब तक सब लोग प्रसन्न होकर और एकमत से कोई काम न करें तब तक वह काम चल ही नहीं सकता। और फिर जब वे अपनी हानि समझ कर उस काम में बाधक हों, तब तो उस काम का चलना और भी कठिन हो जाता है। दुःख का विषय यह है कि करोड़ियों ने आबादी बढ़ाने पर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया, जितना अपनी आय बढ़ाने पर दिया। उनके अत्याचारों से खेतिहर चौपट हो गये। उनके घर उजड़ गये और बाल-बच्चे तक बिक गये, अन्त में वे लोग भाग गये। ये दुष्ट और पापी करोड़ी कहां तक बच सकते थे! इन्होंने तीन वर्ष तक जो कुछ खाया था, वह तो खाया ही था। पर फिर जो कुछ खाया, वह सब टोडरमल के शिकंजे में आकर उगलना पड़ा। तात्पर्य यह कि इतनी उत्तम और लाभदायक व्यवस्था भी इस गड़बड़ी के कारण अंत में हानिकारक ही सिद्ध हुई और जो उद्देश्य था, वह पूरा न हुआ। धन्यवाद मिलने के बदले उलटे जगह जगह शिकायतें होने लगीं और घर घर इसी का रोना मच गया। करोड़ियों की निंदा होने लगी और नियमों की हंसी उड़ाई जाने लगी।" (श्री रामचन्द्र वर्मा-कृत हिन्दी-अनुवाद से)

मुर्शिदकुली खां ने अपने शासन-काल में बंगाल की जमीन की फिर से नाप कराई और टोडरमल के किये हुए बन्दोबस्त में कुछ हेरफेर किया।

(७) पृष्ठ ३४—भारतवर्ष अपना जो माल दूसरे देशों को भेजता या बेचता था उसके बदले खास कर सोना या चांदी लेता था। यूरोप से यहां सोने की अपेक्षा चांदी अधिक आती, कारण कि यहां चांदी का मूल्य यूरोप से अधिक था। जहां एक औंस सोना देने पर यहां प्रायः ९ औंस ही चांदी मिल सकती, वहां यूरोप में उसके बदले १० से १३ औंस तक चांदी मिल जाती। हम टकसाल के प्रकरण में अभी देख चुके हैं कि रुपये में ११॥ माशा चांदी होती और मोहर में ११ माशा सोना। फिर भी अकबर के समय में १ मोहर के ९ रुपये ही होते। अर्थात् ११ माशा सोना १०३॥ माशा चांदी। अर्थात् १ माशा सोना = ९ माशा से कुछ ऊपर चांदी।

अबुल फजल ने सोने के बारे में लिखा है:—

"यों तो हिन्दुस्तान में सोने की आमद बाहर से भी होती है, पर यह इस देश क उत्तर के पहाड़ों और तिब्बत में भी पाया जाता है। सलौनी क्रिया से यह गंगा, सिंधु और दूसरी नदियों की रेत से भी प्राप्त किया जा सकता है, पर इस काम में जो मेहनत-मजदूरी लगती है उसको देखते हुए यह नफे का नहीं कहा जा सकता।"

१४९३ में अमेरिका का पता चलने पर, यूरोप में सोना और चांदी दोनों बहुत बड़े परिमाण में आने लगे। पहले तो वहां की आदि-निवासी इंडियन जाति की लूट-खसोट से ये धातुएं प्राप्त की जातीं; फिर वहां पहुंचने वाले स्पेन-निवासी, बोलोभिया, पेरू, मेक्सिको आदि में खानों से इन्हें प्राप्त करने लगे। नतीजा यह हुआ कि यूरोप में मुद्रा के काम आने वाली धातुओं का परिमाण सदियों तक बढ़ता ही गया और इससे वहां दामों में तेजी आती गई, वहां की आर्थिक उन्नति दिन दूनी रात चौगुनी होती गई।

सन् १४९३ से लेकर १८०० तक अर्थात् ३०० सालों में, संसार में कितना

सोना हुआ पैदा और कितनी चांदी, और दोनों का पारस्परिक अनुपात क्या था यह नीचे की तालिका में दिया गया है:—

	खालिस सोना	खालिस चांदी	
	करोड़ औंस	करोड़ औंस	अनुपात
१४९३-१६००	२·३	७४·७	३२
१६०१-१७००	२·९	१२७·२	४४
१७०१-१८००	६·१	१८३·३	३०
जोड़	११·३	३८५·२	

(१४९३ से १८०० तक का अनुपात ३४)

बराबर बराबर वजन के सोना-चांदी के मूल्यों का जो अनुपात इससे पहले १—११ था वह चांदी के उत्पादन में वृद्धि के कारण १—१५ हो चला। प्रायः दो सौ साल तक दोनों का पारस्परिक अनुपात यही बना रहा।

कंपनी जो चांदी इस देश में ला कर बेचती उसका कुछ अंश सिक्कों के रूप में होता। ये सिक्के प्रायः ऐसे डालर होते जो स्पेन-निवासियों-द्वारा मेक्सिको तथा दक्षिण अमेरिका में ढाले जाते। अमेरिका की चांदी अंगरेज व्यापारी इंगलैण्ड ले जाते और वहां से उसे ढाके की मलमल या मुर्शिदाबाद के रेशम या बिहार के शोरे की कीमत चुकाने के लिए कलकत्ते पहुंचाते। फिर जगत्सेठ की कोठी में मोल-चाल शुरू होती। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र पुराने से नये संसार तक फैल चुका था।

फतहचन्द

सुप्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति एष श्रेष्ठी चन्दनदासः पृथिव्यां सर्वनगरश्रेष्ठिपदमारोप्यताम् ।

बहुत प्रसन्न होकर महाराज चन्द्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि सेठ चन्दनदास को संसारमात्र के नगरसेठ का पद प्रदान किया जाय।

—मुद्राराक्षस

(१)

फतहचन्द के पूर्वज पहले अहमदाबाद में रहते थे। उनमें से पदमसी १६२७ में खंभात जा बसा। उसके दो पुत्र थे–श्रीपति और अमरदत्त, और शायद दोनों ही जौहरी थे। शाहजहां बादशाह की कभी अमरदत्त पर कृपा हुई और वह उसे अपने साथ आगरे ले गया। वहां उसको जवाहरात की मुकीमी का ओहदा मिला। फिर यह मुकीमी उसके बेटों को मिली, जिनके नाम थे राय उदयचन्द और केसरीसिंह। मानिकचन्द की बहन धनबाई का ब्याह इन्हीं राय उदयचन्द से हुआ था। इनके चार पुत्र हुए—मित्रसेन, सभाचन्द, फतहचन्द और रायसिंह। तीसरे पुत्र फतहचन्द सन् १७०० में अपने मामा की गोद गये। उस समय वह पटने ही में थे। इसके बाद वह प्रायः बराबर मानिकचन्द के ही साथ रहने और काम-काज में उनका हाथ बंटाने लगे।

अपने राज्य-काल के पांचवें वर्ष में फर्रुखसियर ने एक फरमान निकाल कर फतहचन्द को भी 'सेठ' की उपाधि से सम्मानित किया।

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, मुर्शिदकुली खां पर

उसकी यह कृपा हुई कि इसे जफर खां नासिरी का खिताब मिला और यह उड़ीसा का नाजिम कर दिया गया।

कंपनी को यह लाभ हुआ कि उसकी ओर से सरमन नामक अंगरेज कर्मचारी की अध्यक्षता में एक दूत-दल[1] के दिल्ली जाने पर, सम्राट् से उसे १७१७ में मुंहमांगा वर मिल गया। अर्थात्

(१) यह निर्विवाद कर दिया गया कि कंपनी बंगाल, बिहार और उड़ीसा इन तीनों प्रान्तों में निःशुल्क व्यापार कर सकेगी, उसे साल में ३,००० रु० पेशकश के अलावा और कुछ भी देना न पड़ेगा।

(२) कंपनी को यह अधिकार दिया गया कि वह कलकत्ते के आसपास और जो गांव चाहती थी उन्हें जमींदारों से खरीद ले।

(३) यह हुक्म भी फरमाया गया कि अगर मद्रास की टकसाल में ढले हुए रुपये सूरत की टकसाल के रुपये-जैसे ही हों तो उन पर बट्टा न काटा जाय।

सरमन के कलकत्ते लौटने से पहले ही, कंपनी के प्रतिनिधि मुर्शिदाबाद जाकर दीवान को दिल्ली से मिले हुए आज्ञापत्रों की नकल दिखा आये थे। पर उनसे वह तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ था। बल्कि उसने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि कंपनी चाहे जो फरमान या हस्बुलहुक्म ले आवे, मैं न तो उसे किसी और गांव का जमींदार बनने दूंगा, न उसे टकसाल में घुसने दूंगा। जो जमींदार पैसे के लिए अपना स्वत्व बेच देने को तैयार थे उन्हें दीवान के भ्रू-भंग के कारण वैसा करने का साहस न हुआ। टकसाल का दरवाजा भी बंद ही रहा। २७ अगस्त १७२१ को कासिमबाजार वाले कलकत्ते लिखते हैं:—

"हमारी कोशिश तो जारी है, मगर वह दरवाजा खुलता नहीं दीखता। इधर हमने कुछ दरबारियों से सिफारिश करानी चाही तो

उन्होंने यही जवाब दिया कि जब तक फतहचन्द पर नवाब की ऐसी मेहरबानी बनी हुई है, हम कंपनी को किसी प्रकार का आश्वासन नहीं दे सकते। बात यह है कि फतहचन्द को टकसाल का इजारा-सा मिल गया है, फलतः और कोई सराफ या महाजन, वहां ढलाई कराने के लिए, एक रुपये की भी चांदी की खरीद या बिक्री नहीं कर सकता।"

९ नवंबर १७२१ के कंपनी के लेखे में दर्ज है:—

"दो पेटी चांदी कुछ समय से कासिमबाजार में पड़ी हुई थी। वहां वालों को अब मजबूर हो कर उसे बेच देना पड़ा है, २४० 'सिक्के' भर चांदी के लिए २०७।) ('सिक्कों') के भाव से। फतहचन्द को छोड़ कर और कोई टकसाल से फायदा नहीं उठा सकता, इसलिए चांदी को और कोई सराफ छूने के लिए भी तैयार नहीं। उधर फतहचन्द से जरा भी ऊंचा दाम मिलना असंभव है। खबर मिली है कि हमारे पुराने ('सिक्कों') का वजन मुहम्मद शाह के राज्य-काल के तीसरे वर्ष के बिलकुल नये ('सिक्कों') से किया गया, जिसके कारण हमें और भी कसर खानी पड़ी।"

कुछ ही दिन बाद फिर चांदी की चर्चा की जाती है:—

"दस पेटी 'डकाटून' सिक्के कासिमबाजार भेजे गए थे। वहां वाले लिखते हैं कि उनके दाम के बारे में उन्हें फिर फतहचन्द से काफी हुज्जत करनी पड़ी। जहां वे फी डकाटून २।)६ पा० के हिसाब से बेचना चाहते थे, वहां फतहचन्द को २।)३ पा० से अधिक देना मंजूर न था। अन्त में हमारे कर्मचारियों ने मजबूर हो कर २।)४।। पा० के हिसाब से औने-पौने कर लिया। दूसरे व्यापारी इस समय चांदी के खरीदार नहीं। कोई खरीद भी ले तो उसे फिर फतहचन्द के ही हाथ वह चांदी बेच देनी पड़ेगी और यह सौदा उसके लिए महंगा पड़े बिना न रहेगा।"

ऊपर मुहम्मद शाह के सम्राट् होने का उल्लेख है। उसके तख्त पर बैठने से पहले फर्रुखसियर मारा[२] जा चुका था तथा दो और सम्राटों की अकाल-मृत्यु हो चुकी थी। उथल-पुथल का कारण यह हुआ कि फर्रुखसियर दिल्लीश्वर होते ही सैयद-बन्धुओं के नियंत्रण या अनुशासन से मुक्त होने का उपाय ढूंढ़ने लगा। जाहिरा तौर पर सैयद-बन्धुओं के प्रति सद्भाव रखते हुए भी वह दिल से उनका दुश्मन हो गया और यह बात उनसे छिपी न रह सकी। राजा और दोनों मंत्रियों के बीच हो जाने वाली अनबन ने बढ़ते-बढ़ते एक दिन ऐसा रूप धारण किया कि उस आग में पहले तो स्वयं फर्रुखसियर भस्मीभूत हो गया, फिर एक एक कर दोनों सैयद-बन्धु भी जल मरे। इनके मरने से पहले मुहम्मद शाह तख्त पर बैठ चुका था—पर ऐसे तख्त पर जो घुनता जा रहा था, जिसकी क्षीणता अंदर ही अंदर बढ़ती जा रही थी।

फर्रुखसियर और उन दोनों भाइयों के सम्बन्ध को कुछ से कुछ कर देने में थोड़े से दरबारियों का बड़ा हाथ था। इनमें मुख्य थे मीर जुमला, * खानदौरां, निजामुल्मुल्क, अमीन खां—जो दरबार के तूरानी दल के अधिनायक और सैयद-बन्धुओं के घोर शत्रु थे। उस समय दिल्ली में दलबन्दी जोरों पर थी। तूरानी, ईरानी, हिन्दुस्तानी और अफगान (पठान) यही उन दिनों के प्रधान दल थे। तूरानी मध्य एशिया के उस भू-भाग से आकर यहां बस जाने वाले थे जो मुगलों का जन्मस्थान माना जाता था। ईरानी संख्या में कम होते हुए भी, अपनी शिक्षा और संस्कृति के कारण यहां के शासन-क्षेत्र में विशेष स्थान रखते थे। ये लोग प्रायः शीया-सम्प्रदाय के होते और तूरानी सुन्नी-सम्प्रदाय के।

---

* मीर जुमला के सम्बन्ध में पहले ही कुछ कहा जा चुका है। बाकी का परिचय फतहचन्द-सम्बन्धी प्रकरण के अन्त (टिप्पणी नं० २) में मिलेगा।

हिन्दुस्तानी दल में हिन्दुओं के अलावा ऐसे मुसलमान भी होते थे जिनका सम्बन्ध न तूरान से था, न ईरान से—और न अफगानिस्तान से। अर्थात् ये लोग प्रायः इसी देश के निवासी थे जो या तो स्वयं या जिनके पूर्वज मुसलमान बन चुके थे। हिन्दुस्तानी दल के हिन्दुओं में राजपूत सरदारों की प्रधानता थी। उनके बाद नंबर आते थे खत्री, अग्रवाल, कायस्थ कर्मचारियों के। अफगानों का अपना दल अलग था। इस देश में इनकी खासी बड़ी संख्या थी और ये लोग अरसे से जहां-तहां बसे हुए थे। पर धन का लोभ इनकी ऐसी बड़ी कमजोरी थी कि गाढ़े समय में इनका पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता था। मुसलमानों के और भी छोटे-मोटे दल थे। पर उनकी एक विशेषता यह थी कि हिन्दुओं के विरोध के प्रसंग में वे अपने पारस्परिक भेद-भाव को भूल जाते थे और प्रायः एक होकर उनका सामना करते थे।

सैयद-बन्धुओं के पूर्वज अरब से यहां आये हुए थे। उनके गांव का नाम बरहा या बारहा था जिसकी भौगोलिक स्थिति मेरठ और सहारनपुर के प्रायः बीचोबीच थी। बहुत दिनों से यहां रहने और यहां के लोगों में हिलमिल जाने के कारण ये भी हिन्दुस्तानी मुसलमान माने जाने लगे थे। इनका सम्प्रदाय शीया था और सुन्नी तूरानियों की तरह ये तअस्सुबी न थे। वजीर अब्दुल्ला खां का अपना दीवान रतनचंद नामक एक अग्रवाल था जिसे राजा की पदवी प्राप्त थी और जो दिल्ली के काफी प्रभावशाली व्यक्तियों में था।

बारहा के सैयद नामी थे और बड़े शूर-वीर तथा आत्माभिमानी होते थे। साथ ही वे अपनी फिजूलखर्ची के लिए बदनाम थे। प्रायः वे मंदबुद्धि भी होते। अठारहवीं सदी में 'बारहा का अहमक' यह एक कहावत हो चली थी। यह भी कहा जाता था कि "बारहा के सभी गधे बहादुर हैं" और "सभी बहादुर गधे हैं।"—अर्विन।

दिल्ली में होने वाली उथल-पुथल ने सलतनत को और भी कमजोर बना दिया। जहां तहां अशान्ति की आग भड़क उठी, सिक्ख, जाट, मराठा, राजपूत आदि जातियां उस आग को चारों ओर फैलाने लगीं। अनुशासन नाममात्र को रह गया, अराजकता ने और भी जोर पकड़ लिया। दिल्ली में भी अव्यवस्था इतनी बढ़ चली थी कि न तो कोई अपनी जान को सुरक्षित समझता था, न अपने माल को।

संभव न था कि देश की राजनीतिक स्थिति इतनी खराब होते हुए भी उसकी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक रह सके। यह स्थिति औरंगजेब के समय से ही बिगड़ती आ रही थी। अशान्ति और अव्यवस्था का दौरदौरा होने पर पैदावार बढ़ने के बजाय घटने लगती है, लोगों में रुपये-पैसे या जिन्स को दबा कर बैठ रहने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, वाणिज्य-व्यवसाय को पक्षाघात-सा हो जाता है। बहादुर शाह के मरने पर दिल्ली के तख्त की जो हालत हुई उसने कोढ़ में खाज पैदा कर दी। जहांदार शाह के आदेश से दिल्ली-निवासियों को दीवाली साल में तीन बार मनानी पड़ी थी, हालांकि तेल का अभाव ऐसा था कि वह रुपये सेर बिकने लगा था। गेहूँ का भाव प्रायः ५) मन हो चला था, यद्यपि दरबार या महल में इसकी किसी को फिक्र न थी और लालकुंवर को एक रोज यह बात मालूम हुई भी तो उसने यही कहा कि "नाज बेहद सस्ता हो रहा है। मेरी चले तो मैं भाव ४०) मन करा दूं।" फर्रुखसियर के शासन-काल में लोगों का कष्ट और भी बढ़ा। उसके नाम से ढलने वाले सिक्कों पर जहां यह इबारत होती कि

सिक्का जद, अज फज्लेहक बर सीमोजर—
पादशाहे बहोवर—फर्रुखसियर !

(अर्थात् जल और स्थल के अधीश्वर फर्रुखसियर ने ईश्वर की कृपा से सोना-चांदी के सिक्के ढलवाये)

वहां लोग इन पंक्तियों को यह रूप देकर उसकी फबती उड़ाते कि

सिक्का जद बर गंदुमो मोटो मटर
पादशाहे दानाकश—फर्रुखसियर !

(अर्थात् दाना दाना खींच लेने वाले फर्रुखसियर बादशाह ने गेहूँ, मोट और मटर के सिक्के ढलवाये)

मुहम्मद शाह के राज्य-काल में दिल्ली की दुरवस्था का वर्णन करते हुए अंगरेज इतिहासकार अर्विन फारसी ग्रंथों के आधार पर लिखता है कि:—

"निजामुल्मुल्क ने कई बिगड़ी बातों का सुधार करना चाहा। उनमें एक तो यह थी कि पेशकश देने के नाम से, बादशाह की मुट्ठी गरम कर, अयोग्य से अयोग्य व्यक्ति भी ऊंचे से ऊंचा पद पा जाता। दूसरी यह थी कि शाहजादे, शाहजादियां और सरदार, जागीरों के रूप में बड़े बड़े इलाके लिये बैठे थे जिसके फलस्वरूप सरकारी आय दिन दिन घटती जा रही थी और खजाने में इतना रुपया भी न होता कि समय पर किसी का वेतन चुक सके। किसी ने महीनों से कुछ नहीं पाया था तो किसी ने बरसों से। सम्राट् की सेवा में जिनके बाल सफेद हो चले थे या जो प्रोत्साहन के सर्वथा योग्य थे उन्हें तो भोजन के भी लाले पड़ रहे थे, पर जो अयोग्य या निकम्मे थे वे गुलछर्रे उड़ा रहे थे। पुराने सरदारों को अपने अपने घर से गल्ला मंगा कर और उसका कुछ अंश बेच कर, दिल्ली में जीवन-निर्वाह करना पड़ता था। सभी चीजें महंगी हो रही थीं। गेहूँ रुपये को सात सेर से अधिक न मिल

सकता था। जब वजीर दरबार से लौटते तब लोग उन्हें घेर कर खड़े हो जाते। कोई गला फाड़ फाड़ कर कहता कि, "मैं महावत खां के खानदान में हूँ" तो कोई चिल्ला उठता कि "मैं अली मरदान खां का पोता हूँ।" चारों ओर से यह आवाज आने लगती कि 'फरियाद', 'फरियाद' और यह गोहार मच जाती कि "दामों को गिराइए—भूखों मरने से बचाइए"।

ऊपर कहा जा चुका है कि फतहचन्द को 'जगत् - सेठ' की उपाधि से सम्मानित करने वाला सम्राट् मुहम्मद शाह था। यह सम्मान उन्हें इसलिए प्रदान किया गया कि उन्होंने दुष्काल में दिल्ली के नागरिकों को भूखों मरने और सम्राट् को कलंकित होने से बचाया था। इससे पहले फतहचन्द की कोठी की एक शाखा दिल्ली में स्थापित हो चुकी थी। कहा जाता है कि अन्न जुटाने और उसका समुचित वितरण कराने का काम उनकी अपनी देख-रेख में हुआ। जो लोग अर्थाभाव के कारण गल्ले का दाम चुकाने में असमर्थ थे उन्हें उनकी कोठी से उधार भी मिला। दिल्ली का संकट टल गया और उसके आर्थिक जीवन का स्रोत फिर साधारण गति से बहने लगा। इसी पर प्रसन्न हो कर मुहम्मद शाह ने उन्हें 'जगत्-सेठ' और उनके पुत्र आनन्दचन्द को 'सेठ' की उपाधि से सम्मानित किया। इनाम के तौर पर खिलअत, गोशवारा और एक हाथी भी मिले। इस प्रकार पुरस्कृत *तथा सम्मानित हो कर फतह-

---

* इस सम्बन्ध में मुहम्मद शाह ने जो फरमान निकाला था वह अपने राज्य-काल के चौथे वर्ष में। उसमें इस बात का उल्लेख नहीं कि फतहचन्द ने कौन-सी ऐसी खैरख्वाही की थी। जिस संकट से उन्होंने राजा और प्रजा को उबारा था वह अन्न-संकट था या मुद्रा-संकट ? १७१९ में अन्न के अभाव के कारण दिल्ली-निवासियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था, यह निश्चित है। पर

चन्द मुर्शिदाबाद लौट गये और प्रायः १७२३ से उनकी कोठी का नाम 'फतहचन्द आनन्दचन्द' से बदल कर 'जगत्-सेठ फतहचन्द सेठ आनन्दचन्द' हो चला।

मुर्शिदकुली खां को औरंगजेब ने बंगाल का दीवान नियुक्त किया था। फिर वह बंगाल और उड़ीसा का नायब नाजिम भी कर दिया गया। फर्रुखसियर के सम्राट् होने पर वह उड़ीसा का नाजिम हो चला। बंगाल की निजामत फर्रुखसियर ने अपने बेटे फरखुन्दा बख्श* को दे दी, और उस बच्चे की अकाल-मृत्यु हो जाने पर, तूरानी सरदार मीर जुमला को। पर नायब नाजिम, मुर्शिदकुली खां ही रहा। सैयद-बन्धुओं की उस पर कुछ कड़ी नजर रहती थी और वह उन्हें अपनी विशेष उन्नति के मार्ग में बाधक समझता था। इसलिए उनके पतन और

अगर उस समस्या का हल निकालने के लिए फतहचन्द पुरस्कृत हुए तो फरमान निकलने में इतनी देर क्यों हुई? १७२१-२२ में उत्तर भारत को एक दूसरे प्रकार के संकट से गुजरना पड़ा था। इसका उल्लेख आगे किया गया है। संभव है, इस अवसर पर सरकार की विशेष सहायता करने के लिए फतहचन्द ने 'जगत्सेठ' की पदवी पाई। जगत्-सेठ-परिवार में जो किंवदंती चली आई है उसमें फतहचन्द के सम्मान का सम्बन्ध किसी दुर्भिक्ष से दिल्ली की प्रजा को उबारने के साथ जोड़ा गया है। बहुत संभव है कि दोनों अवसरों पर राजा-प्रजा के काम आने के लिए फतहचन्द इस प्रकार सम्मानित किये गये हों।

* जहां नाजिम कोई राजकुमार या मीर जुमला-जैसा सरदार होता, वहां वह उस पद के साथ मिलने वाली जागीर का हकदार समझा जाता। प्रबन्धादि मुर्शिदकुली खां-जैसे शासक के हाथ में होते हुए भी, उसे घर बैठे एक मोटी रकम साल-ब-साल मिलती रहती। किसी समय बंगाल-बिहार का ऐसा ही नाजिम अजीमुश्शान रह चुका था।

विनाश के समाचार से उसे प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही था। २१ नवंबर १७२० *को कंपनी के कासिमबाजार वाले कर्मचारी कौंसिल को सूचित करते हैं कि नवाब ने दिल्ली की घटनाओं का समाचार पाकर "नौबत बजवाई है"। जब दूसरे साल खजाना भेजने का समय आया तब नवाब ने उसके साथ अपनी ओर से नजराना भेजना भी मुनासिब समझा। इसके लिए व्यापारियों से चन्दा तलब किया गया और चन्दा उगाहने का काम फतहचन्द, दरबनारायण और कल्याणमल को सौंपा गया। इन लोगों ने डच और अंगरेजी कंपनियों के वकीलों को बुलवा कर कहा कि आप अपने अपने मालिकों को इस काम में नवाब का हाथ बंटाने को लिखिए। डच कंपनी से ६०,०००) मांगा गया। अंगरेजी कंपनी के वकील से इतना ही कहा गया कि अगर आप की ओर से अच्छी रकम न मिली तो आप लोग बंगाल में व्यापार करने न पायेंगे। दोनों वकीलों के घरों पर सिपाही बैठा दिये गये।

अंगरेजों को कुछ भी देना मंजूर न था। उधर कासिमबाजार में उनका कन्तू नामक दलाल गिरफ्तार कर लिया गया। कौंसिल ने अपने वकील को लिखा कि मुर्शिदाबाद जाकर बादशाह की दुहाई दो। पर इससे काम न बना। कासिमबाजार वालों ने नवाब की सेवा में एक आवेदन-पत्र भेजा। नवाब ने फतहचन्द से कहा कि कन्तू के विरुद्ध

---

* हुसैन अली खां ८ अक्टूबर १७२० को मारा जा चुका था। आगरे से प्राय: ७२ मील दूर, टोडाभीम के पास के पड़ाव पर वह हैदरबेग नमाक तूरानी के खंजर का शिकार हुआ। उस समय वह अनिच्छुक मुहम्मद शाह को साथ लेकर निजामुल्मुल्क को दंड देने दक्खिन जा रहा था। अब्दुल्ला खां ने बगावत कर दी, पर १३-१४ नवम्बर को दिल्ली से थोड़ी दूर पर होने वाली लड़ाई में उसकी हार हुई और वह गिरफ्तार कर लिया गया।

कई अभियोग हैं, आप सच-झूठ का पता लगाइए। इनमें एक अभियोग यह था कि कन्तू की स्त्री गले में फांसे डाल कर प्राण त्याग चुकी थी और इसके लिए बहुत कुछ कन्तू ही जिम्मेवार था। फतहचन्द ने कन्तू से पूछ-तांछ की, और उसके निर्दोष जंचने पर उन्होंने उसे यह आश्वासन दिया कि तुम्हारी रिहाई के लिए मैं कुछ भी उठा न रखूंगा। उनकी सिफारिश का नतीजा यह हुआ कि कन्तू छोड़ दिया गया और चलते समय उसे दरबार से सरोपा भी मिला। कंपनी से चन्दा लेने की बात फिर न उठी। शायद फतहचन्द की सिफारिश ने उसे भी दबा दिया।

हकीकत में, कंपनी उस समय बड़ी तंगदस्ती में थी। जगह-जगह से रुपये की मांग आ रही थी, पर कौंसिल के हाथ खाली-से थे। व्यापारियों को दादनी देना तो दर-किनार, जो माल खरीदा जा चुका था उसका दाम चुकाने में भी कंपनी असमर्थ थी। जान पड़ता है कि उत्तर भारत में रुपये की टान थी और इसके कारण ब्याज-बट्टे की दर ऊंची हो रही थी। जहां मद्रास में कंपनी को ९) प्रतिशत ब्याज पर उधार मिल जाता वहां बंगाल में १२) देने पर भी मिलना मुश्किल था। कासिम-बाजार से अगस्त १७२१ में खबर आती है कि, "अप्रैल और जून में २८,५४५।) का माल (रेशम) खरीदा गया था, पर आज तक हम व्यापारियों को उसका दाम नहीं दे पाये हैं। अब उन्होंने हो-हल्ला मचाना शुरू कर दिया है। उनका कहना है कि हमें दूसरों को १॥) से २) सैकड़ा ब्याज देना पड़ रहा है, कंपनी से यह रकम भी हमें मिलनी चाहिए।" कुछ ही दिन बाद वहां वाले सूचित करते हैं कि इस समय हमें यहां एक रुपया भी कर्ज नहीं मिल सकता। पटने से सितम्बर में खत आता है कि, "नवाब ने लोगों का खून इस तरह चूसा है कि यहां रुपये की बड़ी तंगी हो गई है। उधर आगरे पर हुंडी की दर ६॥)

प्रतिशत हो चली है। सराफों को उस ओर रुपया लगाने में इतना फायदा है कि कोई भी दूसरी ओर रुपया लगाने को तैयार नहीं। बड़ी मुश्किल से हम लोगों ने खड़गसिंह किशनचंद को ४) सैकड़ा बट्टा काट कर कुछ उधार देने को राजी किया है और कौंसिल के नाम हुंडियां कर दी हैं। हम लोगों ने कुछ शोरा खरीदा था और कुछ छींट भी। दाम नकद चुकाना था, इसलिए यह रकम उधार लेनी पड़ी।''

पर कलकत्ते की कौंसिल आप भी वैसे ही अर्थ-संकट में थी। जो माल पिछले साल खरीद हो चुका था उसके दाम की मद में २७६, ८०९॥=)॥ चुकाना था। इधर १५१,५८१।) के जो नये सौदे हो चुके थे उनकी बाबत दादनी भी देनी थी। विलायत से जहाज आने की प्रतीक्षा की जा रही थी और कौल-करार हो चुके थे कि उसके आते ही हिसाब बेबाक कर दिया जायेगा। पर जब जहाज के पहुंचने में देर हुई और व्यापारी अधीर हो गये तब उनके साथ कौंसिल ने यह समझौता किया कि अगर ४ अगस्त १७२१ तक जहाज न पहुंचा, तो हम हुंडियां कर देंगे और उस दिन से ब्याज देने लगेंगे। अन्त में वैसा ही करना पड़ा। व्यापारी दादनी के रुपये पर भी ब्याज मांग रहे थे, पर कौंसिल ने कहा कि उसके लिए आप लोग कुछ दिन और ठहरें। उसने पिछले हिसाब की मद में हुंडियां कर दीं। पावनेदारों में कुछ के नाम थे:—विशनदास सेठ, जगन्नाथ सेठ, किशोरी सेट, किशनचरन खान, पुरुषोत्तम खान, रामभद्र चौधरी, गोविन्दराम खान, रामकिशन दत्त, चैनसुख दत्त, कालीचरण सेठ, कुंजबिहारी सेठ, परमानन्द बसाक, प्राण सेठ बसाक, राधावल्लभ सेठ, नैनसुख मेहरा (?), गंगारामदास, नन्दूप्रसाद, राधाकिशन, तेजराम, मल्लिकचन्द, बख्शीचन्द चोपरा (?), ख्वाजा नजीर, बलराम बसाक, गंगाचरण

बसाक, नित्यानन्द दत्त, रामनाथ दास, गोविन्द सेठ, रामेश्वर तेली, राजवल्लभ तेली, रामनारायग दत्त, कुंजबिहारीदास, अमीचन्द आदि * । इतने व्यापारियों में सिर्फ एक मुसलमान था। इनमें सब से बड़ा पावनेदार विशनदास सेठ था, जिसका कंपनी के जिम्मे ४७,१५८।।।)।।। निकलता था।

१७२२ में कंपनी को अपनी सिफारिश कराने के लिए फतहचन्द का दरवाजा खटखटाना पड़ा। बात यह हुई कि मुर्शिदाबाद में अंगरेजों का जो वकील था, उसी का भतीजा ढाके में डचों का वकील था। इस पर ५०,०००) गबन कर जाने का अभियोग चला। मालूम नहीं क्या कारण हुआ, पर चचा से जमानत तलब की गई और उसके जमानत न देने पर, वह गिरफ्तार कर लिया गया। कौंसिल ने फतहचंद को कहलाया कि आप मेहरबानी कर नवाब को समझा दें और हमारे वकील की रिहाई करा दें, वर्ना हम मुनासिब कार्रवाई किये बिना न रहेंगे। फतहचन्द के बीच में पड़ने से, चचा की रिहाई हो गई और नवाब का हुक्म हुआ कि जमानत भतीजे से ही तलब की जाय।

दूसरे साल कंपनी को फिर जगत्सेठ से सहायता मांगनी पड़ी। मालदा में वहां के जमींदार और कंपनी के बीच झगड़ा हो गया था और बात यहां तक बढ़ी थी कि जमींदार की जगह खुद नवाब ने ले ली थी। कंपनी अपनी कोठी उस जमींदार की जमींदारी की हद से हटा चुकी थी, पर नवाब के हुक्म से राजमहल के फौजदार ने नये स्थान पर भी उसका कारबार चलना असंभव कर दिया। कंपनी ने जगत्सेठ की शरण ली, पर उन्होंने पहले तो इस मामले में उसकी

* विल्सन के ग्रंथ के आधार पर। कुछ नामों के अंगरेजी रूप अत्यन्त ही विकृत हैं।

सिफारिश करने से इन्कार कर दिया, और पीछे कंपनी के बहुत आग्रह करने पर नवाब का जी टटोला भी तो उन्हें उत्तर निराशाजनक ही मिला। अंगरेज अपनी चाल चलने से बाज आने वाले न थे। मालदा में उन्होंने फौजदार की गोली का जवाब गोली से दिया, कलकत्ते से गुजरने वाली तिजारती नावों को उन्होंने रोक रखा, साथ ही मुर्शिदाबाद में जगत्सेठ को यह कहलाते रहे कि व्यापारी के अलावा और कौन व्यापारी के काम आ सकता है? और रो-धो कर नवाब को दयार्द्र कराने की चेष्टा करते रहे। इन सब का फल अच्छा ही हुआ। नवाब ने कुछ समय बाद फतहचन्द के द्वारा कहलाया कि ५०००) पेशकश मिलने पर वह अंगरेजों की बात उनकी जबानी सुनने को तैयार होगा और २०,०००) और मिलने पर वह उन्हें मालदा में फिर से खरीद-बिक्री करने देगा। जान पड़ता है कि १७२५ तक या तो कोई समझौता हो गया था या नवाब की क्रोधाग्नि शान्त हो गई। उस साल कंपनी को फतहचन्द के द्वारा नवाब का यह आश्वासन मिला कि मैं सदा से अंगरेजों का दोस्त रहा हूँ और आगे भी बराबर रहने वाला हूँ।

पर इस 'दोस्ती' के होते हुए भी, १७२६ में मुर्शिदकुली खां के क्रोध की आग फिर धधकने वाली थी, उसे बुझाने के लिए कंपनी फिर फतहचन्द से अर्ज-मिन्नत करने वाली थी। इस बार नवाब के प्रकोप का कारण यह हुआ कि कंपनी के कब्जे में कलकत्ता और उसके पास जो गांव थे, वे नवाब की जागीर के अन्तर्गत थे और इधर उसकी ओर से माल में जो इजाफा किया गया था उसे देने को कंपनी तैयार न थी। इस पर नवाब ने उसके मुर्शिदाबाद-दरबार के वकील को गिरफ्तार करा लिया। वकील के बाद उन व्यापारियों की बारी आई जो कंपनी से कारबार का सम्बन्ध रखते थे। इनमें से कुछ तो कासिमबाजार

छोड़ कर भाग गये, कुछ जहां-तहां जा छिपे। कुछ गिरफ्तार कर लिये गये। कंपनी के दलाल कन्तू ने उसकी फैक्टरी में घुस कर शरण ली। नवाब की जागीर के तहसीलदार का नाम अब्दुल रहीम था। नाम वैसा होते हुए भी वह करदाताओं के साथ बड़ी ही सख्ती से पेश आता—उन पर जरा भी रहम न करता था। मुर्शिदाबाद या कासिमबाजार में जो परिस्थिति उत्पन्न हुई थी उसकी जड़ में यही अब्दुल रहीम था।

जगत्सेठ को कौंसिल ने कई बार लिखा कि आप मेहरबानी कर इस मामले को निबटा दीजिए, पर वह बीच में पड़ने से इन्कार करते गये। कोई सरकारी कार्रवाई होती तो नवाब से कुछ कहने में उन्हें उतना संकोच न होता जितना इस प्रसंग में हो रहा था। बात नवाब की खास जागीर से सम्बन्ध रखने वाली थी, उसके सम्बन्ध में कुछ न कहना ही बेहतर था।

पर अंगरेज चुपचाप बैठे रहने वाले न थे। हुगली में अपने वकील से बादशाह की दुहाई दिलवाकर, वाकयानवीस से उन्होंने ऐसी रपट लिखवाई कि अब्दुल रहीम के कारनामों की खबर दिल्ली-दरबार तक पहुंच जाय। उनका जो वकील मुर्शिदाबाद में था वह हवालात में कोड़ों की मार खा रहा और भूखों मर रहा था। एक बार उसने कासिमबाजार फैक्टरी से १२५) यह लिख कर मांगा कि अगर आप यह रकम भेज देंगे तो मेरे पेट और पीठ को जो यंत्रणा पहुंच रही है, उससे दो-एक दिन के लिए उन्हें नजात मिल जायगी। अंगरेजों से सम्बन्ध रखने वाले व्यापारियों या उनके वकील के साथ जो दुर्व्यवहार मुर्शिदाबाद में हो रहा था उसका बदला वे लूट-पाट या जोर-जबरदस्ती से हुगली और कलकत्ते में लेने लगे थे। देशी व्यापारियों को अपने माल के लुट जाने से गहरी क्षति पहुंची और उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने

मुर्शिदाबाद में गोहार मचा दी। फतहचन्द दो लाख रुपये हुगली भेजने वाले थे, पर नवाब ने कहा कि उधर अंगरेजों ने उत्पात मचा रखा है, अभी कुछ मत भेजें। उसने यह भी कहा कि हो सके तो कासिमबाजार से उनके दलाल कन्तू को बुलवाइए। फैक्टरी से जवाब मिला कि कन्तू जा सकता है, बशर्ते कि उसे लौटने दिया जाय और इसकी जिम्मेवारी फतहचन्द अपने ऊपर ले लें। समझौते की बातचीत होने लगी और अनिच्छुक होते हुए भी फतहचन्द को बीच में पड़ना ही पड़ा।

"हां, तो आप लोग कितना देने को तैयार हैं? आप के वकील और व्यापारी छोड़ दिये जायंगे, आप को मैं यह विश्वास दिला सकता हूँ।"

"धन्यवाद, पर हमें देने-लेने के बारे में कुछ भी तय करने का कोई अधिकार नहीं। हम कौंसिल से पूछे बिना कुछ भी नहीं कह सकते।"

"तो उनसे पूछ कर बताइए।"

"संभवतः वे यही कहेंगे कि पहले सब आदमियों को नवाब छोड़ दें, फिर लेने-देने की बात की जाय।"

"जैसी आप लोगों की मर्जी। मगर मुझे इसका नतीजा अच्छा होता नहीं दीखता।"

नवाब की ओर से जब और कड़ाई हुई तब बात कुछ आगे बढ़ी। जगत्सेठ और ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधियों के बीच फिर उसी सिलसिले में बातचीत होने लगी।

जगत्सेठ की ओर से कहा गया कि नवाब से कंपनी की भलाई ही होती आई है, इसलिए उन्हें अप्रसन्न करना या उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना कंपनी के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता। हो सकता है कि तीस हजार रुपये मिल जाने पर ही वह सन्तुष्ट हो जायं। इससे

यह लाभ होगा कि आप लोग जिस तरह व्यापार करते आये हैं उसी तरह करते रहेंगे और जो राजस्व इस समय दे रहे हैं, उसमें किसी प्रकार की वृद्धि न होगी।

कौंसिल ने इसके उत्तर में कहलाया, "हम अधिक से अधिक बीस हजार देने को तैयार हैं, मगर इस शर्त पर कि हमें मालदा में अपनी फैक्टरी फिर से चलाने की, ढाके में एक नया मकान बनवाने की और हुगली में हमने जिस मकान में हाथ लगा रखा है, उसे पूरा कराने की इजाजत मिल जाय। हमसे यह तो हो नहीं सकता कि हम अपने मालिकों का पैसा पानी में फेंक दें। हमारा सारा व्यापार बन्द हो जाय, हमें यह मंजूर है, पर यह मंजूर नहीं कि हमें बार-बार इस तरह तंग किया जाय और हम चुपचाप उसे बर्दाश्त करते जायं। हमें आशा है कि नवाब की ओर से फिर कभी ऐसी मांग न होगी।"

फतहचन्द के कहने-सुनने पर नवाब ने हुक्म दिया कि कंपनी के वकील और व्यापारी जो कैदखाने में पड़े हैं छोड़ दिये जायं। उन लोगों की रिहाई के प्रायः दो महीने बाद कंपनी ने २०,०००) नजराना दाखिल कर अपना वचन पूरा किया।

इधर एक नई विदेशी कंपनी बंगाल में पांव जमाने की कोशिश करने लगी थी।

इसकी ओर से भी नवाब को २०,०००) नजराना मिला। पर अनुभवहीन होने के कारण, इसके प्रतिनिधि अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त न कर सके। करीब दो लाख रुपये गंवाकर उन्हें वहां से खाली हाथ लौट जाना पड़ा। बात यह हुई कि उन्होंने मुर्शिदकुली खां की भेंट की, उसके कुछ मुसाहबों के मुंह मीठे किये, पर बंगाल में कुछ साल

बिताने पर भी वे जगत्सेठ की आंखों में घर न कर सके। ७ मई, १७२७ को स्टिफेन्सन कासिमबाजार से कौंसिल को सूचित करता है कि, "जब तक फतहचन्द हमारे इन नये प्रतिद्वंद्वियों का पक्ष नहीं अपनाते तब तक उन्हें नवाब से सनद मिलने वाली नहीं, और फतहचन्द हमसे वादा कर चुके हैं कि मैं उन लोगों की किसी प्रकार की सहायता न करूंगा।" बात भी यही हुई। फतहचन्द तटस्थ बने रहे, नई कंपनी की ओर से आने वालों को अन्त में निराश होकर बोरिया-बंधना उठाना पड़ा। नवाब से उन्हें सरोपा तो मिला मगर वह सनद नहीं मिली जिसके लिए उन्होंने दरबार में इतना समय बिताया, इतना पैसा खर्च किया।

जगत्सेठ की कोठी में ईस्ट इंडिया कंपनी का खाता खुल चुका था और दोनों के बीच लेन-देन का व्यवहार होने लगा था। २८ मार्च, १७२६ को फतहचन्द से कंपनी अनुरोध करती है कि ढाके में हमें रुपये की जरूरत पड़ने वाली है, आप कृपा कर अपने गुमाश्ते को लिख दें कि हमारी ओर से जो मांग हो, वह पूरी कर दे। जवाब में फतहचन्द सूचित करते हैं कि हमने अपने गुमाश्ते को लिख दिया है कि आप को ५०,०००) दे दे। २९ सितम्बर, १७२६ को कंपनी के कर्मचारी ढाके से लिखते हैं कि "इधर टकसाल में अधिकारियों के अदल-बदल की वजह से हमें काफी दिक्कत उठानी पड़ी है, पर हम फतहचंद के गुमाश्ते के साथ बन्दोबस्त कर अपना काम चलाते आये हैं।"

जून, १७२७ में मुर्शिदकुली खां की मृत्यु हुई। मरने से दो बरस पहले उसने, महल से थोड़ी ही दूर पर एक मसजिद बनवाई थी। यह एक कटरे के भीतर थी और कटरा-मसजिद के नाम से मशहूर थी। उसी मसजिद के जीने के नीचे उसकी लाश को मिट्टी मिली। मसजिद

का अधिकांश भाग खुद मिट्टी में मिल चुका है, पर मुर्शिदकुली खां की कब्र मौजूद है और उसके पास शायद अब भी नियमित रूप से कुरान का पाठ होता है।

इसमें संदेह नहीं कि मुर्शिदकुली खां कठोर था, क्रूर था और धर्म-सम्बन्धी विषयों में अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि वाला कट्टर मुसलमान था। पर कुछ बातें उसकी प्रशंसा में भी कही जा सकती हैं। अपने कड़े अनुशासन से उसने शान्ति को सदा सुरक्षित रखा और इसके फलस्वरूप उसके शासन-काल में खेती-बारी तथा अन्य उद्योग-धंधों की अच्छी उन्नति हुई। आदमियों की उसे अच्छी परख थी और जिनके सहयोग की उसे आवश्यकता होती, उन्हें अपने साथ स्नेह-सूत्र में आबद्ध रखने के कार्य में भी वह कुशल था। मानिकचन्द और उनके उत्तराधिकारी के साथ उसने स्वामी ही नहीं, मित्र का-सा भी व्यवहार रखा। जहां उसकी दया-दृष्टि से सेठ-परिवार इतना फूला-फला, वहां इसके आर्थिक सहयोग और साहाय्य से मुर्शिदकुली खां भी कम उपकृत नहीं हुआ।

मालूम नहीं इस बात में कितनी सचाई है, पर कहा जाता* है

* उदाहरणार्थ, "रियाजुस्सलातीन" का लेखक गुलाम हुसैन सलीम लिखता है कि, "जहां न्याय करना होता, वहां मुर्शिदकुली खां न तो किसी का पक्षपात करता, न किसी के साथ रिआयत। उसके लिए छोटे-बड़े सभी एक-से थे और न्याय के तराजू का पल्ला वह किसी धनवान् या प्रभावशाली व्यक्ति के पक्ष में झुकने न देता था। यह प्रसिद्ध है कि अपने पुत्र को भी, किसी को सताने और मार डालने का अपराधी साबित होने पर वह फांसी की सजा देने से बाज न आया।" पर इस ग्रंथ की रचना बहुत बरसों बाद हुई थी। वास्तव में इस घटना का पूरा या प्रामाणिक विवरण कहीं नहीं मिलता।

कि मुर्शिदकुली खां इतना न्याय-परायण था कि किसी की जान ले लेने के कारण उसके अपने पुत्र को भी जान से हाथ धोना पड़ा था। इतना निश्चित है कि मरते समय मुर्शिदकुली खां के कोई बेटा नहीं था। उसकी बेटी जीनतुन्निसा बेगम शुजाउद्दौला उर्फ शुजा खां नामक सरदार को ब्याही थी, जिसे वह उड़ीसा की सूबेदारी दिला चुका था। ससुर और दामाद की आपस में नहीं बनती थी, बल्कि शुजाउद्दौला की बेगम भी अपने पिता के ही घर रहती थी।

(२)

मुर्शिदकुली खां की इच्छा थी कि उसका उत्तराधिकारी शुजाउद्दौला न होकर इसका बेटा सरफराज खां हो, जो अपनी मां के साथ मुर्शिदाबाद में ही रहने लगा था। पर यह इच्छा तभी पूरी हो सकती थी जब सम्राट् से इसकी स्वीकृति मिल जाती। इसके लिए मुर्शिदकुली खां दिल्ली-दरबार में सिफारिश कराने लगा। उधर शुजाउद्दौला को इस बात की खबर मिली तो वह सम्राट् का निर्णय अपने पक्ष में कराने के लिए समयोचित कार्य्य करने लगा। उसके खास सलाहकार थे अलीवर्दी खां और हाजी अहमदा ये दोनों उसके एक रिश्तेदार के लड़के थे और दोनों ही ऊंचे दर्जे के कर्मचारियों में थे। इनकी सलाह से कुछ ऐसे पैरोकार दिल्ली भेजे गये, जिनका पूरा एतबार किया जा सकता था और, इसके अलावा, कटक से मुर्शिदाबाद तक जासूसों का जाल-सा बिछा दिया गया, ताकि बंगाल की राजधानी की घड़ी-घड़ी की खबर मिलती रहे। बरसात करीब थी, रास्ता बंद हो जाने का डर था, इसलिए नावों और मल्लाहों को जुटाने का काम बड़ी ही तत्परता से पूरा कर लिया गया। गुप्त रूप से जहां-तहां सैनिक भी भेज दिये गये

और उनसे कह दिया गया कि आदेश मिलते ही सब के सब मुर्शिदाबाद पहुँच जायँ। ज्योंही यह समाचार कटक पहुंचा कि मुर्शिदकुली खां अब पांच-छः दिनों से अधिक जीवित रहने वाला नहीं, शुजाउद्दौला वहां से लश्कर के साथ चल पड़ा। पर मुर्शिदाबाद पहुंचने से पहले ही खबर मिली कि उसके ससुर दुनिया से कूच कर चुके हैं। रास्ते में ही उसे वह सनद भी प्राप्त हुई, जिसके द्वारा सम्राट् ने उसे उड़ीसा तथा बंगाल का दीवान और नाजिम नियुक्त कर दिया था। जिस स्थान पर उसे यह सनद मिली उसका नाम उसके हुक्म से 'मुबारक मंजिल' पड़ा। शुजाउद्दौला को मुर्शिदाबाद पहुंचते देर न लगी। पहुंचते ही उसने अपने आप को मुर्शिदकुली खां का उत्तराधिकारी घोषित किया और मसनद पर जा बैठा। उसका बेटा सरफराज खां उस समय सोया हुआ था। नगारे की आवाज से जब उसकी नींद टूटी और सब बातें मालूम हुईं, तब आन्तरिक भाव चाहे जो रहा हो—उसने भी झट पिता के सामने हाजिर होकर उसकी कदमबोसी की और नजर पेश कर उसे बधाइयां दीं। सब प्रकार से निश्चिन्त होकर शुजाउद्दौला अब राज-काज में लगा।

कटक से उसके साथ आने वालों में अलीवर्दी खां, हाजी अहमद और राय आलमचन्द थे। यह आलमचन्द उसके दीवान रह चुके थे और उसकी दृष्टि में बड़े विश्वासपात्र थे। उसने मुर्शिदाबाद में एक मंत्रि-सभा कायम की, जिसके सदस्यों में, इन तीनों व्यक्तियों के अलावा, जगत्सेठ फतहचन्द थे। इस बात का जिक्र करते हुए एक समसामयिक इतिहास-लेखक, जगत्सेठ के विषय में लिखता है कि, "इसका धन करोड़ों में बताया जाता था" और "इसकी बराबरी करने वाला आज तक कोई नहीं हुआ"।

नैतिक दृष्टि से, शुजाउद्दौला में कुछ कमजोरियां जरूर थीं और यही कारण है कि उसकी अपनी स्त्री और अपने ससुर से नहीं बनी—पर उसमें उदारता थी, दयाशीलता थी और न्याय-परायणता थी। जिस समय वह बंगाल का नाजिम और दीवान हुआ, उस समय बहुत से जमींदार कैदखाने में पड़े तरह-तरह की यंत्रणाएँ भोग रहे थे। जो घोर अपराध करने वाले थे उनके सिवाय बाकी लोग छोड़ दिये गये और शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करने पर कि हम बराबर आज्ञाकारी बने रहेंगे और नियमित रूप से राजस्व देते जायंगे, सब के सब सम्मानपूर्वक बिदा किये गये। चलते समय नये नवाब से उन्हें यही आदेश मिला कि साल-ब-साल खिराज "जगत्सेठ की कोठी की मार्फत" दाखिल हो जाया करे।

शुजाउद्दौला ने अपने औरस पुत्र सरफराज खां को बंगाल का दीवान बनाया। उड़ीसा में वह मुहम्मद तकी खां को अपने प्रतिनिधि के रूप में छोड़ आया था। यह उसका किसी उपपत्नी से उत्पन्न पुत्र था। अलीवर्दी खां के कोई बेटा न था, पर तीन बेटियां थीं जिनका विवाह उसके भाई हाजी अहमद के बेटों के साथ हुआ था। इनके नाम थे—नवाजिश मुहम्मद खां, सईद अहमद खां और जैनुद्दीन अहमद खां। पहले को तो फौज के बख्शी का पद मिला और बाकी दोनों क्रमशः रंगपुर तथा राजमहल के फौजदार नियुक्त हुए।

बंगाल और उड़ीसा, इन दोनों सूबों के शासक का पद शुजाउद्दौला को मिल चुका था। पूरब में रह गया था बिहार जिसकी सूबेदारी अब तक अलग चली आई थी। हम ऊपर देख चुके हैं कि किसी समय वहां का सूबेदार औरंगजेब का पोता अजीमुश्शान था, और जब अपने पिता बहादुरशाह के समय में उसे पटने से दूर रहना

पड़ा था तब कुछ समय तक हुसैन अली खां ने वहां उसके नायब की हैसियत से काम किया था। उसके बाद कई सूबेदार आये-गये। इनमें अन्तिम था फख्रुद्दौला, जिसने पांच बरस तक सूबेदारी की। दुर्भाग्यवश उसने दिल्ली-दरबार में अपनी बदनामी करा ली, जिसका नतीजा यह हुआ कि उसे तो सूबेदारी से हाथ धोना ही पड़ा, बिहार अब बंगाल के सूबेदार के अधीन कर दिया गया। अगर फख्रुद्दौला एक ऐसे 'फकीर' का अपमान न करता जो वास्तव में दरबार के प्रभावशाली पारषद समसामुद्दौला खान दौरां का भाई था तो बिहार को बंगाल का पुछल्ला न बनना पड़ता, और उस रूप में प्रायः १८० साल न बिताने पड़ते। यह इस बात का उदाहरण है कि भवितव्यता की दिशा में तिल की ओट ताड़ तो क्या, पहाड़ छिपा रहता है--छोटी या साधारण-सी घटना भी कभी-कभी ऐसी बड़ी ऐतिहासिक घटना को जन्म देने वाली बन जाती है, जो बरसों तक जनता के जीवन को प्रभावित करती रहती है।

बिहार की सूबेदारी मिल जाने पर, शुजाउद्दौला के सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ कि वहां उसका प्रतिनिधित्व कौन करे? उस प्रान्त के शासन का काम टेढ़ी खीर समझा जाता था, इसलिए वहां अनुभवी और पूर्णतः विश्वसनीय आदमी को भेजना आवश्यक था। पहले उसके जी में आया कि सरफराज खां को भेज दूं, पर उसकी स्त्री को यह स्वीकार न हुआ, इसलिए सोच-विचार कर उसने अलीवर्दी खां को भेजना निश्चित किया। मंत्रि-सभा की भी यही राय ठहरी कि उससे योग्यतर व्यक्ति मिलना कठिन है। दिल्ली से भी इस नियुक्ति की स्वीकृति आ गई और अलीवर्दी खां पटने जाकर नायब नाजिम की हैसियत से रहने लगा।

शुजाउद्दौला के शासन-काल में जगत्सेठ-धराने की और भी तरक्की हुई। बिहार का राजस्व भी अव उन्हीं की कोठी में दाखिल होने लगा और इस मद से होनेवाली उनकी अपनी आय बढ़ चली। "रियाज" में लिखा है की शुजाउद्दौला ने अपनी आर्थिक नीति से सरकारी आय में वृद्धि कर "जगत्सेठ फतहचन्द की कोठी की मार्फत डेढ़ करोड़ रुपये दिल्ली भेजे।"

जान पड़ता है कि इतनी बड़ी रकम अब छकड़ों के द्वारा न भेजी जाकर हुंडी के जरिए मुर्शिदाबाद से दिल्ली जाने लगी थी—अर्थात् जगत्सेठ का आर्थिक बल इतना बढ़ गया था कि वह करोड़-डेढ़-करोड़ का इस तरह आसानी से भुगतान कर सकते थे और रुपयों तथा अशर्फियों की थैलियों से लदे हुए छकड़ों को मुर्शिदाबाद से दिल्ली पहुंचाने में जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ता, उनसे सरकार को बचा सकते थे।

ऊपर कंपनी के कासिमबाजार वाले दलाल कन्तू* का जिक्र हो चुका है। यह भी जगत्सेठ की कोठी से लेन-देन का सरोकार रखता था और १७३० में उस लेन-देन के कारण जगतसेठ और ईस्ट इंडिया

---

*क्या कासिमबाजार राज की नींव डालने वाले कृष्णकान्त नन्दी—उर्फ 'कन्तू बाबू'—और यह एक ही व्यक्ति थे? कन्तू बाबू राधाकृष्ण नन्दी के पुत्र थे और इनके पिता की कासिमबाजार में या उसके पास ही कहीं रेशम की दूकान थी। इन्होंने वारन हेस्टिङ्ग्स के गवर्नर-जनरल होने के बाद विशेष उन्नति की। हेस्टिङ्ग्स कुछ समय तक कासिमबाजार में रह चुका था। उसने इनके बेटे लोकनाथ को महाराज की उपाधि और गाजीपुर जिले में जागीर भी दिलाई। १७७८ में कन्तू बाबू परलोक सिधारे।

कंपनी के बीच वाद-विवाद ही नहीं चला,दोनों का सम्बन्ध टूटने पर आ गया।

कन्तू कंपनी के लिए कासिमबाजार में रेशम खरीदा करता। एक बार वह सौदा करने चला तो माल बेचनेवालों को अगाऊ देने के लिए उसके पास काफी रुपया न था। पर उसकी साख बहुत अच्छी समझी जाती, इसलिए वह जब चाहता, जगत्सेठ की कोठी से कर्ज लेकर अपना काम चला सकता था। इस मौके पर भी उसने ऐसा ही किया। पर मालूम नहीं क्यों, वह समय पर अपना देना न चुका सका। संभवतः कंपनी ने अपना देना चुकाने में देर या आनाकानी की। कन्तू थोड़े समय के लिए लापता हो गया। व्यापारियों ने यह कहकर कंपनी के हाथ माल बेचने से इन्कार कर दिया कि जब तक फतहचन्द का हिसाब नहीं चुक जाता, हम लोग कंपनी के साथ काम-काज नहीं कर सकते। कासिमबाजार में कंपनी का कारबार बन्द हो गया। वहां वालों ने कौंसिल को लिखा कि जब तक जगत्सेठ के साथ कोई समझौता नहीं हो जाता तब तक परिस्थिति सुधरने वाली नहीं।

कुछ समय बाद कन्तू कासिमबाजार लौटा। हिसाब-किताब होने पर मालूम हुआ कि वह सब मिलाकर ३७८,०००) का देनदार था। जगत्सेठ तथा कुछ अन्य व्यापारियों का उसके जिम्मे २४५,०००) निकला और कंपनी का १३३,०००)। कन्तू ने २७२,०००) की जायदाद कंपनी के हवाले कर दी—यह कहकर कि इससे अधिक कुछ भी देने में मैं असमर्थ हूँ। जगत्सेठ की ओर से तकाजा शुरू हुआ। कन्तू ने कुछ कागज-पत्र उन्हें सौंप दिये थे। कंपनी उनकी नकल कराना चाहती थी, पर जगत्सेठ की ओर से यही उत्तर मिला कि, "हमने कन्तू को जो कुछ दिया,उसे कंपनी का प्रतिनिधि मान कर

और कंपनी के कार-बार के लिए। कंपनी पहले उस रुपये की देनदारी कबूल कर ले, फिर जो कागजपत्र देखना चाहेगी, हम उसे देखने देंगे।" पर कंपनी यही कहती रही कि हमको इस प्रकार बाध्य करने का कन्तू को कोई अधिकार न था—उसने जो कुछ लिया उसका देनदार वही हो सकता है।

जगत्सेठ की ओर से इस विषय में कौंसिल को एक खत लिखा गया। उसका आशय यह था, "कन्तू के जिम्मे हमारा २१५,०००) पावना है। हमने अपने गुमाश्ता जीवनदास को आपकी फैक्टरी में भेजा था। वहां उतर मिला कि कन्तू कलकत्ते गया हुआ है, आपका हिसाब शीघ्र ही चुकता कर दिया जायगा। पर तब से बीस रोज हो गये, आज तक रुपया न मिला। कंपनी लेन-देन में खरी समझी जाती थी–जो कुछ उसके जिम्मे निकलता था, वक्त पर अदा कर देती थी। पर इस टाल-मटूल से उसकी बदनामी हुई है। हम आशा करते हैं कि जब कंपनी और कन्तू के बीच हिसाब-किताब साफ हो चुका, तब व्यापार के नियमानुसार हमारा पावना भी शीघ्र ही चुका दिया जायगा।"

जगत्सेठ ने कासिमबाजार फैक्टरी के सरबराहकार मि० स्टैकहौस से एक व्यावहारिक प्रस्ताव भी किया। इसका सारांश यह था कि, "कन्तू से कंपनी को २७२,०००) की सम्पत्ति मिल चुकी है। कंपनी इतने रुपये की देनदारी का हमारे नाम एक रुक्का लिख दे। ५०,०००) का एक और रुक्का हम कन्तू से लिखा लेंगे। उसका देनदार कन्तू ही होगा, कंपनी नहीं। इस प्रकार हम ३२२,०००) पाने के हकदार होंगे। बदले में हम अपना पावना काट कर, कंपनी को करीब ८०,०००) नकद दे देंगे और दूसरों का भी जो कुछ निकलेगा, बेबाक कर देंगे। शर्त यह है कि कंपनी कन्तू को आगे के लिए भी अपना दलाल रहने

देगी।" पर इस प्रस्ताव का कोई नतीजा न निकला। कंपनी को कसर खाकर जगत्सेठ का देनदार बनना स्वीकार न हुआ।

लाचार फतहचन्द को सरकार का सहारा लेना पड़ा। नवाब ने हाजी अहमद को हुक्म दिया कि चाहे जैसे हो, कंपनी से इनका रुपया वसूल करा दो। हाजी अहमद ने हुक्म की तामील के लिए पहले तो कंपनी के वकील को गिरफ्तार करा लिया, फिर उसे कहलाया कि, "जगत्सेठ की सम्पत्ति, सम्राट् की अपनी सम्पत्ति है। चाहे जैसे होगा, नवाब रुपया वसूल करा के ही दम लेगा।" यह रंग-ढंग देखकर कंपनी इस बात पर तो राजी हो गई कि जगत्सेठ से कोई समझौता कर लिया जाय, पर वह कन्तू को दलाल रखने से इन्कार करने लगी। उधर जगत्सेठ को कोई भी समझौता इस आधार पर मंजूर न था कि कन्तू उस पद से च्युत कर दिया जाय, क्योंकि उस हालत में कन्तू के नाम पड़ने वाली रकम को बट्टे खाते में ही डाल देना पड़ता। कंपनी ने दो-एक बड़े व्यापारियों को दलाल का पद प्रदान तो किया, पर उन्होंने यह कह कर उसे अस्वीकार कर दिया कि मौजूदा हालत में कोई भी व्यापारी माल बेचने को तैयार नहीं। ढाके में भी यही हाल था। कंपनी को वहां से खबर मिली कि जगत्सेठ से झगड़ा हो जाने के कारण वहां का व्यापार भी मिट्टी में मिलने पर था। इधर हाजी अहमद की त्योरी चढ़ने लगी थी, यह अफवाह उड़ने लगी थी कि अगर कंपनी ने जगत्सेठ का ऋण न चुकाया तो वह व्यापार ही न कर सकेगी।

कौंसिल ने नवाब की सेवा में एक आवेदन-पत्र भेजना निश्चित किया। सारी परिस्थिति के सम्बन्ध में उसका विचार क्या था, यह उसके द्वारा स्वीकृत इस प्रस्ताव से स्पष्ट हो जाता है—"अगर नवाब हमारी दरख्वास्त नामंजूर कर देंगे तो उनके और हमारे बीच

झगड़ा उठेगा और हमारा व्यापार कुछ समय के लिए बंद हो जायगा। पर हम करें तो क्या ? हमारे सामने दो ही मार्ग हैं–या तो हम अपनी बात पर अड़े रहें या फतहचन्द की बात मानकर कन्तू को फिर अपना दलाल बनने दें। हमारे लिए दोनों ही रास्ते बुरे हैं, पर एक में दूसरे की अपेक्षा बुराई कम है। यही कारण है कि हम नवाब का कोप-भाजन बनने को तैयार हैं, पर फतहचन्द का प्रस्ताव स्वीकार करने को नहीं। अगर कन्तू फिर कंपनी का दलाल हो गया तो वह इसके लिए आजन्म फतहचन्द का ऋणी रहेगा और फतहचन्द उससे मनमाना काम निकाला करेंगे। आखिर फतहचन्द कन्तू की पुनर्नियुक्ति पर इतना जोर क्यों दे रहे हैं ? इसमें उनकी कोई गहरी चाल जान पड़ती है। व्यापारियों से कन्तू को १।।) सैकड़ा दलाली मिलती है। फतहचन्द और उसके दोस्तों का कहना है कि अगर कन्तू की यह दलाली बनी रही तो वह धीरे-धीरे अपना सारा कर्ज चुका देगा। मगर कैसे ? उसकी साल भर की दलाली किसी भी हालत में १२०,०००) से ज्यादा हो नहीं सकती। उधर कंपनी का दलाल होने के कारण उसे कुछ ठाट-बाट से रहना ही पड़ेगा। उसका कुटुम्ब भी छोटा नहीं, ऐसी हालत में उतनी आमदनी से तो उसका अपना ही खर्च चलना मुश्किल है, वह महाजनों को क्या दे सकगा ? कन्तू की नियुक्ति से हमारा कोई लाभ होने वाला नहीं। वल्कि इससे हमारे ऊपर आफत बनी ही रहेगी। जहां किसी महाजन ने फरियाद की कि कन्तू कर्जदार है, वहां दरवार से हुक्म हुआ कि कंपनी से रकम वसूल की जाय और न दे तो उसका कार-बार बन्द कर दिया जाय। हमें जान पड़ता है कि फतहचन्द किसी गूढ़ अभिप्राय से ही कन्तू को उसकी पुरानी जगह दिलाना चाहते हैं। संभवतः उनके और व्यापारियों के बीच कोई ऐसा समझौता है कि कन्तू की मार्फत जो

रेशम की खरीदारी होगी, उसका वह बाजार-भाव से ऊंचा दाम दिला देंगे। पर इसमें फतहचन्द का और व्यापारियों का लाभ भले ही हो, हमारे मालिकों की तो हानि ही हानि है। अगर कन्तू फिर से दलाल नियुक्त हुआ तो हमारा व्यापार चौपट हुए बिना न रहेगा।"

कंपनी के आवेदन-पत्र के उत्तर में नवाब ने यही लिखवाया कि अगर तुम देनदार हो तो जगत्सेठ का रुपया फौरन चुका दो, अगर तुम अपनी देनदारी कबूल नहीं करते तो दरबार में कन्तू को हाजिर करो कि मामला पंचायत से तै हो जाय। कौंसिल ने एक खत जगत्सेठ को भी लिखा था, पर उन्होंने उसे पढ़कर लौटा दिया था, उसका कोई जवाब नहीं दिया था।

कंपनी ने न तो अपनी देनदारी कबूल की, न कन्तू को ही हाजिर किया। बात यह थी कि कन्तू के बयान से कंपनी की मुसीबत बढ़ने वाली थी, घटनेवाली नहीं। वह कौंसिल को अपने आर्थिक संकट का कारण बता चुका था और अगर दरबार में पेश किया जाता तो अपनी उसी बात को दोहराता और कंपनी की बदनामी करता। कन्तू ने कौंसिल को लिखा था—

"कासिमबाजार फैक्टरी के भूतपूर्व प्रधान मि० स्टिफेन्सन ने मुझे डरा-धमका कर मुझसे बहुत-कुछ ऐंठ लिया। मुझे उन्हें सब मिलाकर १७५,०००) देना पड़ा और उनके मुतसद्दी को ७,०००)। इससे मेरी आर्थिक स्थिति खराब हो गई और मुझे टाट उलट देना पड़ा। अगर मि० स्टिफेन्सन के दोनों दलाल—हरकिशन और सदानन्द अपने बही-खातों के साथ बुलवाये जायं और उनके बयान लिये जायं तो मेरी बात की सचाई साबित हो जायगी। मेरी बरबादी छः नहीं, छत्तीस

महीनों में हुई है। जब मैंने देखा कि कर्ज लिये बिना मैं अपनी रक्षा नहीं कर सकता, तब मुझे जगत्सेठ की कोठी से इतना उधार लेना पड़ा।"

कन्तू ने यह लिखकर दर्ख्वास्त की थी कि कौंसिल सारे मामले की जांच करावे और मेरे साथ न्याय करे। पर जांच कराई भी गई तो काम के लिए नहीं, नाम के लिए। कन्तू जो दाद चाहता था वह उसे न मिली और वह दरबार तक अपनी फरियाद पहुंचाने से भी रह गया।

इस बीच में मुर्शिदाबाद के दो बड़े महाजनों ने झगड़ा निबटा देने के उद्देश से एक प्रस्ताव किया। वह प्रस्ताव यह था कि चूंकि कन्तू से २,७२,०००) की जायदाद कंपनी को मिल चुकी थी, कंपनी ८०,०००) तो अपने लिए रख ले और १,९२,०००) किसी दलाल के हवाले कर दे, और यह दलाल उस रकम को, और महाजनों के बीच कर्ज के हिसाब से बांट कर, यह किस्सा खतम करे। पर कौंसिल ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसकी खास दलील यह थी कि जायदाद २,७२,०००) की जरूर बताई गई है, पर संभव है, बेचने पर उतना न मिले—"कम से कम ५०,०००) का नुकसान तो मान ही लेना चाहिए!" उधर कन्तू का कहना था कि जायदाद की कीमत एक पैसा भी कम मिलने की नहीं। झगड़ा बना ही रहा।

कासिमबाजार में काम-धंधा न होने के कारण कंपनी के कर्मचारी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। वे कौंसिल को लिखते कि मामला तै हो जाना चाहिए—बड़े स्वार्थ के लिए हमें छोटे स्वार्थ का बलिदान कर देना चाहिए—पर कौंसिल अपनी नीति की विफलता जल्द स्वीकार करने वाली न थी। कभी वह सरफराज खां को खुश कर अपना काम निकालना चाहती थी, कभी अपने प्रतिनिधियों को हाजी अहमद और राजरायां

आलमचन्द के पास भेजकर उनसे अपनी सिफारिश कराना चाहती थी। एक खासा अच्छा घोड़ा शाहजादे को भेंट किया गया, हाजी अहमद और आलमचन्द के सामने आंसू बहाये गये, पर इनका कोई नतीजा न निकला। उसे सब यही सलाह देते गये कि कंपनी को बंगाल, बिहार या उड़ीसा में रहना और व्यापार करना है तो फतहचन्द से समझौता कर ही लेना चाहिए।

अप्रैल (१७३०) में यह झगड़ा शुरू हुआ और अक्टूबर से पहले न निबटा। पांच-छः महीनों तक वाद-विवाद बना ही रहा। इस बीच में कंपनी की ओर से कासिमबाजार में माल की खरीद-बिक्री की कोशिश हुई भी तो किसी व्यापारी को सौदा करने का साहस न हुआ। फतहचन्द धीर-गंभीर थे, पर उनकी सहनशीलता की भी एक हद थी। जब उन्हें मालूम हो गया कि कौंसिल को दूसरे महाजनों का किया हुआ प्रस्ताव भी मंजूर न था, तब पानी में एक बार उबाल आया और उन्होंने कौंसिल का सन्देश पहुंचाने वाले कर्मचारी से तमक कर कहा "मैं इतना कमजोर नहीं कि कंपनी से कौड़ी-कौड़ी वसूल न कर लूं। उसे बाद को मालूम होगा कि हमारे क्रोध से उसकी कितनी हानि हो सकती है।"

नवाब का भी धैर्य जाता रहा। उसने कंपनी को कहलाया कि, "जगत्सेठ का पावना सरकार का अपना पावना है" और यह धमकी दी कि पटने से आनेवाली नावें आगे बढ़ने न दी जायंगी। फिर भी कौंसिल का निश्चय न बदला। अधिक से अधिक वह फतहचन्द को कन्तू की जायदाद का एक हिस्सा देने को तैयार थी और जब इस पर समझौता न हो सका, तब उसने कासिमबाजार के कर्मचारियों को आदेश दिया कि फैक्टरी में ताला लगाकर वहां से चल दो। उन्होंने

ऐसा ही किया, पर नवाब पर इसका कुछ भी असर न पड़ा। उसने कंपनी के वकील को बुलवाया और उससे कहा कि, "तुम्हारे मालिक आप अपना नुकसान करने चले हैं तो करें, उन्हें रोकता ही कौन है ? यहां के अंगरेज जहां जाना चाहते हों जायं। मैं तुम्हें भी उनके साथ जाने की इजाजत दे सकता हूँ। पर यह नहीं हो सकता कि मैं फतहचन्द की रकम डूब जाने दूं।" यह कह कर उसने वकील की रिहाई का हुक्म दे दिया।

जान स्टैकहौस ८ सितम्बर को कलकत्ते पहुंचा। कुछ और कर्मचारी वहां पहले ही पहुंच चुके थे। फिर से सारी परिस्थिति पर विचार हुआ और यह निर्णय हुआ कि जो लोग कासिमबाजार से आ गये हैं वे वहां लौट जायं और फतहचन्द से समझौता कर माल खरीदना शुरू कर दें। समझौते के संबंध में कौंसिल का आदेश हुआ कि फतहचन्द को रुपये में ।।)—अर्थात् कुल १०७,५००)—दे कर मामला तै कर सकते हो। पर कन्तू को फिर दलाल की जगह देना कौंसिल को मंजूर न हुआ। स्टैकहौस भी उसके पक्ष में न था। उसने कासिमबाजार के एक और ही व्यापारी की सिफारिश की थी। इसका नाम बड़दत्त था और इसी को दलाल नियुक्त करना कौंसिल ने निश्चित किया।

अन्त में मामला १३०,०००) पर तै हो गया। २० अक्टूबर (१७३०) को फतहचन्द ने यह लिखकर दे दिया कि—

"मैं जगत्सेठ इकरार करता हूँ कि, अंगरेजों के कासिमबाजार के दलाल कन्तू और मेरे बीच हिसाब-किताब साफ हो गया और उसके ज़िम्मे मेरा जो कुछ पावना निकला, उसे कासिमबाजार फैक्टरी के प्रधान मि० स्टैकहौस न बेबाक कर दिया। अब अंगरेज कंपनी या कन्तू के जिम्मे मेरा कुछ भी बाकी न रहा, लेहाजा यह फारखती लिख दी।"

फतहचन्द ने इसके कुछ ही दिन बाद मि० स्टैकहौस और मि० रसल को साथ ले जाकर नवाब से मिलाया। पर उनके दिल में फरक आ गया था। इसलिए कंपनी की विशेष सहायता करने से उन्होंने हाथ खींचना शुरू कर दिया। ढाके में कंपनी उनके गुमाश्ते से फिर कुछ कर्ज ले चुकी थी। जब गुमाश्ता तकाजा करने लगा, तब कंपनी के कर्मचारियों ने कौंसिल पर हुंडी कर उसका हिसाब चुकाया। जनवरी १७३१ की कलकत्ता-कौंसिल की रोकड़ बही में उस हुंडी के भुगतान का जिक्र है:—

"ढाके के प्रधान और उसकी कौंसिल द्वारा की हुई हुंडी का भुगतान, फतहचन्द आनन्दचन्द को—

	३०,०००)
बट्टा १४।=) ५ पाई सैकड़ा	४,३२०)
	३४,३२०)"

१३ मई को कासिमबाजार का प्रधान कौंसिल को अपनी आर्थिक स्थिति से अवगत कर कुछ रुपया मांगता है क्योंकि "फतहचन्द कुछ भी देने को तैयार नहीं।"

फर्रुखसियर ने फरमान-द्वारा कंपनी को निःशुल्क व्यापार करने का अधिकार दे दिया था, पर नये बादशाह मुहम्मद शाह को कंपनी ने न तो नजराना भेजा था, न उसकी स्वीकृति ही प्राप्त की थी। यों तो पहले भी उसकी ओर से इस अधिकार का दुरुपयोग हुआ करता था, पर इधर व्यापार बढ़ने के साथ वह दुरुपयोग भी बढ़ चला था। यह दुरुपयोग इस प्रकार होता कि दूसरे व्यापारी भी कंपनी के किसी बड़े अधिकारी की मुट्ठी गरम कर उसका दस्तक या परवाना हासिल

कर लेते और अपने माल को कंपनी का माल बताकर शुल्क लेने-देने का कोई सवाल ही नहीं खड़ा होने देते। सरकार को इससे बड़ी आर्थिक हानि होने लगी थी। उसके कर्मचारी कहीं रोक-टोक करते भी तो या तो घूस देकर उन्हें चुप कर दिया जाता या—अगर वे घूसखोर न हुए तो—धींगा-धींगी से उनकी मांग विफल कर दी जाती। नावों द्वारा जो माल जाया-आया करता उसके साथ सशस्त्र गोरे सैनिक भेजे जाते और कभी-कभी ये सैनिक 'चोरी और सीनाजोरी' वाली कहावत चरितार्थ कर बैठते।१७३१ में दो विभिन्न अवसरों पर गोरों ने गोलियां चला दीं। एक जगह तो दो सरकारी सिपाही मारे गये और दूसरी जगह, गोली का जवाब गोली से ही मिलने के कारण, एक गोरा सिपाही। इन घटनाओं के कारण शुजाउद्दौला का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। उसने कंपनी के वकील से सफाई तलब की और कहा कि अंगरेजों की यही चाल-ढाल रही और हमारी प्रजा या हमारे कर्मचारियों के साथ वे इसी तरह पेश आते रहे तो समझ लो कि उनकी खैरियत नहीं। कासिमबाजार वालों ने नवाब का क्रोध शान्त करने के लिए तरह-तरह के उपायों का अवलम्बन किया, पर उन्हें सफलता न मिली। नवाब ने हुक्म दिया कि मुहम्मद शाह के शासन-काल के प्रारम्भ से आज तक, चुंगी का हिसाब कर, सारी रकम कंपनी से वसूल की जाय। अंगरेजों के वकील ने दरबार में जाकर कुछ निवेदन करना चाहा तो उसे वहां जाने की इजाजत ही नहीं मिली। हाजी अहमद से मिलकर उसने जानना चाहा कि नजराने से नवाब की नजर बांधी जा सकती थी या नहीं तो उसे यही उत्तर मिला कि जनाब, आप वह नजराना अपने ही पास रखिए, हम तो बादशाह का हुक्म तामील करने जा रहे हैं।

पहले तो अंगरेजों को यह आशा थी कि शाहजादा सरफराज खां इस मौके पर उनकी मदद कर उन्हें आफत से बचा लेगा, लेकिन थोड़े ही समय में उन्हें यह भान हो चला कि फतहचन्द की शरण गये बिना उनका उबार होने वाला न था। २० अक्टूबर को कासिमबाजार वाले लिखते हैं कि—

"हमें यहां के कितने ही आदमियों से मालूम हुआ है कि फतहचन्द की बेरुखी ने ही हमारी समस्या जटिल कर दी है। हमारा विश्वास है कि जब तक वह हमारी सिफारिश नहीं करते, यह समस्या हल होने वाली नहीं। दो रोज हुए, हमने उनका दिल टटोला था। हमारी ओर से एक व्यक्ति ने जाकर पूछा कि, आप अंगरेजों के पुराने दोस्त हैं, क्या वे आशा कर सकते हैं कि आप फिर एक बार उन्हें बचा देने की उदारता दिखायेंगे? फतहचन्द ने इसका रूखा-सूखा जवाब यही दिया कि मैं न तो अंगरेजों का दोस्त हूं, न दुश्मन। अन्त में उन्होंने इतना कहा कि अंगरेज अपने किसी विश्वसनीय प्रतिनिधि को भेजें तो मैं उसे नवाब से और उसके अधिकारियों से मिला दूंगा, पर अपनी ओर से मैं उनके पक्ष में कुछ भी न कहूंगा। हमारा खयाल है कि कन्तू वाले मामले में फतहचन्द की जो क्षति हुई थी उसकी वे हम लोगों से पूर्ति कराना चाहते हैं। वह अपनी जबान से तो ऐसा न कहेंगे, मगर उनके दिल की बात यही है, और जब तक हम क्षति-पूर्ति नहीं कर देते, उनका रुख बदलने वाला नहीं। यह जरूर है कि अगर हमने उनका नुकसान पूरा कर दिया तो वह फिर पहले की ही तरह हमारे मित्र और सहायक बन जायंगे। इसमें कुछ खर्च तो पड़ेगा—और वह भी छोटी-मोटी रकम नहीं—पर जो आफत आ पड़ी है उससे बचने का इससे सस्ता और कोई उपाय नजर नहीं आता। नवाब का

क्रोध शान्त हो सकता है तो फतहचन्द की ही सिफारिश से। अगर वह हमारी मदद नहीं करते तो हम और दरबारियों को चाहे जितना दें, हमारी जिल्लत होती ही रहेगी, हम ठोकरें खाते ही रहेंगे।"

कुछ समय तक कौंसिल इस भ्रम में रही कि उसने एक घोड़ा सरफराज खां को भेंट कर उसको अपनी मुट्ठी में कर लिया था और उसकी सिफारिश से ही वह ऐसी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेने वाली थी। पर समस्या हल होते न देख वह धीरे-धीरे समझने लगी थी कि अब तक वह मन के लड्डू ही खाये बैठी थी। कासिमबाजार से आने वाले खत ने उसकी बची-खुची आशा या भ्रम को दूर कर दिया और उसके मिजाज को अर्श से फर्श पर ला दिया। २३ अक्टूबर को वह लिखती है कि, "फतहचन्द को यह आशा दिला दो कि कन्तू वाले मामले में उन्हें जो नुकसान उठाना पड़ा, उसे हम पूरा कर देंगे और इस प्रकार अपनी रक्षा करा लो। हां, जब तक हमारी स्वीकृति न मिल जाय, यह मत कहना कि कंपनी उन्हें उस मद में क्या देगी।" खत भेजते ही कासिमबाजार से खबर मिली कि नवाब एक लाख तो बादशाह के लिए और उसके अलावा "कुछ अपने लिए" मांग रहा था। कौंसिल ने दो ही दिन बाद वहां वालों को लिखा कि फतहचन्द से दरियाफ्त करो कि मामला कितना देने से तै हो जायगा—"पर, ध्यान रहे कि बिना हमारी मंजूरी के कोई बात पक्की न होने पावे।"

फतहचन्द का उत्तर आशाजनक तो था, पर उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि मामला तै करने का कासिमबाजार वालों को अधिकार होना चाहिए। कौंसिल ने लिखा कि, "नवाब को ४०,०००) और उसके दीवान (सरफराज खां) को ५,०००) देने की बात

करो। इतने पर सौदा तै न हो तो दस-पांच हजार और दे सकते हो, लेकिन इससे अधिक नहीं। दिल्ली से न कोई मांग हुई है, न कोई हुक्मनामा आया है। सारी बातें नवाब की मनगढ़ंत हैं। अगर बादशाह के लिए कुछ देना पड़े भी तो इसी शर्त पर दे सकते हो कि हमें जितनी सनदें मिल चुकी हैं, सब की सब बहाल रहें।"

कासिमबाजार वाले जगत्सेठ से मिले और उन्हें यह वचन दिया कि अगर आपने हमारा पक्ष अपनाया तो हम भी आपको 'सन्तुष्ट' कर देंगे। उन्होंने लेने-देने की कोई बात नहीं की, पर उनके मुनीम रूपचन्द ने कहा कि अगर उनसे सिफारिश करानी है तो उन्हें ५०,०००) देना कबूल करो। उधर नवाब की त्योरी में रोज बल पड़ रहा था—कासिम-बाजार वाले कर्मचारी रोज कौंसिल को लिख रहे थे कि जितनी ही देर हो रही है, उतनी ही बात बिगड़ रही है—चाहे जितना खर्च पड़े, नवाब के साथ शीघ्र से शीघ्र, समझौता कर लेने में ही हमारी भलाई है।

वे कासिमबाजार से महिमापुर (मुर्शिदाबाद) जाते-आते रहे, पर कोई बात तै करने का उन्हें अधिकार न था, इसलिए जगत्सेठ के सामने कोई निश्चयात्मक प्रस्ताव न रख सके। उन्होंने एक दिन कहा भी कि "तुम लोगों ने इस मामले को मजाक समझ रखा है। जब नवाब फरमान छीन लेगा और व्यापार बंद कर देगा तब होश में आओगे।" कर्मचारियों ने कौंसिल को लिखा कि, "अगर आपका निश्चय हो कि उलझन और न बढ़े तो हमें तै-तमाम करने की इजाजत दीजिए। सरफराज खां से तो हमें निराशा ही रही। वह बाप से इतना डरता है कि उसके आगे हमारी ओर से एक भी शब्द नहीं बोल सकता।"

कौंसिल ने कासिमबाजार वाले कर्मचारियों को इजाजत दे दी कि जो रकम देनी थी उसे घटा-बढ़ा कर वे मामले का निबटारा करा

लें। जगत्सेठ से उन लोगों को मालूम हो चुका था कि सख्ती करने के लिए नवाब को दिल्ली-दरबार ने भी आदेश भेज दिया है और कौंसिल का यह खयाल गलत है कि बादशाह की इस मामले में कोई दिलचस्पी नहीं है। कंपनी की फैक्टरी पर पहरा बैठ जाने से, उन्हें यह भी विश्वास हो चला था कि और भी कडुए-कसैले दिन आने ही वाले हैं। इजाजत मिलते ही उन्होंने लेन-देन की बातचीत शुरू कर दी।

जगत्सेठ ने बताया कि दिल्ली-दरबार की मांग तो सात-आठ लाख रुपये की है। नवाब से जब कभी इस विषय में कुछ कहा जाता तब वह यही जवाब देता कि दिल्ली की जो मांग है, कंपनी उसे पूरा करे। पर जगत्सेठ ने दो लाख पर ही मामला निबटा देने का आश्वासन दिया—एक लाख सम्राट् के लिए, और एक लाख नवाब के लिए। कासिमबाजार वालों ने कलकत्ते लिखा, "हमारी राय है कि इतना देकर नवाब को खुश कर देना चाहिए। इससे कम में निबटारा हर्गिज नहीं हो सकता। दो लाख देकर भी जान बच जाय तो यह फतहचन्द की मेहरबानी समझनी चाहिए।"

नायब दीवान आलमचन्द* ने कंपनी के व्यापार को नियंत्रित करने के उद्देश से इधर यह प्रस्ताव किया था कि (१) एक संख्या निर्धारित कर दी जाय, जिससे अधिक जहाज चलाने का कंपनी को अधिकार न हो, और (२) कंपनी कुछ खास चीजों की तिजारत न करने के लिए बाध्य कर दी जाय। दीवान उससे एक कबूलियत लिखा लेना चाहता था। कंपनी के कर्मचारियों को बात मालूम हुई तो वे किङ्कर्तव्य-विमूढ़ होकर फतहचन्द के पास पहुंचे। फतहचन्द ने

*वास्तव में दीवान का काम यही करते थे, सरफराज खां बस नाम के लिए उस पद पर था।

सिफारिश की और उनकी बात मानकर नवाब तथा आलमचन्द ने कुछ शर्तों को हटा लेना मंजूर कर लिया। फतहचन्द ने कबूलियत का मजमून कासिमबाज़ार भेज दिया और कहलाया कि अंगरेजों को इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। वे पहले तो उस पर दस्तखत करने से इन्कार करते रहे, पर फतहचन्द के समझाने-बुझाने पर राजी हो गये। उन्होंने कहा कि, "जो दरवाजा बंद-सा है, उसे नवाब खोलने जा रहा है। फिर उसे भी तो दिल्ली-दरबार को बताना होगा कि हमने अंगरेजों को कुछ दिया है तो बदले में उनसे कुछ लिया भी है।" कंपनी को कबूलियत में इतना ही इकरार करना पड़ा था कि हम इस देश के भीतर नमक, सुपारी तथा कुछ अन्य पदार्थ एक स्थान में खरीद कर दूसरे स्थान में न बेचेंगे और कभी किसी वस्तु के व्यवसाय पर एकाधिकार जमाकर प्रजा को कष्ट न पहुंचायेंगे।

फतहचन्द के कहने पर कंपनी के कर्मचारी दो लाख देना स्वीकार कर चुके थे। पर यह रकम बादशाह और नवाब के लिए थी। दीवान तथा दूसरे अधिकारियों को जो देना पड़ता, वह अलग था। पर फतहचन्द ने सब मिलाकर दो लाख से भी कम में मामला निबटा दिया! कंपनी को कुल १,८०,०००) ही देना पड़ा। इसके अलावा फतहचन्द को ५०,०००) देने की बात तै हुई। कासिमबाजार वालों ने प्रस्ताव किया था कि कन्नू के जिम्मे उनकी जो रकम डूब गई थी, वह उनको दे दी जाय। कौंसिल को यह स्वीकार न हुआ। उसने उनको लिखा कि फतहचन्द की हानि की पूर्ति का नाम हर्गिज मत लेना—उन्हें जो कुछ देना, उनकी सहायता के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन के चिह्न-स्वरूप देना। फतहचन्द ने वह ५०,०००) चाहे जो समझ कर स्वीकार किया हो, मोटी बात यह है कि कंपनी ने उतना रुपया दिया

और उन्होंने लिया। देने-लेने का नतीजा यह हुआ कि जहां कंपनी से मन फट चुका था, वहां फिर जुट चला—कलकत्ता और कासिमबाजार फिर महिमापुर के सद्भाव से पूर्ववत् लाभ उठाने लगे।

३० अप्रैल, १७३० को कंपनी के वकील ने जगत्सेठ से मिलकर कुछ निवेदन किया और वह उसकी फरियाद नवाब के कानों तक पहुंचाने दरबार में गये। जुलाई में कासिमबाजार के प्रधान ने किसी कर्मचारी के हाथ कंपनी की कोई अर्जदाश्त महिमापुर भेजी। यह थी तो नवाब के लिए, पर उस कर्मचारी को आदेश मिला था कि 'जगत्सेठ से अनुरोध करना कि वह इसे नवाब तक पहुंचा देने की कृपा करें। अगर उन्हें यह स्वीकार न हो तो, उनके कहे अनुसार इसे नवाब तक स्वयं पहुंचा आना।' जनवरी, १७३१ में हम कंपनी के वकील को फिर हिरासत में पाते हैं। कंपनी जगत्सेठ की दुहाई देती है और जगत्सेठ उसका छुटकारा करा देते हैं। नवम्बर में कंपनी से कलकत्ते के माल या खिराज की मद में फिर एक बड़ी रकम मांगी जाती है, फिर हुज्जत शुरू होती है, फिर फतहचन्द बीच में पड़ते हैं और कंपनी के ४०,०००) देने पर झगड़ा निपट जाता है, उसे नया परवाना मिल जाता है। इसके बाद एक दिन जगत्सेठ कंपनी की फैक्टरी में पधारते हैं, वहां उनका स्वागत होता है और उन्हें अभिनन्दन-पत्र प्रदान किया जाता है।

लेन-देन का भी वही पुराना सिलसिला शुरू हो चुका है। १७३२ में जब कंपनी को १५०,०००) पटने भेजने की जरूरत पड़ती है तब फतहचन्द से उनकी वहां की कोठी के नाम एक खत लिखाकर उससे उधार लिया जाता है और कुछ समय बाद कासिमबाजार वालों को यह हिदायत भेजी जाती है कि जब कभी कर्ज लेना हो तब फतहचन्द से ही लेना, और किसी से नहीं। १७३६ में यह हिदायत दोहराई

जाती है। ३ मार्च को कासिमबाजार वाले कौंसिल को सूचित करते हैं कि हमने इधर दो लाख रुपये फतहचन्द से लिये हैं, और आगे भी जब कभी कर्ज लेने की जरूरत पड़ेगी, तब आपके आज्ञानुसार उन्हींसे लेंगे। उसी साल जून में फतहचन्द-द्वारा की हुई २४०,०००) की हुंडी की नकल कलकत्ते पहुंचती है जिसे कासिमबाजार की फैक्टरी सकार चुकी है। २ मार्च, १७३८ को कासिमबाजार वाले फतहचन्द से १३०,०००) कर्ज लेते हैं। लेन-देन के ऐसे ही और भी बहुत-से अवसर उपस्थित हुए होंगे जिनका आज कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

१६ जून, १७३८ के कंपनी के लेखे में दर्ज है—"फतहचन्द का गुमाश्ता आया था। उसने कहा कि हमारे मालिक को ६६ थान लाल और ६६ थान सब्ज बनात चाहिए। पर इतना माल इस समय गोदाम में मौजूद नहीं। पटने की फैक्टरी को लिखा जाय कि वह फतहचन्द के गुमाश्ते को ७ गांठ सब्ज बनात दे दे और ५०), थान की दर से उसकी कीमत हमारे नाम टांक ले। हम फतहचन्द से भुगतान ले लेंगे।" पटने वालों ने लिखा कि फतहचन्द के गुमाश्ते ने बनात ले जाने में देर की, इसलिए माल दूसरे के हाथ बिक गया।" २७ फरवरी, १७३९ के लेखे में लिखा है—"हमें इस बात का खेद है कि फतहचन्द को बनात न मिली और उन्हें निराश होना पड़ा। पर दोष उन्हीं के गुमाश्ते का है। हम आशा करते हैं कि वर्तमान परिस्थिति में वह इसके लिए हम पर नाराज न होंगे।"

जिस 'परिस्थिति' की ओर यह इशारा था वह नादिरशाह के आक्रमण[3], और उसके ईरान लौट जाने से पहले ही मुर्शिदाबाद में शुजाउद्दौला की मृत्यु के कारण उत्पन्न हो गई थी।

१३ मार्च, १७३९ को कासिमबाजार वालों ने कलकत्ते खबर भेजी कि शुजाउद्दौला परलोक सिधार चुका है। उधर ९ मार्च को नादिरशाह दिल्ली में दाखिल हो चुका था।

भारतवर्ष के इतिहास में नादिरशाह की चढ़ाई उन प्रचंड आंधियों में से एक थी जो उत्तर-पश्चिम से यहां आई हैं और यहां की सलतनत को झकझोर कर हमें अपरिमित हानि पहुंचा गई हैं। ऐसी आंधी का झटका हमें बहुत दिनों से नहीं खाना पड़ा है, फिर भी भविष्य में सतर्क रहना ही बुद्धिमानी का काम होगा।

नादिरशाह ने लूटमार के तौर पर जो कुछ किया उससे ढोल की पोल खुल गई और यहां की हुकूमत का खोखलापन सारे संसार को प्रत्यक्ष हो चला। अकबर और औरंगजेब के वंशज, बल-विक्रम में, उनके पासंग भी नहीं रह गये थे और मुगल-साम्राज्य की इतनी अधोगति हो चुकी थी कि अब उसका संभलना असम्भवप्राय था।

जगत्सेठ-परिवार के लिए यह समय घोर संकट का रहा होगा। मुर्शिदाबाद में शुजाउद्दौला की मृत्यु और दिल्ली में नादिरशाही का दौरदौरा—इन दोनों दुर्घटनाओं के कारण फतहचन्द को गहरी हानि उठानी पड़ी। दिल्ली में उनके दो सगे-संबन्धी मार डाले गये। बचने वालों में दो–राय मुहकम सिंह और राजा [४]डालचंद–वहां से भाग कर मुर्शिदाबाद जा बसे। उत्तर भारत में कुछ समय के लिए वाणिज्य-व्यापार बंद-सा हो गया। लूटपाट से जो नुकसान हुआ उसके अलावा दिल्ली में जगत्सेठ की कोठी को चंदा भी भरना पड़ा। उधर बंगाल से नये नवाब–सरफराज खां–को नादिरशाह की मांग पूरी करने के लिए जो कुछ भेजना पड़ा या फतहचन्द को जो कुछ जुटाना पड़ा वह रकम अलग थी।

(३)

कंपनी से सरफराज खां के शासन-काल में दो बार नजराना तलब किया गया और दोनों बार कंपनी के कर्मचारियों को सहायता के लिए फतहचन्द के पास जाना पड़ा। पहली बार नजराना तलब किया गया सरफराज खां के गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिन बाद। कंपनी के प्रार्थना करने पर फतहचन्द ने हाजी अहमद से बातें कीं और दस हजार पर ही सौदा पटा दिया। कंपनी उतना देने में भी आनाकानी करने लगी, पर फतहचन्द ने सलाह दी कि इसे फौरन दाखिल कर दो, वर्ना हाजी अहमद चिढ़ जाने पर कुछ और लेकर रहेगा। हाजी अहमद खां की दूसरी मांग अक्टूबर १७३९ में हुई। उस समय तक सरफराज खां को तीनों प्रान्तों की निजामत का फरमान मिल चुका था और बकौल हाजी अहमद, ऐसे अवसर पर भी नवाब नजराना पाने का हकदार था। कंपनी की ओर से कहा गया कि हम लोगों ने जो रकम शुजाउद्दौला की नजर की थी वही नये नवाब की भी नजर करेंगे, पर हाजी अहमद ने कहा कि इधर समय असाधारण बीता है और अमन-चैन कायम रखने के लिए नवाब को काफी खर्च करना पड़ा है, कंपनी को कम से कम दस हजार तो देना ही चाहिए। २ मार्च, १७४० को कासिमबाजार फैक्टरी के प्रधान मि० आयर, "फतहचन्द और आलमचन्द" के परामर्श के अनुसार नजर पेश करने दरबार में गये और दस हजार दे आये।

लेन-देन भी पहले की ही तरह जारी रहा। ७ अप्रैल के लेखे में लिखा है—"जगत्सेठ फतहचन्द आनन्दचन्द से हमने १) सैकड़ा माहवार सूद पर १२१,०००) रुपये कर्ज लिये और ५ तारीख को

उन्हें इसकी दर्शनी हुंडी कर दी । उनसे दो लाख लेने की बात थी, उतना पूरा हो गया ।" इससे पहले पटना-फैक्टरी वाले फतहचन्द के गुमाश्ते से २५०,०००) कर्ज ले चुके थे और कलकत्ता कौंसिल के नाम चालीस दिन की मुद्दती हुंडी कर चुके थे। इस हुंडी का भुगतान ३० जुलाई को हुआ, ऐसा उल्लेख मिलता है ।

सरफराज खां न तो अपने पिता की तरह लोकप्रिय हो सका न उसकी-सी सफलता ही प्राप्त कर सका। तकदीर ने उसे जहां ले जाकर बैठा दिया था वहां से उसके दुश्मन की तदबीर ने प्रायः एक ही साल बाद हटा दिया और हटने के मानी यह हुए कि उसे राजसिंहासन के साथ अपने प्राण भी गंवाने पड़े ।

शुजाउद्दौला खां मरते समय पुत्र को यह उपदेश दे गया था कि हाजी अहमद, आलमचन्द और फतहचन्द को मंत्री बनाये रखना। सरफराज खां ने पिता के इस उपदेश का कहने को ही पालन किया। नाम के लिए तो यह मंत्रिसभा कायम रही, पर अब काम दूसरे ही आदमियों की सलाह से होने लगा। इससे दिल फिर गये, मनमुटाव बढ़ने लगा और दरबार में दो दल पैदा हो गये ।

बंगाल का तत्कालीन इतिहास जिन फारसी ग्रंथों से जाना जा सकता है उनमें सब से ऊंचा स्थान है "सैरुल मुताखरीन का।" प्रकाशित ग्रंथों में उसके बाद नाम लिया जा सकता है तो "रियाजुस्सलातीन" का। एक का लेखक था सैयद गुलाम हुसैन खां और दूसरे का गुलाम हुसैन सलीम। इनमें दूसरा सरफराज खां का पक्षपाती था और पहला उसके शत्रु अलीवर्दी खां का—यद्यपि सत्य के अनुरोध से यह कहना पड़ता है कि सैयद गुलाम हुसैन खां ऊंचे

दर्जे का इतिहासकार और लेखक था और उसके दृष्टिकोण में गुलाम हुसैन सलीम की-सी संकीर्णता न थी। अलीवर्दी खां का पक्षपाती होते हुए भी उसने सरफराज खां के दोष ही नहीं दरसाये हैं, उसके गुणों पर भी प्रकाश डाला है।

"मुताखरीन" का कहना है कि सरफराज खां आदमी तो भला था, पर उसमें शासन-सम्बन्धी योग्यता का अभाव था। नमाज पढ़ना, रोजा रखना---ऐसे काम तो वह बड़ी लगन से किया करता, पर राज-काज से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में वह हाजी अहमद, फतहचन्द या आलमचन्द की सलाह को कोई वजन न देता---बल्कि हाजी लुत्फुल्ला, मर्दान अली खां, मीर मुर्तजा जैसे लोगों के कहे अनुसार चलता जो उसके दिल में घर कर चुके थे और जो इन तीनों के, खास कर हाजी अहमद के, विरोधी या शत्रु थे। हाजी अहमद की निन्दा करना, उसकी फबतियां उड़ाना---यह इनका नित्य नियम था। हाजी अहमद इनकी करतूतों से अपने भाई अलीवर्दी खां को आगाह करता रहता और उसे मुर्शिदाबाद पर चढ़ाई करने के लिए उभाड़ता भी रहता था।

"रियाज" में लिखा है कि शुजाउद्दौला के शासन-काल में अलीवर्दी खां ने मुहम्मद शाह के वजीर कमरुद्दीन खां से लिखा-पढ़ी कर, अपने लिए 'महाबतजंग बहादुर' की उपाधि प्राप्त कर ली। शुजाउद्दौला के तो नहीं, पर सरफराज खां के मन में खटका हुआ और अलीवर्दी खां के विषय में दोनों के दो मत हो चले। बात यहां तक बढ़ी कि बाप और बेटे में अनबन भी हो गई। अलीवर्दी खां महत्त्वाकांक्षी था। अपने भाई हाजी अहमद की सहायता से, उसने कूटनीति से काम लेना आरम्भ कर दिया। सरफराज खां और उसके

सौतेले भाई मुहम्मद तकी खां के बीच भेद-भाव इतना बढ़ गया कि एक दूसरे का जानी दुश्मन हो गया। कुछ समय बाद मुहम्मद तकी खां की मृत्यु हो गई और उसकी जगह शुजाउद्दौला ने अपने दामाद मुर्शिदकुली खां को उड़ीसा के नायब-नाजिम का पद दिलाया। मुर्शिदाबाद में हाजी अहमद, फतहचन्द और आलमचन्द इन तीनों का एक गुट बन गया था और जब तक शुजाउद्दौला जीवित रहा, राज-काज का वास्तविक संचालक यही त्रिगुट बना रहा।

"रियाज" में यह भी लिखा है कि सरफराज खां के नाजिम होने पर यह त्रिगुट राजकीय विषयों में पहले की अपेक्षा अधिक हस्तक्षेप करने लगा। नवाब की इच्छा थी और बेगमों की भी इच्छा थी कुछ पुराने सरदारों—मनसबदारों की तरक्की करने की, पर त्रिगुट के विरोध के कारण यह न हो सका। फिर तो इसका साहस यहां तक बढ़ा कि यह रात-दिन यही बंदिश वांधने लगा कि किसी प्रकार अलीवर्दी खां को मुर्शिदाबाद की मसनद मिल जाय और वह तीनों प्रान्तों का नाजिम बन जाय। "रियाज" के लेखक का यह भी कहना है कि अपने षड्यंत्र में इस त्रिगुट को पूरी सफलता प्राप्त हुई। नादिरशाह के नाम से मस्जिदों में खुतबा पढ़ा जाना—उसके नाम पर सिक्कों की ढलाई होना—ऐसे काम इसी की सलाह से हुए थे। बंगाल से काफी बड़ी रकम उसके कूच करने से पहले दिल्ली भेजी जा चुकी थी—जिसमें राजस्व के अलावा शुजा-उद्दौला खां का निजी धन भी शामिल था। पर नादिर-शाह के विदा होते ही दिल्ली में सरफराज खां पर दोषारोपण होने लगा कि उन कामों के लिए वही जिम्मेवार था, और कमरुद्दीन खां तथा निजामुल्मुल्क के कान भरे जाने लगे। नतीजा यह हुआ कि दिल्ली-

दरबार से अलीवर्दी खां को निजामत मिल गई और सरफ़राज खां के काले कारनामों के लिए उसे प्राण-दंड देने का हुक्मनामा भी अलीवर्दी खां को भेज दिया गया। जब त्रिगुट ने देखा कि यहां तक काम बन चुका तब उसने सरफराज खां को यह बता कर कि आमदनी को देखते हुए खर्च बहुत अधिक होता जा रहा है, उससे सैनिकों की संख्या घटाने की स्वीकृति ले ली। उसकी सेना के प्रायः आधे सैनिक बरखास्त कर दिये गये। पर एक ओर नवाब की सेना से आदमी हटाये जाते, दूसरी ओर वे ही अलीवर्दी खां की फौज के लिए भरती कर लिये जाते। हाजी अहमद ने अपने भाई की धन से भी बड़ी सहायता की। अलीवर्दी खां चुपचाप लड़ाई की तैयारी करता गया। जब सरफराज खां को मालूम हुआ कि षड्यंत्रकारी मुर्शिदाबाद से दिल्ली तक सुरंग खोद चुके हैं तब उसने अलीवर्दी खां की जगह अपने दामाद सैयद मुहम्मद हसन को बिहार का नायब नाजिम बनाना तथा कुछ और हेरफेर करना चाहा। पर त्रिगुट के समझाने-बुझाने पर इस कार्य को भी उसने स्थगित कर दिया। मंत्रियों ने कहा कि वार्षिक आय-व्यय का हिसाब तीन महीने बाद होनेवाला है—बेहतर होगा कि जमाखर्च हो जाने से पहले कोई अदल-बदल न किया जाय। सरफराज खां भोला-भाला था। उसने फिर उनकी बात मान ली और शत्रु को अपना संगठन और भी ठोस कर लेने का मौका दे दिया।

मुर्शिदाबाद में हाजी अहमद के विरुद्ध रोज ऐसी चाल चली जाती—दोनों भाइयों के स्वार्थ पर आघात करने की ऐसी चेष्टाएँ होतीं—कि अलीवर्दी खां को लड़ाई के लिए कटिबद्ध हो जाना पड़ा। व्यवहार-कुशल होने के कारण उसने दिल्ली-दरबार में प्रभावशाली व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अब उसकी ओर से यह

प्रयत्न होने लगा कि तीनों प्रान्तों का नाजिम वह बना दिया जाय और सरफराज खां को उस पद से हटा दिया जाय। उसने राजस्व के अलावा एक करोड़ भेंट करना स्वीकार किया। यह भी क़रार किया कि सरफराज खां की जो निजी सम्पत्ति होगी उसे जब्त कर दिल्ली पहुंचा दूंगा। इस प्रयत्न में अलीवर्दी खां पूर्णतः सफल हुआ। शुजाउद्दौला के मरने के प्रायः एक ही बरस बाद दिल्ली से अलीवर्दी खां को सनद मिल गई और यह आदेश भी कि अगर सरफराज खां विरोध करे तो उसे जीवित मत रहने देना।—("मुताखरीन")।

अलीवर्दी खां ने अपने दामाद जैनुद्दीन अहमद खां को अपना नायब बनाकर पटने में छोड़ा और सुसज्जित सेना के साथ मुर्शिदाबाद की ओर रवाना हुआ। इससे कुछ दिन पहले वह अपने ज्योतिषी से मुहूर्त्त या साइत निकलवा चुका था और पत्र-द्वारा अपने "मित्र जगत्-सेठ फतहचन्द को" प्रस्थान के दिन की सूचना भेज चुका था। जब उसके सभी हिन्दू और मुसलमान सैनिक—अपनी अपनी रीति से—शपथ ग्रहण कर, उसका अखीर तक साथ देने की प्रतिज्ञा कर चुके, तब उसने अपनी इस यात्रा का असली अभिप्राय जताया और कूच का डंका बजवाया। जब मुर्शिदाबाद थोड़ी दूर रह गया, तब उसका भेजा हुआ पत्र जगत्सेठ के हाथ में पड़ा। पत्र-वाहक को वह पत्र उसी दिन उन्हें देने का आदेश था। जगत्सेठ ने जो उसे पढ़ा और तारीखें मिलाईं, तो समझ गये कि अलीवर्दी खां तिलियागढ़ी के इस ओर पहुंच चुका है और मुर्शिदाबाद पहुंचने में उसे चार ही पांच रोज और लगने वाले हैं। फौरन वह घोड़े पर सवार हुए, सरफराज खां के पास पहुंचे और अपने रंग-ढंग से घबराहट दिखाते हुए उस पत्र को सरफराज खां के हाथ में देकर कहा कि मुझे सन्देह है कि अलीवर्दी खां राज-

महल पहुंच चुका है। साथ ही उन्होंने एक दूसरा पत्र निकाल कर सरफराज खां को दिया। अलीवर्दी खां ने यह पत्र उसी के नाम लिखा था। इसका सारांश था—"मेरे भाई हाजी अहमद को अपमानित करने और हमारे परिवार-मात्र की बेइज्जती करने की इधर इतनी चेष्टाएँ हुई हैं कि मुझे विवश होकर यहां तक आना पड़ा है। मैं आपका वही वफादार नौकर हूं और मेरी नेकनीयती के बारे में आपको कोई शुबहा नहीं होना चाहिए। मेरी प्रार्थना यही है कि आप हाजी अहमद को सकुटुम्ब मेरे पास आने की इजाजत दे दें।" बहुत तर्क-वितर्क के बाद यह तै हुआ कि हाजी अहमद को जाने दिया जाय। अलीवर्दी खां की नेकनीयती का तो किसी को विश्वास न हो सका, पर लोगों ने यही कहा कि हाजी का रहना-न रहना बराबर है। लड़ने की तैयारी कर आगे बढ़ना निश्चित हुआ। सरफराज खां आगे बढ़ा भी, पर तैयारी जैसी होनी चाहिए थी, न हो सकी। दोनों दलों के बीच कुछ समय तक दूत जाते-आते रहे और समझौते की बात चलती रही। पर कोई नतीजा न निकला और लड़ाई न रुक सकी। इस लड़ाई में सरफराज खां मारा गया। रायरायां आलमचन्द भी बुरी तरह घायल हुए और बाद को उन्होंने हीरे की कनी खाकर आत्महत्या कर ली। दो दिन बाद अलीवर्दी खां मुर्शिदाबाद शहर में दाखिल हुआ। पहला काम उसने यह किया कि सरफराज की मां के पास पहुंचा और उससे यह कहकर माफी मांगी कि जो होनी थी हो चुकी —"इतिहास में सदा के लिए मेरी कृतघ्नता की कहानी लिखी जा चुकी।" उसे आश्वासन देकर और उससे विदा ग्रहण कर वह 'चहलसतुन' में गया और वहीं तख्तनशीन हुआ।—("मुताखरीन")

सरफराज खां और अलीवर्दी खां के बीच होने वाली लड़ाई का जो

वर्णन "रियाजुस्सलातीन" में मिलता है, वह इस वर्णन से भिन्न है। उसमें यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि बहुत से पदाधिकारी हाजी अहमद से मिले हुए थे और उनके विश्वासघात के कारण ही सरफराज खां की वैसी हार हुई। जब अलीवर्दी खां का हरावल राजमहल पहुंच चुका, तब सरफराज खां को उसके मुर्शिदाबाद की ओर चल पड़ने की खबर मिली। फिर भी रायरायां आलमचन्द उसे यही समझाने की कोशिश करते रहे कि "अलीवर्दी खां का उद्देश बुरा नहीं, वह केवल आप से मिलने के लिए आ रहा है।" सरफराज खां को उसकी बात पर विश्वास न हुआ। जो सेना बच रही थी और जो सरदार, मनसबदार तथा जमींदार विश्वास करने योग्य थे, उन्हें साथ लेकर वह दुश्मन का मुकाबला करने के लिए मुर्शिदाबाद से चला। चलने से पहले ही उसे यह मालूम हो चुका था कि तोपखाने में बारूद की जगह कूड़ा-करकट और गोलों की जगह ईंटें भरी हुई थीं। हाजी अहमद का एक रिश्तेदार उस विभाग के अध्यक्ष के पद से हटाया गया और उस पद पर एक पुर्तगीज की नियुक्ति हुई। तीन-चार दिन बाद शहर से थोड़ी ही दूर पर पहली लड़ाई हुई। इसमें अलीवर्दी खां की फौज को हार खानी पड़ी। अगर रायरायां आलमचन्द ने फिर विश्वासघात न किया होता तो शत्रु के दल में भगदड़ मच जाती और हार-जीत का उसी दिन निर्णय हो जाता। पर उसने सरफराज खां से जाकर कहा कि दोपहर की गरमी किसी से बरदाश्त नहीं हो रही है, अगर लड़ाई जारी रखी गई तो अपने बहुत से आदमी और घोड़े, गरमी और प्यास से ही छटपटा कर, प्राण त्याग देंगे; अच्छा हो कि आज लड़ाई मुलतबी की जाय और कल मोरचा लेकर दुश्मन का खातमा कर दिया जाय।" सरफराज खां के ज्योतिषियों या सरदारों की राय ऐसी न थी—उनका कहना

था कि लड़ाई स्थगित करने में लाभ नहीं, हानि ही हानि है—फिर भी नवाब ने उनकी एक न सुनी और जो प्रस्ताव आलमचन्द ने किया था उसी को स्वीकार कर लिया। कुछ देर बाद उसे अलीवर्दी खां का एक खत मिला, जिसमें उसने लिखा था कि मेरी वफादारी में जरा भी फर्क नहीं पड़ा है—मैं आपकी सेवा में उपस्थित होकर केवल अपने को निर्दोष प्रमाणित करने यहां आया हूं। सरफराज खां को संसार का अनुभव नहीं के बराबर था, उसने अलीवर्दी खां की बात अक्षरशः सत्य मान ली, और बेवकूफी से सारे फसाद की जड़ हाजी अहमद को अपने भाई के पास जाने दिया। उसके साथ शुजा कुली खां और ख्वाजा बसन्त पानी की थाह ले आने के लिए भेजे गये। अलीवर्दी खां ने इनके सामने कुरान की कसम खाकर कहा कि कल दिन चढ़ते ही यह सेवक अपने स्वामी के सामने उपस्थित होकर क्षमा-याचना करेगा। वास्तव में कसम खाने के लिए जो चीज उसने हाथ में ली थी वह कुरान की प्रति न हो कर बेठन से लपेटी हुई एक ईंट थी। फिर उस से ख्वाजा बसन्त को दो सौ अशर्फियां भी मिलीं। उन दोनों बेवकूफों ने जो कुछ देखा-सुना, उससे उन्हें विश्वास हो गया कि अलीवर्दी खां अब सचमुच पश्चात्ताप कर रहा है और वह नवाब के पांव पड़ने ही वाला है। पड़ाव पर लौटकर उन्होंने जो कहानी सुनाई उससे सब लोग निश्चिन्त हो गये और लड़ाई की तैयारी के बदले अलीवर्दी खां की जियाफत की तैयारी होने लगी। उधर दुश्मन रात भर चौकन्ने रहे और सरफराज खां की फौज के जो लोग साजिश में शामिल थे, उनसे मिलते-जुलते और सलाह-मशविरा करते रहे। सरफराज खां के दो सेनापतियों ने चेतावनी दी भी तो उसने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, बल्कि उन्हीं लोगों को डांटने-डपटने लगा। पौ फटने से पहले ही

अलीवर्दी खां ने गोलाबारी शुरू करा दी। फिर भी कुछ देर तक सरफराज खां यही समझे बैठा रहा कि तोपों की बाढ़ से शायद उसकी सलामी उतारी जा रही है और अलीवर्दी खां उससे मिलने आ रहा है।

इसके बाद "रियाज" में उस दिन होने वाली लड़ाई का विस्तृत वर्णन है, जिसमें उसके दल के कुछ लोग तो मैदान छोड़ कर भाग चले, कुछ तैयार न रहने के कारण गाजर-मूली की तरह काट डाले गये, और थोड़े से लोग उसकी ओर से वीरतापूर्वक लड़े भी तो उनसे कुछ बन न पड़ा। खुद सरफराज खां "अपने ही दल के किसी विश्वासघातक की बंदूक से चली हुई गोली" का शिकार हुआ। रायरायां आलमचन्द को दगाबाजी का यह बदला मिला कि सिर में एक तीर लगने से वह बुरी तरह घायल हुआ और फिर अपने घर पहुंच कर, पश्चात्ताप के साथ उसने हीरे की कनी चाट ली और यों आत्महत्या कर ली। अलीवर्दी खां के दल में विजय-दुंदुभी बजने लगी, उसे बधाइयां मिलने लगीं। हाजी अहमद ने शहर में जाकर लोगों को अपने पक्ष की जीत की खबर सुनाई और शान्ति-रक्षा का सबको आश्वासन दिया। अलीवर्दी खां वहां चार रोज बाद पहुंचा और मसनद पर जा बैठा। सरफराज खां जो कुछ धन छोड़ गया था, वह सब आसानी से उसके हाथ लग गया। अलीवर्दी खां ने पत्नी-व्रत धारण कर रखा था, इससे सरफराज खां के हरम की ओर उसका ध्यान जाने वाला न था, पर वहां जो डेढ़ हजार उसकी बीवियां और दासियां थीं, उन्हें हाजी अहमद और उसके बेटे तथा दूसरे सम्बन्धी अपने अपने घर ले गये।

अलीवर्दी खां,और सरफराज खां के बीच यह लड़ाई, भागीरथी के तट पर गिरिया नामक स्थान में हुई थी—नादिरशाह के ईरान

लौट जाने के ग्यारह और शुजाउद्दौला के प्राण छूटने के प्रायः चौदह महीने बाद।

इस क्रान्ति को सफल बनाने में जगत्सेठ का बहुत बड़ा भाग था, यह स्पष्ट है। "मुताखरीन" में इसका जो वर्णन है उसके अनुसार सरफराज खां ने अपने व्यवहार से उन्हें इतना असन्तुष्ट और रुष्ट कर दिया था कि उन्हें विवश होकर हाजी अहमद से मिल जाना पड़ा। "रियाज" में उन्हें त्रिगुट में शामिल बता कर, यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि वह भी प्रभुत्व के भूखे थे और सरफराज खां के समय में पहले से भी अधिक मनमानी करने लगे थे। "रियाज" में जो कुछ लिखा है उसका ध्वन्यात्मक अर्थ यह है कि अपनी दाल गलते न देख कर ही उन्होंने अलीवर्दी खां का पक्ष अपना लिया था और सरफराज खां के मंत्री होते हुए भी काम उसके हित के विरुद्ध करने लगे थे।

पर जान पड़ता है कि बहुत पहले ही फतहचन्द इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि योग्यता के अभाव के कारण, सरफराज खां मुर्शिदकुली खां का उत्तराधिकारी होने योग्य न था। वास्तव में नाजिम के पद के सम्बन्ध में उत्तराधिकार या वरासत का कोई सवाल उठ ही नहीं सकता था। सम्राट् जिसको चाहता उस पद पर रख सकता या उससे हटा सकता था। जहां तक जगत्सेठ की पृष्ठपोषकता का सम्बन्ध था, यह सरफराज खां को उस समय भी प्राप्त न हो सकी थी, जब मुर्शिदकुली खां ने अपने दामाद के बजाय अपने नाती को सम्राट् से फ़रमान या सनद दिला देने की चेष्टा की थी। शुजाउद्दौला के मरने पर, सरफराज खां को दिल्ली से स्वीकृति मिली भी तो देर से, और फिर कुछ महीनों के भीतर ही दिल्ली ने अपना वह निर्णय बदल कर अलीवर्दी खां को नाजिम नियुक्त कर दिया। अगर फतहचन्द ने अलीवर्दी खां की इस

सिलसिले में सहायता की तो इसी कारण कि बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे प्रान्तों की निजामत की जिम्मेवारी बहुत भारी थी और यह जिम्मेवारी उठाने की दृष्टि से, अलीवर्दी खां से योग्य व्यक्ति मिलना कठिन था।

पर इस सारी घटना के बरसों बाद, ईस्ट इंडिया कंपनी के एक अंगरेज कर्मचारी ने सरफराज खां और फतहचन्द के बीच अनबन हो जाने का वास्तविक कारण यह बताया कि नवाब ने जगत्सेठ की पौत्र-वधू की मुंहदिखाई पर तुल कर उसे अपने महल में बुलवाना चाहा और जब जगत्सेठ किसी तरह उसके प्रस्ताव से सहमत न हुए तब उसने मनमानी की और महल में उस बालिका को एक रात रख कर दूसरे दिन अपने घर जाने दिया। पर यह सारी कहानी या तो चंडूखाने की गप थी या उसकी अपनी मनगढंत थी। चूंकि उसका हवाला देकर और लेखक भी उसकी बात दोहरा चुके हैं, सत्यासत्य के निर्णय के लिए एक दूसरे अंगरेज लेखक का मत परिशिष्ट के रूप में उद्धृत कर दिया गया है। उसमें ईस्ट इंडिया कंपनी और जगत्सेठ-परिवार के सम्बन्ध पर विशेष रूप से प्रकाश डालने वाले मि० लिट्ल ने यह भली भांति दिखा दिया है कि कंपनी का वह कर्मचारी कितना सच्चा या विश्वसनीय था और उसकी इस कहानी में क्या तथ्य था। एक किंवदन्ती यह है कि सरफराज खां को बताया गया था कि फतहचन्द मुर्शिदकुली खां से कोई बड़ी रकम उधार ले चुके थे या उनके जिम्मे उसके कई करोड़ रुपये बाकी रह गये थे, पर जब उसने उनसे अदायगी के लिए तकाजा किया, तब फतहचन्द ने कहा कि न तो मैंने कभी ऐसा कर्ज लिया, न मेरे जिम्मे ऐसी कोई रकम बाकी है। पर यह बात भी निराधार ही जान पड़ती है। किसी प्रामाणिक इतिहास-

ग्रंथ में इसका उल्लेख नहीं मिलता। अगर इसमें कुछ भी सचाई होती तो कम से कम "रियाजुस्सलातीन" का लेखक इसका उल्लेख किये बिना न रहता।

(४)

अलीवर्दी खां राज-सिंहासन पर बैठ जाने के बाद भी कुछ समय तक प्रजा के हृदय-सिंहासन पर न बैठ सका। प्रजा की दृष्टि में सरफराज खां की हत्या कृतघ्नता की चरम सीमा थी, कारण कि सरफराज खां उसका स्वामी ही नहीं, उसकी बांह गहने और उसके परिवार-मात्र को ऊपर उठानेवाले शुजाउद्दौला खां का पुत्र भी था। पीठ पीछे होने वाली आलोचना में तमाम अलीवर्दी खां और हाजी अहमद के नाम धरे जाते और उनके प्रति घृणा तथा निन्दा से भरे हुए भाव प्रकट किये जाते। पर अलीवर्दी खां ने अपने गुणों से ऐसी परिस्थिति पर भी विजय प्राप्त कर ली और अपने नाम पर लगे हुए धब्बे को मिटा-सा दिया। उसमें साहस था, श्रमशीलता थी और साथ ही ऊंचे दर्जे की राजनीतिज्ञता थी। उसका ध्यान सदैव इस ओर रहता था कि तीनों प्रान्तों में अमन-चैन कायम रखने के लिए कुछ भी उठा न रखा जाय। वह सच्चरित्र भी था। गिरिया के मैदान में जो सफलता अधूरी रह गई थी उसे पूरा करने का विशेष अवसर उसे तब मिला, जब तीनों प्रान्तों पर मराठों के आक्रमण होने लगे और वह जी-जान से अपनी प्रजा की रक्षा करने लगा।

नाजिम हो जाने पर अलीवर्दी खां ने अपने बन्धु-बान्धवों को उदारतापूर्वक पुरस्कृत किया। हम देख चुके हैं कि उसके तीन भतीजे

थे जिनके विवाह उसकी लड़कियों के साथ हुए थे। इनमें नवाजिश मुहम्मद खां को बंगाल के दीवान का पद मिला। साथ ही वह ढाका, चटगांव, त्रिपुरा, सिलहट का नायब नाजिम भी नियुक्त हुआ। जैनुद्दीन अहमद खां बिहार का नायब नाजिम बना दिया गया। इसके बेटे को अलीवर्दी खां ने गोद ले रखा था और वही पीछे सिराजुद्दौला के नाम से मशहूर हुआ। उड़ीसा अभी अलीवर्दी खां के कब्जे में न था, पर सईद अहमद खां को उसने वचन दिया कि उस पर अपना आधिपत्य होते ही तुम वहां के नायब नाजिम बना दिये जाओगे। हाजी अहमद का दामाद अताउल्ला खां भागलपुर का फौजदार नियुक्त हुआ। इसी प्रकार और सम्बन्धी तथा सहायक भी पुरस्कृत किये गये। प्रत्येक की पदोन्नति हुई, प्रत्येक का मनसब बढ़ा, प्रत्येक को नई खिलअत या ख़िताब मिला। हिन्दुओं में चैनराय और राजा जानकीराम के नाम भी इसी सिलसिले में लेने लायक हैं। चैनराय रायरायां आलमचन्द का पेशकार था। वह अब स्वयं रायरायां की उपाधि पाकर अलीवर्दी खां का दीवान हुआ। राजा जानकीराम पहले इसी पद पर रह चुका था। इसकी भी पदोन्नति हुई और यह सेना-विभाग में दीवान बना दिया गया। अलीवर्दी खां के शासनकाल में दो खास बातें ये हुईं कि तीनों प्रान्तों में शीया-सम्प्रदाय के मुसलमानों का महत्त्व बढ़ा और पटना–मुर्शिदाबाद जैसे नगर शीया-संस्कृति के प्रधान केन्द्र बन गये। उधर सरकारी विभागों में हिंदू अधिकारियों की भी संख्या-वृद्धि हो चली।

अलीवर्दी खां ने मुर्शिदाबाद पर चढ़ाई करने से पहले बादशाह को जो एक करोड़ रुपये देने का वादा किया था, उसे तो उसने मसनद

पर बैठते ही भेज दिया, पर सरफराज खां की सम्पत्ति और राजस्व की मद में बाकी निकलने वाली रकम को भेजने में कुछ देर हुई। इसकी वसूली के लिए दिल्ली से मुरीद खां नामक दरबारी बंगाल भेजा गया। ज्योंही अलीवर्दी खां को इसकी सूचना मिली, उसने मुरीद खां को लिखा कि मैं स्वयं आपसे मिलने राजमहल आ रहा हूं, आप तब तक पटने में विश्राम करें तो अच्छा होगा। फिर दोनों की सकरीगली में मुलाकात हुई। अलीवर्दी खां ने हिसाब तो चुका ही दिया, मुरीद खां का भी मुंह मीठा कर उसे वहां से सम्मानपूर्वक विदा किया। सरफराज खां की जो निजी जायदाद जब्त की जा चुकी थी और जो अब मुरीद खां के हवाले की गई, उसमें "लाखों रुपये नकद" के अलावा "सत्तर लाख के जवाहरात", सोना-चांदी के सरोसामान, कीमती कपड़े और कितने ही हाथी-घोड़े भी शामिल थे। *

दिल्ली की ओर से निश्चिन्त होते ही अलीवर्दी खां ने कटक की ओर से भी निश्चिंतता प्राप्त करने का उद्योग आरम्भ कर दिया।

उड़ीसा में पहले से ही, शुजाउद्दौला खां का दामाद मुर्शिदकुली खां नायब नाजिम था। उसके और अलीवर्दी खां के बीच सन्धि की

---

* "रियाजुस्सलातीन" में जो कुछ लिखा है वह इससे कुछ भिन्न है अगर उसकी बात मानी जाय तो सरफराज खां की सम्पत्ति की मद में अलीवर्दी खां ने कुल चालीस लाख रुपये ही भेजे। हां, सम्राट् के प्रधान मंत्री कमरुद्दीन खां को उससे तीन लाख और आसफ जाह निजामुल्मुल्क को एक लाख अवश्य मिले। "रियाज" में यह भी लिखा है कि अलीवर्दी खां ने सरफराज खां के प्रतिनिधि राजा युगलकिशोर से सांठ-गांठ करके तीनों प्रान्तों की सनद हासिल कर ली।

बातचीत होने लगी और दोनों यहां तक सहमत हो गये कि लोगों को जान पड़ा कि सन्धि होकर ही रहेगी। वास्तव में होने वाला कुछ और ही था। "मुताखरीन" का कहना है कि मुर्शिदकुली खां की स्त्री और उसके अपने दामाद मिर्जा बाकिर खां ने उसे इतना उभाड़ा कि अनिच्छुक होते हुए भी उसने सन्धि के नियमों के पालन का विचार त्याग दिया और लड़ने-भिड़ने की बात सोचने लगा। अलीवर्दी खां को इसका पता चला तो उसने मुर्शिदकुली खां को लिखा कि, "मैं तुमको किसी तरह का नुकसान पहुंचाना नहीं चाहता, फिर भी यह निश्चित-सा है कि अगर तुम कटक में रहे, तो हम दोनों में से किसी को भी शान्ति न मिल सकेगी। इसलिए मैं आशा करता हूं कि तुम अपने परिवार के लोगों और अपने माल-असबाब को साथ लेकर फौरन या तो दक्खिन-प्रदेश चले जाओगे, या—तुम्हारी इच्छा हो तो—मुर्शिदाबाद होकर 'हिन्दुस्तान'।" पत्र पाकर मुर्शिदकुली खां कुछ भयभीत अवश्य हुआ, पर अपनी स्त्री और अपने दामाद को लड़ाई के लिए अधीर देखकर उसने फिर सन्धि या सुलह का नाम नहीं लिया, बल्कि अलीवर्दी खां को यह लिखकर आग में घी डाल दिया कि, "मेरे प्रतिनिधि* ने मेरी ओर से जो कुछ तै किया, वह मेरी इच्छा के विरुद्ध है—मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता। अब हम दोनों के झगड़े का निबटारा तलवार-द्वारा

* "मुताखरीन" के अनुसार यह सूरत का निवासी था और इसका नाम आगा मुहम्मद तकी था। "रियाजुस्सलातीन" के अनुसार सुलह की बातचीत मुर्शिदकुली खां की ओर से मुखालिस अली खां ने शुरू की। यह हाजी अहमद का दामाद था, पर मुर्शिदकुली खां के साथ रहता आया था। अलीवर्दी खां और हाजी अहमद ने इसके द्वारा मुर्शिदकुली खां को ऐसा आश्वासन दिलाया कि वह निश्चिन्त होकर सो गया। उधर मुखालिस खां मुर्शिदकुली खां के सरदारों को फोड़-फोड़ कर अलीवर्दी खां के मतलब का काम करने लगा।

ही होगा।" इस चुनौती के जवाब में अलीवर्दी खां ने मुर्शिदाबाद नगर की रक्षा का भार अपने भाई हाजी अहमद और अपने भतीजे को सौंपा और आप रकाब में पैर रख, दस-बारह हजार चुने हुए सवारों के साथ शुभ मुहूर्त में उड़ीसा-प्रान्त की ओर रवाना हुआ।

यह बात सन् १७४० के अन्तिम दिनों की है। अलीवर्दी खां को उड़ीसा में एक साल से भी अधिक समय बिताना पड़ा। मुर्शिदकुली खां से उसका मुकाबला बालेश्वर से थोड़ी ही दूर पर हुआ। इस लड़ाई में अलीवर्दी खां की जीत कुछ ऐसे कारणों से हुई, जो उसके शत्रु के दुर्भाग्य और उसके अपने सौभाग्य के सूचक थे। अगर मिर्जा बाकिर ने अपने ससुर की इच्छा के विरुद्ध, आवेश में आकर अपना स्थान न छोड़ दिया होता——अगर उसकी फौज का अफगान-सरदार आबिद खां दुश्मन से मिलकर विश्वासघात न कर बैठता——तो जीत संभवतः मुर्शिदकुली खां की होती, अलीवर्दी खां की नहीं। वास्तव में हुआ यह कि मिर्जा बाकिर के बुरी तरह घायल हो जाने के कारण फौज में भगदड़ मच गई और जब मुर्शिदकुली खां ने बचने का और कोई उपाय न देखा, तब उसको साथ लेकर झटपट एक जहाज में जा बैठा और खुद भी भाग कर मछलीबन्दर जा पहुंचा। रतिपुर और जगन्नाथपुरी का राजा *

---

* "रियाजुस्सलातीन" के अँगरेजी अनुवादक गुलाम हुसैन सलीम ने अपनी पाद-टीका में इसका नाम हाफिज कादिर बताया है और कहा है कि यह रतिपुर (खर्दा) का राजा और पुरी के मन्दिर का प्रबन्धकर्ता था। मालूम नहीं, यह बात किस आधार पर लिखी गई है। इस पुस्तक में पुरुषोत्तम या पुरी के राजा का उल्लेख है। "मुताखरीन" में लिखा है कि यह "रतिपुर का राजा था और जगन्नाथ का भी।" आगे चलकर "मुताखरीन" ने इसे स्पष्टतः "हिन्दू" राजा बताया है।

उसके मित्रों में था और यह गाढ़े का ऐसा साथी निकला कि इसकी सहायता से उसके बाल-बच्चे, नौकर-चाकर सभी, माल-असबाब के साथ, अलीवर्दी खां के कटक पहुंचने से पहल ही वहां से चल पड़े और सकुशल दक्खिन पहुंच गये। यहां निजामुल्मुल्क के राज्य में मुर्शिदकुली खां को पहले ही शरण मिल चुकी थी। उधर विजेता अलीवर्दी खां ने कटक पहुंचकर प्रान्त के बड़े-बड़े जमींदारों को बुलवाया और राज-भक्ति का आश्वासन मिल जाने पर उन्हें सम्मान-प्रदान कर विदा किया। अपने दूसरे दामाद सईद अहमद खां को उड़ीसा का नायब नाजिम बनाने के लिए वह वचनबद्ध था, इसलिए उसे कटक बुलवा-कर उसने अपनी वह प्रतिज्ञा भी पूरी कर दी।

सुशासन की दृष्टि से अलीवर्दी खां को जो कुछ आवश्यक जंचा उसे पूरा कर, वह मुर्शिदाबाद लौट गया। पर कटक में अहमद खां की अयोग्यता के कारण परिस्थिति सुधरने के बजाय दिन-दिन बिगड़ने लगी, लोगों में उसके प्रति असन्तोष का भाव बढ़ने लगा, भीतर ही भीतर एक दूसरी क्रान्ति के लिए रंग-मंच तैयार होने लगा। इस सब के लिए प्रधानतः दोषी शाह अहिया नामक एक 'फकीर' था जिसकी अहमद खां से पुरानी जान-पहचान थी, जो घूमता-फिरता कटक जा पहुंचा था और जिसकी अब दरबार में तूती बोलने लगी थी। वास्तव में यह कोई योगी-यती नहीं, बल्कि दुश्चरित्र ढोंगी था। इसकी कुसंगति का फल यह हुआ कि नायब नाजिम दुराचारी बन गया और लंपटता की राह पर तेज कदमों से आगे बढ़ने लगा। इससे जनता में बड़ा ही असन्तोष फैला और मिर्जा बाकिर के पक्षपातियों को अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए अनायास ही उपयुक्त वातावरण मिल गया।

अचानक मिर्जा बाकिर ने कटक पहुंचकर ऐसा झपट्टा मारा कि

सईद अहमद खां से तख्त और ताज तो छिन ही गये, उसे अपनी निजी सम्पत्ति से भी हाथ धोना पड़ा और सपरिवार बंदीगृह में बन्द होना पड़ा। कटक के नागरिक विद्रोही हो गये थे और उनके इस विद्रोह के फलस्वरूप ही क्रान्तिकारियों को ऐसी आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी।

अलीवर्दी खां को कुछ बातों की खबर पहले ही मिल चुकी थी और वह कटक जाने की तैयारी भी कर चुका था। अब मालूम हुआ कि विद्रोहियों की सहायता से मिर्जा बाकिर पूर्णतः सफल हो चुका था और अहमद खां को कैदखाने में जान के लाले पड़ रहे थे। हाजी अहमद और उसकी स्त्री ने तो सलाह दी कि अगर मिर्जा बाकिर उनके बेटे को सपरिवार छोड़ दे, तो उससे लड़ा न जाय और उड़ीसा उसी को दे दिया जाय। पर अलीवर्दी खां को यह सलाह ठीक नहीं जंची। हां, जितनी तैयारी वह कर चुका था, वह काफी नहीं थी—उसे लगा कि अगर निजामुल्मुल्क मिर्जा बाकिर की पीठ पर न होता तो यह इतने बल और वेग से आक्रमण न कर सकता। इसलिए उसने लाव-लशकर बढ़ा कर ही कटक जाना और दुश्मन की ताकत की आजमाइश करना युक्तिसंगत समझा। अब उसने घुड़सवारों की संख्या बढ़ाकर बीस हजार कर दी और सेना को सुसज्जित करने में कोई भी कसर न छोड़ी। जब तैयारी पूरी हो चुकी, तब उसने कटक की ओर प्रस्थान किया।

वहां दोनों दलों का मुकाबला नगर से थोड़ी ही दूर, महानदी के किनारे हुआ। इसमें फिर मिर्जा बाकिर की हार हुई और फिर उसे मैदान छोड़ कर दक्खिन भागना पड़ा। अपने कैदी अहमद खां को वह साथ लेता गया था। रथ पर इसके साथ दो तूरानी सरदार तैनात थे। इन्हें आदेश मिल चुका था कि दुश्मन के

पास पहुंचते ही अहमद खां के पेट में खंजर घुसेड़कर उसे मार डालना। रथ के चारों ओर पांच सौ मराठे सवारों का पहरा था और इन्हें भी आज्ञा मिल चुकी थी कि अगर अनहोनी हो जाय और दूसरे दलवाले रथ के पास पहुंच जायं तो तुममें से प्रत्येक आदमी पहले अपना बरछा रथ के आर-पार कर दे, फिर अपनी जान बचाने का प्रयत्न करे। पर जब अनहोनी सचमुच होके रही तब न तो तूरानियों के खंजर, न मराठों के भाले ही अहमद खां का बाल बांका कर सके। मराठों को जो आज्ञा मिल चुकी थी, उसका उन्होंने पालन अवश्य किया, पर इसका नतीजा यही हुआ कि एक तूरानी सरदार मारा गया और दूसरा घायल होकर उसकी लाश के नीचे दबक गया। अहमद खां ने भी झुक या लेट कर अपनी जान बचाई*। इतने में ही उस रथ की तलाश में दौड़धूप करने वाले मुस्तफा खां, मीर जाफर खां†, मुहम्मद अमीन खां, दिलेर खां आदि सरदार आ पहुंचे और उनके पहुंचते ही अहमद खां को कैद से छुटकारा मिला, उसकी जिन्दगी की मीयाद बढ़ गई। अलीवर्दी खां के दल में हर्ष का पारावार न रहा। जब अहमद खां अपने चचा के पास पहुंचा, तब अलीवर्दी खां ने उठकर उसे छाती से लगा लिया और कुछ देर तक आनन्द-विभोर बना रहा। फिर उसने अहमद खां को नहवाया और

---

* "रियाजुस्सलातीन" में यह कथा कुछ और प्रकार से मिलती है। उसमें लिखा है कि अहमद खां के साथ रथ में एक ही शख्स खंजर लेकर बैठा था और वह था मुर्शिदकुली खां का भाई हाजी मुहम्मद अमीन। फिर उसमें पांच सौ की जगह कुल दो ही घुड़सवारों का जिक्र है, जिनके बरछों ने अहमद खां की जगह हाजी मुहम्मद अमीन का खातमा कर दिया।

† मीर जाफर अलीवर्दी खां का मीरबख्शी था। इसका पूरा नाम था मीर मुहम्मद जाफर खां बहादुर। यह अलीवर्दी खां के सौतेले भाई मीर मुहम्मद अमीन का बहनोई था।

उसे नई खिलअत देकर तथा कलगी, सरपेच, मोतीमाल आदि से विभूषित कर मसनद पर बैठाया। इसकी स्त्री और लड़के-बाले बारहबाटी के किले में कैद थे। वहां से सब के सब मुक्त कराये गये और यहीं बुलवा लिये गये। इसके बाद अलीवर्दी खां के आदेश से वे मुर्शिदाबाद के लिए रवाना हुए। अहमद खां को देखने के लिए उसके मां-बाप अधीर हो रहे थे, इसलिए उसका जल्द से जल्द मुर्शिदाबाद पहुंच जाना आवश्यक था। आप अलीवर्दी खां कुछ समय के लिए कटक में ही ठहर गया और सुशासन की दृष्टि से जो उत्तम प्रबन्ध हो सकता था वह हो जाने के बाद ही उसने मुर्शिदाबाद की राह ली।

उसकी अनुपस्थिति में वहां हाजी अहमद और जगत्सेठ फतहचन्द उसके प्रतिनिधि-स्वरूप काम करते जा रहे थे। रायरायां आलमचन्द की मृत्यु के बाद मंत्रिमंडल के सदस्य यही दोनों रह गये थे और इनके उत्तरदायित्व के ही भरोसे अलीवर्दी खां अपनी राजधानी से इतनी दूर के दौरे पर जा सकता था या प्रवास में महीनों विता सकता था।

फतहचन्द की कोठी और कंपनी के बीच आर्थिक सम्बन्ध पूर्ववत् ही बना रहा और इस सम्बन्ध से कम्पनी पूर्ववत् ही लाभ उठाती रही। ७ जुलाई सन् १७४० को उसे १२१,०००) कर्ज लेना पड़ा और इस कर्ज का भुगतान उसने जगत्सेठ की कोठी को चांदी बेच कर किया। दिसम्बर १७४० में कासिमबाजार के कर्मचारियों ने कौंसिल को लिखा कि हमें फतहचन्द को १२) सैकड़ा सालाना ब्याज देना पड़ता है, हमें आशा है कि आपके लिखने पर वह यह दर घटा कर ९) कर देंगे। इस पर प्रेसिडेंट ने उन्हें लिखा कि, "बरसों से कंपनी १२) सैकड़ा ब्याज देती आ रही है, पर इतना भारी बोझ उठाने में अब वह असमर्थ है। हमारी प्रार्थना है कि कासिमबाजार की फैक्टरी को जितने

रुपये की जरूरत हो, आप ९) सैकड़ा सालाना ब्याज पर दिया करें।" यह प्रार्थना स्वीकृत हो गई। २१ दिसम्बर को हीं वहां वालों को ६०,०००) कर्ज लेना पड़ा। यह रुपया उन्हें ९) सैकड़ा ब्याज पर ही मिला।

नमक की खरीद-बिक्री करने का कंपनी या उसके अंगरेज कर्मचारियों को कोई अधिकार नहीं था। वास्तव में इस अधिकार से दूसरे व्यापारी भी वञ्चित थे। नमक की खरीद-बिक्री से जो कुछ लाभ होता, उसका हकदार स्वयं नवाब नाजिम था। फिर भी अंगरेजों की धृष्टता ऐसी थी, कि वे उस क्षेत्र में समय-समय पर घुस ही जाते और जो कुछ हाथ लगता, लेकर बाहर निकल आते। हाजी अहमद कान में तेल डालकर बैठने वाला न था। उसने कंपनी के वकील को बुलवाया और कहा कि, "व्यापार-सम्बन्धी जो अधिकार अंगरेजों को प्राप्त हैं, वे सम्राट् की अपनी प्रजा को भी प्राप्त नहीं। उनके लिए यह अत्यन्त लज्जाजनक बात है कि वे फिर भी मर्य्यादा के भीतर नहीं रह सकते और जो छोटी-मोटी चीजें खास कर यहां के लोगों के लिए छोड़ दी गई थीं, उन्हें भी हथियाने लगे हैं। फिर नमक के इजारेदार तो खुद नवाब हैं—उनके साथ इस तरह पेश आने के मानी क्या?" वकील से यही जवाब बन पड़ा कि, "कंपनी इस विषय में कुछ भी नहीं जानती। अगर उसके कुछ कर्मचारियों ने नमक की खरीद-बिक्री की है, तो बिना उसकी जानकारी और इजाजत के।" पर हाजी अहमद जानता था कि असलियत क्या है। इसलिए उसने गरम होकर ऐसी झिड़की सुनाई कि वकील को चुप्पी साध लेनी पड़ी। उसने सारा वृत्तान्त कलकत्ते लिख भेजा। वहां यह तै हुआ कि जगत्सेठ को लिखा जाय कि आप हाजी अहमद को समझा-बुझा कर यह मामला निबटा दें। जगत्सेठ

ने उनके अनुरोध की रक्षा कर हाजी अहमद से क्षमा-प्रदान करा दिया। कंपनी को कुल १३,१९३) नकद देना पड़ा—और यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि भविष्य में अंगरेज नमक की खरीद-बिक्री से कोई सरोकार न रखेंगे। फतहचन्द की सिफारिश से इस मामले का निबटारा हो जाने की सूचना कौंसिल को देते हुए, कासिमबाजार के कार्यकर्ता फरवरी १७४१ में लिखते हैं—"हमें अपना भाग्य सराहना चाहिए कि इतना ही देकर हम इस संकट से मुक्त हो गये। यह निश्चित है कि अगर फतहचन्द की कृपा न होती और नवाब यहां से इतनी दूर न होता तो हम इतने सस्ते न छूटते।"

मार्च १७४१ में कंपनी ने जगत्सेठ से १५०,०००) कर्ज लिया। नवम्बर में उसने ५०,०००) चुका दिया। मार्च १७४२ में सूद का हिसाब हुआ तो, उस मद में कंपनी के जिम्मे १२,०००) निकला। इसका तो उसने कलकत्ते में भुगतान कर दिया, पर असल बाकी ही रहा। कुछ और रुपये की जरूरत पड़ी। इसलिए कंपनी की ओर से तीन हुंड नोट और लिखे गये—एक ११०,०००) का, दूसरा १००,०००) का और तीसरा ९०,०००) का। साथ ही पुराना हुंड नोट बदल दिया गया। किसी हुंड नोट में महाजन का नाम 'जगत्सेठ फतहचन्द आनन्द-चन्द' लिखा था तो किसी में 'सेठ महताबराय।' कहीं-कहीं यह नाम 'जगत्सेठ फतहचन्द' ही मिलता है। वास्तव में तीनों ही नाम प्रचलित थे—कम से कम कंपनी के कागजात में तीनों ही मिलते हैं। सेठ महताबराय फतहचन्द के पौत्र थे—अर्थात् सेठ आनन्दचन्द के पुत्र। कोठी का मशहूर नाम 'जगत्सेठ फतहचन्द सेठ आनन्दचंद' ही था और उन दोनों व्यक्तियों के मर जाने पर भी कई साल तक

इस नाम का व्यवहार होता रहा। यों तो सेठ आनन्दचन्द अपने पिता के जीवन-काल में ही परलोक सिधार चुके थे।

कंपनी को किस हुँडनोट की बाबत कितना चुकाना पड़ा, यह नीचे के विवरण से जान पड़ेगा:—

(१)

महाजन जगत्सेठ फतहचन्द को चुकाया गया	ता० २१ मार्च, १७४१-४२
असल	१००,०००)
सूद ८ नवम्बर तक (७ महीने, १८ दिन का ९) सैकड़ा के हिसाब से)	५,७००)
	१०५,७००)
बट्टा १५॥) सैकड़ा	१६,३८३॥)
	१२२,०८३॥)

(२)

महाजन जगत्सेठ फतहचन्द को चुकाया गया	ता० २६ मार्च, १७४१-४२
असल	९०,०००)
सूद (उसी हिसाब से, उसी तारीख तक—अर्थात् ७ महीने १३ दिन का)	५,०१७॥)
	९५,०१७॥)
बट्टा १५॥) सैकड़ा	१४,७२७॥=)६
	१०९,७४५=)६

(३)

महाजन जगत्सेठ फतहचन्द आनन्दचन्द को चुकाया गया	तारीख वही
असल	११०,०००)
सूद (उसी हिसाब से, उसी तारीख तक—अर्थात् ७ महीने १३ दिन का)	६,१३२॥)
	११६,१३२॥)
बट्टा १५॥) सैकड़ा	१८,०००॥) ९
	१३४,१३३) ९

(४)

महाजन सेठ महताबराय को चुकाया गया	तारीख वही
असल	१००,०००)
सूद (उसी हिसाब से, उसी तारीख तक—अर्थात् ७ महीने १३ दिन का)	५,५७५)
	१०५,५७५)
बट्टा १५) सैकड़ा	१६,३६४=)
	१२१,९३९=)
कुल भुगतान	४८७,९००।।।-)३

मुर्शिदाबाद और कलकत्ते के बीच वाणिज्य-व्यापार का स्रोत अपनी साधारण गति से बह रहा था, मिर्जा बाकिर की सहायता

करने के लिए मयूरभंज के राजा का प्राणान्त* कराके, अलीवर्दी खां उधर के जंगलों में शिकार खेलता और प्राकृतिक सौंदर्य को आंख भर देखता हुआ बंगाल की ओर लौटा जा रहा था। बिहार में जैनुद्दीन खां भोजपुर के इलाके को सर कर चुका था—भोजपुर के बाद मगह की बारी आ चुकी थी—और "मुताखरीन" के लेखक का पिता सैयद हिदायत अली खां, टेकारी (गया) के राजा सुन्दरसिंह और पलामू के राजा जयकिशनराय की मदद से रामगढ़ (हजारीबाग) के किले पर सरकारी झंडा फहराकर और आस-पास के पहाड़ी इलाके में भी अपने मालिक का सिक्का जमाकर उसी ओर कहीं सुस्ता रहा था—कि अचानक एक टिड्डी-दल के पश्चिम दिशा से टूट पड़ने की खबर मिली और बंगाल-बिहार-उड़ीसा के इतिहास में एक ऐसे अध्याय का आरंभ हुआ, जिसकी भीषणता लोगों को बहुत बरसों तक भूलने वाली न थी।

यह मराठों-द्वारा होने वाली बंगाल पर पहली चढ़ाई थी। अलीवर्दी खां के समय में ऐसी और भी चढ़ाइयां हुईं। इनसे तीनों प्रान्तों की विशेष क्षति इस कारण हुई कि मराठे उधर जमकर बैठने और शासन करने के उद्देश से नहीं,बल्कि लूट-पाट करने अथवा चौथ वसूल करने के उद्देश से ही जाते रहे और हाथ लगने वाले धन को नागपुर या अन्यत्र पहुंचाते रहे। उनकी इन चढ़ाइयों के फलस्वरूप जगत्सेठ को भी लुटना पड़ा, अंगरेजों को कलकत्ते की रक्षा के लिए एक काफी लम्बी और गहरी खाई खुदवानी पड़ी और अलीवर्दी खां को अन्त में विवश होकर उड़ीसा-प्रान्त मराठों के हवाले कर देना पड़ा।

मराठों-द्वारा होने वाले आक्रमण के स्रोत का उद्गम स्थान नागपुर

---

* "रियाजुस्सलातीन" में लिखा है कि अलीवर्दी खां ने कुछ दूर तक उसका पीछा किया, पर वह पकड़ा न जा सका।

था, जहां रघुजी भोंसले ने बरार की ओर से बढ़ते-बढ़ते अपना अधिकार जमा लिया था। यह बिम्बाजी भोंसले नामक सरदार का पुत्र था और किसी समय सातारा में शिवाजी के पौत्र शाहू का कृपा-पात्र बन चुका था। शाहू के आदेश से इसने अपने चचा कान्होजी को पराजित कर कैदखाने में डलवा दिया और १७३० के लगभग सेना साहेब का पद तथा बरार का अधिकार पाकर यह गिनती में आ गया। रघुजी महत्त्वाकांक्षी था। पूरब की ओर पांव पसारने की गुंजाइश देखकर इसने उधर वही काम करना शुरू किया, जो शिन्दे, होलकर, पंवार, गायकवाड़ आदि दूसरी दिशाओं में कर रहे थे।

बंगाल पर मराठों की पहली चढ़ाई रघुजी के प्रधान-मंत्री भास्कर पन्त कोल्हटकर के नायकत्व में हुई। इतिहास में यह भास्कर पंडित के नाम से प्रख्यात है। इसके साथ मीर हबीब * भी था, जो पहले ढाके में और फिर कटक में मुर्शिदकुली खां का नायब रह चुका था और जो उसके हारकर भाग जाने पर रघुजी भोंसले से यह चढ़ाई कराने के उद्देश से नागपुर जा पहुंचा था। रघुजी ने इसके अलावा एक और मुसलमान सरदार को उच्च पद देकर भास्कर पंडित के साथ भेजा था। इसका नाम अली करावल था।

भास्कर की सेना में पच्चीस से चालीस हजार घुड़सवार थे और उसने छोटा नागपुर-प्रदेश होकर बंगाल पर आक्रमण किया था।

* इसका पूरा नाम था मीर हबीब अर्दिस्तानी। जिसका जिक्र ऊपर आ चुका है। "मुताखरीन" का बयान है कि मराठों से गुप्त सम्बन्ध रखते हुए भी यह अलीवर्दी खां के बर्दवान पहुंचने तक उसके साथ बना रहा; फिर लड़ाई में घायल होने पर भास्कर पंडित के दल में जा मिला। "मुताखरीन" में इस संभावना का भी उल्लेख है कि रघुजी को उकसाने वाला निजामुल्मुल्क था।

मुबारक मंजिल (मेदिनीपुर) के पास अलीवर्दी खां को पक्की खबर मिली कि मराठे बर्दवान के बिलकुल पास पहुंच चुके थे। उस समय बहुत थोड़े-से सैनिक उसके साथ रह गये थे, बाकी या तो खेत आ चुके थे या बर्खास्त हो चुके थे या मुर्शिदाबाद पहुंच चुके थे। फिर भी अलीवर्दी खां ने बर्दवान पहुंचकर मराठों का मुकाबला किया। वहां उसे कामयाबी हासिल न हो सकी—बल्कि उसे हार खाकर किसी तरह जान बचाते हुए मुर्शिदाबाद की ओर सरकना पड़ा। कटवा पहुंचने पर दम मारने की फ़ुरसत मिली भी तो मालूम हुआ कि मराठे वहां पहले ही पहुंच चुके थे और लूट-पाट मचाकर तथा खेतों, खलियानों और बखारों में आग लगाकर फिर हवा हो चुके थे।

बरसात करीब थी और अलीवर्दी खां पीछे हटते-हटते अपनी राजधानी के पास पहुंच चुका था। भास्कर पंडित का विचार वीरभूम के रास्ते नागपुर लौट चलने का हुआ, पर मीर हबीब ने इसका विरोध किया। "मुताखरीन" के लेखक का कहना है कि

"मीर हबीब अपनी जान पर खेलकर मराठों का इतना उपकार कर चुका था कि उसके विरोध की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। ईरान से चलकर एक मामूली फेरीवाले के रूप में यहां आनेवाले इस शख्स की तारीफ करनी होगी कि जिसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था, उसने अपनी गुण-गरिमा से अपने लिए विशिष्ट पद प्राप्त कर लिया। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह घबराने या डांवाडोल होने वाला न था। अगर एक युक्ति विफल हो जाती तो पांच और युक्तियों को पेश करते उसे देर न लगती। सेनापतित्व के सम्पादन में भी वह बराबर धीर-वीर बना रहता। जब उसने भास्कर पंडित का प्रस्ताव सुना, तब बंगाल से इतना थोड़ा लेकर ही चल देना उसे स्वीकार नहीं

हुआ। उसने अपने प्रधान से कहा कि अगर आप रुपया चाहते हैं तो मुझे एक हजार घुड़सवार दीजिए, मैं अलीवर्दी खां के मुर्शिदाबाद पहुँचने से पहले ही वहां पहुंच जाऊंगा और जहां शहरपनाह तक नहीं, उस शहर के एक जगत्सेठ के ही घर से इतना धन ला दूंगा कि आप सन्तुष्ट हो जायंगे। मीर हबीब की सलाह और उसकी दलीलों का भास्कर पंडित पर ऐसा असर पड़ा कि उसके साथ कोई एक हजार अच्छे से अच्छे सवार कर दिये गये और वह घोड़े को एड़ लगा कर फौरन मुर्शिदाबाद रवाना हुआ। अलीवर्दी खां को इसकी भनक मिल गई। वह राजधानी की परिस्थिति को अच्छी तरह जानता था और उसे यह विश्वास न हो सकता था कि उसका भाई या भतीजा नगर-निवासियों की रक्षा कर सकेगा। इसलिए वह स्वयं झटपट चल पड़ा। पर जहां अलीवर्दी खां को मुर्शिदाबाद पहुंचने में दो दिन लगे, वहां मीर हबीब एक ही दिन में वहां पहुंच गया। अलीवर्दी खां के पहुंचने से पहले ही वह जगत्सेठ का घर लूट चुका था और वहां से दो करोड़ रुपये तथा कुछ अन्य सम्पत्ति लेकर अदृश्य हो चुका था। उसने नगर के कुछ अन्य भागों को भी लूटा। एक काम यह किया कि अपने भाई मीर शरीफ के घर पहुंच कर उस को अपने साथ ले लिया।"

मुर्शिदाबाद के लोगों को मार्च (१७४२) में खबर मिली थी कि मराठे बंगाल में प्रवेश कर चुके हैं और लूट-पाट करते तथा गांवों और शहरों को जलाते हुए वीरभूम की ओर बढ़ते आ रहे हैं। मराठों का ऐसा आतंक था कि इस समाचार के पहुंचते ही लोग शहर छोड़कर जहां-तहां भागने लगे। जो लोग भागने में असमर्थ थे, वे भी अपने-अपने माल-असबाब को मुर्शिदाबाद से बाहर भेजने लगे। अप्रैल बीतते-बीतते शहर बहुत-कुछ खाली हो चुका था और वहां प्रायः सरकारी कर्मचारी-

मात्र रह गये थे। कासिमबाजार का भी यही हाल था—वहां एक भी व्यापारी नहीं रह गया था। जगत्सेठ ने पहला काम यह किया कि अपने परिवार को और कहीं भेज दिया, फिर जितना धन मुर्शिदाबाद से हटाया जा सकता था, उसे हटवाना शुरू किया। इससे लोगों की घबराहट और भी बढ़ गई। फतहचन्द ने अपना कुछ धन कलकत्ते भेज दिया, इसका कंपनी के कागजात में उल्लेख मिलता है। और व्यापारियों ने भी यही किया। एक ही दिन २०७ नावें कलकत्ते पहुंचीं। इनमें एक नाव पर जगत्सेठ के ही पन्द्रह तोड़े रुपये थे।

मई में हाजी अहमद को अपने भाई का एक खत मिला था, जिसमें अलीवर्दी खां ने बर्दवान से लिखा था कि मराठे मुझसे एक करोड़ रुपया मांग रहे हैं, पर मैं उन्हें कानी कौड़ी देने को भी तैयार नहीं। हाजी अहमद ने फौरन फतहचन्द को बुलवाया और उन्हें अपने खास कमरे में ले जाकर वह खत पढ़ सुनाया। उसने यह भी बताया कि मराठों के व्यूह को भेदकर अलीवर्दी खां मुर्शिदाबाद की ओर निकल आया है और इस समय उसका पड़ाव कटवा में है, जहां कठिनाइयों के होते हुए भी वह कहीं अधिक सुरक्षित है। मई में ही मीर हबीब ने जगत्-सेठ के घर पर छापा मारा और जो धन वहां से हटाया न जा सका था, उसे लूट ले गया।

"मुताखरीन" का अंगरेजी अनुवाद करनेवाला* इस प्रसंग में लिखता है कि—

"जिसका घर मीर हबीब-द्वारा लूटा गया, उसका नाम जगत्सेठ

---

* अनुवादक एक फरासीसी था जिसने इस्लाम को ग्रहण कर अपना नाम 'हाजी मुस्तफा' रख लिया था।

आलमचन्द * था। यह व्यक्ति संसार में सब से धनी था। आज भी (१७८६) उस घराने में कम से कम दो हजार आदमी गुजर-बसर करते हैं। वहीं से लुटेरे पूरे दो करोड़ ले गये। ये सारे रुपये एक ही टकसाल के अर्थात् आरकाट के ढले हुए थे, यह बात और भी विशेषता-पूर्ण थी। यूरोप के किसी भी बादशाह को ऐसा धक्का लगता तो वह बेहोश हुए बिना न रहता, पर जगत्सेठ पर इसका असर नहीं के बराबर पड़ा और यह परिवार पहले की ही तरह दर्शनी हुंडी के जरिये, सरकार को एक-एक करोड़ तक का भुगतान करता-कराता रहा। यह बात बंगाल में इतनी विख्यात है कि इसे प्रमाणित करना अनावश्यक है।"

लूट के माल के साथ मीर हबीब भास्कर पंडित के पड़ाव पर पहुंचा, जो उस समय वीरभूम जिले में कहीं था। उसने अपनी सफलता की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए इस बात पर बहुत जोर दिया कि बंगाल में अभी और बहुत-कुछ हाथ लग सकता है, पर उसके लिए यहां कुछ और समय बिताने की जरूरत है। उसने यह भी कहा कि जल्दबाजी करना और इतना थोड़ा-सा धन लेकर ही चल देना बड़ी मूर्खता होगी और इसके लिए रघुजी भोंसले हम लोगों को फटकारे बिना न रहेंगे। भास्कर को उसकी बात ठीक लगी और वह नागपुर लौटने के बजाय कटवा में ही आसन मारकर बैठ गया। मीर हबीब उसके प्रधान मंत्री की हैसियत से अपना समय कटवा और हुगली के बीच बिताने लगा और तरह-तरह की युक्तियों का अवलम्बन कर छोटे-बड़े जमींदारों और व्यापारियों से जितना रुपया ऐंठ सकता था, ऐंठने लगा।

संभवतः अलीवर्दी खां के मुर्शिदाबाद पहुंच जाने के बाद भी

* यह गलती है। फतहचन्द होना चाहिए था।

फतहचन्द का घर एक बार और लूटा गया। लूट में हाजी अहमद के या उसके अपने ही कुछ सिपाही शामिल थे। संभवतः इन लोगों को जो दंड मिलना चाहिए था, न मिला। फतहचन्द को बात बहुत बुरी लगी और मुर्शिदाबाद छोड़कर वह स्वयं ढाके चले गये। अलीवर्दी खां की ओर से उन्हें लौटा ले आने के लिए कुछ आदमी भेजे गये, पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि जिस नगर में कोई सरकार ही नहीं, वहां हम सुरक्षित कैसे रह सकते हैं?

कासिमबाजार में जो अंगरेज कर्मचारी रह गये थे, वे अपने ७ जून के पत्र में लिखते हैं:—

"हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि जो व्यापारी रेशमी माल बेचने वाले थे, उनमें से एक भी अभी तक नहीं लौटा है। जुलाहे भी बाहर ही हैं। बेचारे करें तो क्या? जिन-जिन स्थानों में माल तैयार होता था, वे उजड़-से गये हैं। जुलाहों के घर-बार जलकर राख हो गये हैं और यही हालत उनके करघों की हुई है। हमने नवाब और हाजी अहमद के पास एक अर्जदाश्त भेजकर प्रार्थना की है, कि जो व्यापारी खरीद-बिक्री का कौल-करार या लिखा-पढ़ी कर चुके हैं, उन्हें यहां बुलवा दिया जाय, वर्ना हमारा व्यापार मिट्टी में मिल जायगा। पर सफलता की आशा बहुत कम है। जब तक जगत्सेठ नहीं लौटते, तब तक और कोई व्यापारी लौटने वाला नहीं। सब उन्हीं का अनुसरण करने वाले हैं। सुना है कि फतहचन्द ढाके पहुंच गये। नवाब ने कई दूत उनके पास भेजे, पर उन्होंने बीमारी का बहाना कर दिया और न लौटे। कल मुर्शिदाबाद का काजी उनके पास भेजा गया है। उसे आज्ञा मिली है कि समझा-बुझा कर फतहचन्द को वापस ले आओ, क्योंकि उनका यहां रहना व्यापारियों के लिए ही नहीं, सरकार के लिए भी जरूरी है। इधर एक

हफ्ते से नवाब और हाजी अहमद का मिलना-जुलना बन्द है। नवाब ने कुछ तोहफा भेजा था तो हाजी अहमद ने उसे लौटा दिया। अनबन का कारण यह बताया जाता है कि मुर्शिदाबाद लौटने पर नवाब ने कहा कि बड़े अफसोस की बात* है कि अपने पास दूने सवार होते हुए भी मराठों को अपनी छावनी तथा जगत्सेठ का घर जलाने और लूटने दिया गया!"

इसके प्राय: एक सप्ताह बाद फतहचन्द मुर्शिदाबाद लौटे। उनके साथ और कई व्यापारी थे। पर अपने दोनों पोतों को—महताबराय और स्वरूपचन्द को—वे ढाके में ही छोड़ते आये। मुर्शिदाबाद अभी निरापद नहीं हुआ था, इसलिए फतहचन्द वहां कम से कम रुपया-पैसा अपनी तिजोरियों में रखना चाहते थे। उन्होंने कासिमबाजार के अंगरेजों को कहलाया कि रुपये की जरूरत हो तो कर्ज ले सकते हो। अंगरेज कुछ चांदी बेचना चाहते थे, पर उस समय चांदी छूने से भी फतहचन्द को इन्कार था। "जब टकसाल ही बन्द है, तब मैं चांदी लेकर क्या करूंगा? जो रुपया मौजूद है, उसी को हटाना मुश्किल हो रहा है, फिर बोझ को बढ़ाने से फायदा ही क्या?" फतहचन्द का जो गुमाश्ता हुगली में रहता था, वह कार्यवश कलकत्ते गया तो कौंसिल ने बहुत कहा कि आप कुछ चांदी ले लीजिए। पर उसने यही जवाब दिया कि "मालिक की ओर से चांदी लेने की मनाही है, बल्कि ढाका तथा अन्य स्थानों में भी ऐसी ही मनाही हो चुकी है।" मराठों की उपस्थिति और

---

* "तबे हाजि साहेब के नवाब अनेक बुलिल,
एतेक लस्कर रइते बाड़ी लुइटा गेल!"

ये पंक्तियां 'महाराष्ट्र-पुराण' नामक ग्रंथ से उद्धृत ह, जिसके लिए परिशिष्ट-भाग द्रष्टव्य है।

मीर हबीब की हरकतों ने पश्चिम बंगाल में राज-काज का चलना बंद-सा कर दिया था। अलीवर्दी खां का प्रभुत्व उधर के कई जिलों में—मसलन मेदिनीपुर, हुगली, बर्दवान में—नाममात्र को रह गया था; बल्कि उड़ीसा के भी कुछ अंश पर मराठों का अधिकार हो चला था। कुछ ही दिन बाद फतहचन्द फिर ढाके लौट गये। और व्यापारी भी रंग-ढंग ठीक न देखकर मुर्शिदाबाद से धीरे-धीरे हटने लगे। १० जुलाई को कासिमबाजार के अंगरेज लिखते हैं कि—

"८ तारीख की रात को जगत्सेठ मुर्शिदाबाद से बाहर चले गये। यहां से हमारे भी कई व्यापारी जा चुके और कई जाने की तैयारी कर रहे हैं।"

अलीवर्दी खां मराठों को मार भगाने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर तैयारी करने लगा। पर सैनिकों का वेतन चुकाने के लिए रुपया चाहिए था और रुपया जुटाना उस समय बहुत कठिन काम हो रहा था। उधर अलीवर्दी खां के अपने सैनिक भी उद्धत और उद्दंड होकर प्रजा पर अत्याचार करने लगे थे। तत्कालीन परिस्थिति में अनुशासन की शिथिलता अनिवार्य-सी हो गई थी और इस शिथिलता से अराजकता पैदा होने लगी थी। कासिमबाजार के अंगरेजों ने नवाब से डाकेजनी की शिकायत भी की तो कोई नतीजा न निकला। डाका मारने वाले सैनिक थे और उनकी करतूतों से लज्जित होते हुए भी अलीवर्दी खां उन्हें रोकने या दंड देने में असमर्थ था।

उसने अपने भतीजे जैनुद्दीन खां को लिखा कि इस संकट-काल में धन-जन से हमारी जितनी सहायता कर सकते हो, फौरन आकर करो। ढाका, मालदा और राजमहल से नावें मंगवाकर उसने बहुत बड़ा बेड़ा भी तैयार कराया। प्रत्येक सरदार से कहा गया कि जितने सवार या

सिपाही भरती कर सकते हो, करो और प्रत्येक को इसके लिए प्रोत्साहन के अलावा पुरस्कार भी दिया गया। पुरानी तोपों की मरम्मत कराई गई और कुछ नई तोपें बनवाई गईं। पर यह सारी तैयारी हो ही रही थी कि दिल्ली से मुरीद खां फिर आ धमका और माल का बकाया तलब करने लगा। इस बार परिस्थिति और प्रकार की थी, इसलिए अलीवर्दी खां ने कुछ भी देने में अपनी असमर्थता प्रकट की और सम्राट् को लिखा कि मराठों के आक्रमण की कहानी आप सुन ही चुके होंगे, मैं आपको बंगाल की सुध दिलाता हूं और आप से प्रार्थना करता हूं कि जल्द से जल्द वहां से किसी बड़े सरदार को यहां ससैन्य भेजकर मेरी सहायता करें और बंगाल को मराठों के अधीन हो जाने से बचावें। मुहम्मद शाह ने एक खत अवध के सूबेदार को लिखा और दूसरा बालाजी बाजीराव को। बाजीराव के मरने पर इसे ही पेशवा का पद मिला था। यह अरसे से मालवा-प्रान्त की सनद चाहता था और रघुजी भोंसले से इसका वैमनस्य भी चला आता था। शत्रु से बदला लेने और वैध रूप से मालवा का अधिकार प्राप्त करने का यह बालाजी को अच्छा मौका मिला।

अलीवर्दी खां ने बरसात बीतते ही मुर्शिदाबाद से कूच किया। कटवा के आमने-सामने, भागीरथी के दूसरी ओर, एक स्थान पर पहुंचकर उसने छावनी डाली। वहां सात-आठ दिन तक दोनों ओर से गोलाबारी होती रही। अलीवर्दी खां की वास्तविक इच्छा भागीरथी को पारकर, मराठों पर टूट पड़ने की थी। इसके लिए नावों का पुल तैयार किया गया और निविड़ अन्धकार में एक रात अलीवर्दी खां की सेना उस पार से इस पार पहुंच गई। कहा गया है कि मराठे भाग पड़े और अलीवर्दी खां ने उनका पीछा किया। हुगली, बर्दवान, मेदिनीपुर—

हर जगह मराठों के पांव उखड़ गये और वें जिस राह आय थे, उसी राह भागने की चेष्टा करने लगे। पर छोटा नागपुर के जंगल इसमें बाधक हुए और भास्कर को मेदिनीपुर-बालेश्वर-कटक होते हुए भागकर अपनी रक्षा करनी पड़ी। अलीवर्दी खां ने चिलका-झील तक पीछा किया, पर जब भास्कर और मीर हबीब पकड़े न जा सके, तब खाली हाथ कटक लौट आया। उड़ीसा में पिछली बार वह शाह मुहम्मद मसूम पानीपती को अपने प्रतिनिधि के रूप में छोड़ आया था। यह मराठों-द्वारा हरिहरपुर में मारा जा चुका था, इसलिए वह पद अब मुस्तफा खां के चचा अब्दुल नबी खां को प्रदान किया गया। राजा जानकीराम का बेटा दुर्लभराम इसका नायब या पेशकार नियुक्त हुआ।

इस बीच अवध का सूबेदार अबुल मंसूर खां और पशवा बालाजी बाजीराव सम्राट् का आदेश पाकर, पूरब की ओर प्रस्थान कर चुके थे। अबुल मंसूर पटने पहुंच चुका था कि उसे खबर मिली कि बालाजी की फौज अवध होकर आने वाली है। उसने फौरन मनेर के पास गंगा को पार किया और सिर पर पांव रख अवध लौट गया। बालाजी राव को भी बिहार पहुंचते देर न हुई। वह पटने के पास से तो गुजरा, पर वहां मुकाम नहीं किया। दाऊदनगर, गया, मानपुर, टेकारी, बिहार शरीफ, मुंगेर, भागलपुर होते हुए वह वीरभूम की ओर बढ़ गया। जब अलीवर्दी खां उससे मिला, तब बालाजी ने सब से पहले चौथ का जिक्र छेड़ा और हिसाब चुकता हो जाने पर ही उसने सम्राट् की आज्ञा का पालन करने का नाम लिया। रघुजी भोंसले अपनी सना के साथ बंगाल पहुंच चुका था और भास्कर पन्त भी लौट चुका था। रघुजी का पड़ाव कटवा और बर्दवान के बीच था और भास्कर का मेदिनीपुर में। बालाजी बाजीराव से शिकस्त खाकर रघुजी

को नागपुर भागना पड़ा। भास्कर भी बंगाल में न ठहर सका। उड़ीसा होकर, वह भी जहां से आया था वहीं लौट गया।

कहने के लिए तो बालाजी बंगाल गया था सम्राट् के आदेश से अलीवर्दी खां की सहायता करने, दर असल उसका उद्देश था अलीवर्दी खां से चौथ वसूल करना—इस मद में उसके जिम्मे मोटी रकम बाकी ठहराकर, पत्थर तले दबे हुए हाथ से जितना मिल सके, उतना ले लेना और आगे के लिए भी नाजिम को शर्तों से जकड़बंद कर जाना। ७ जुलाई सन् १७४३ को उसे मालवा की सनद मिल गई और इसके बाद ही उसका रघुजी से मेल या समझौता भी हो गया। अब उसने अवध, बंगाल, बिहार और उड़ीसा का कर वसूल करने का अधिकार शाहू से रघुजी को दिलवा दिया,* जिससे प्रोत्साहित होकर भोंसले ने वर्षा-काल के बाद ही, भास्कर पन्त को फिर पूरब की ओर रवाना किया।

जिस समय फतहचन्द ढाके में प्रवास कर रहे थे, उस समय कंपनी को कुछ उधार लेने की जरूरत पड़ी। फतहचन्द एक लाख से कम देने को तैयार न थे, इसलिए ढाकेवालों को उतना ही लेना पड़ा। अगस्त (१७४२) में कंपनी की ओर से पूछा गया कि और कुछ उधार मिल सकता है क्या, और अगर मिल सकता है, तो कितने ब्याज पर? फतहचन्द ने कहा कि जितने रुपये की जरूरत हो, कंपनी ले सकती है; ब्याज की दर वही रहेगी—९) प्रतिशत प्रतिवर्ष। समय के लिहाज से कंपनी के कर्मचारियों को यह दर कुछ ऊंची जंची। कौंसिल ने ढाका-फैक्टरी को लिखा कि अभी खरीदारी बंद रहेगी, इसलिए दादनी देने

---

* "मराठों का उत्थान और पतन"—श्री गोपाल दामोदर तामस्कर लिखित।

था कर्ज लेने की जरूरत नहीं। पर अक्टूबर में उसे ४०,०००) कर्ज लेना ही पड़ा। ब्याज में किसी तरह की कमी नहीं हुई। हां, ढाके में उसकी कुछ नावें रोक ली गई थीं और उसके कर्मचारियों के साथ 'दुर्व्यवहार' होने लगा था। फतहचन्द के सिफारिश करने पर नावें छोड़ दी गईं—वह 'दुर्व्यवहार' भी बंद हो गया। अक्टूबर में नवाब और हाजी अहमद दोनों ने ही फतहचन्द को लिखा कि मराठे बंगाल से चंपत हो चुके, अब आपको लौट आने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। फतहचन्द मुर्शिदाबाद लौट गये। उनके लौटने पर ही कंपनी ने चांदी देकर उन चारों हुंड नोटों का भुगतान किया जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

नवम्बर १७४२ में कौंसिल ने यह निर्णय किया कि—

"चूंकि कंपनी पर फतहचन्द के कर्ज का भारी बोझ है और उन्होंने बहुत कहने-सुनने पर कर्ज के भुगतान में चांदी लेना स्वीकार कर लिया है, हम लोगों की सम्मति है कि उन्हें चांदी देकर यह कर्ज चुका दिया जाय।

"उनके साथ यह तै हुआ है कि चांदी का दाम तो वही रहेगा जो और व्यापारी इधर देते आये हैं, पर कासिमबाजार की परिपाटी के अनुसार वह चांदी को 'सिक्कों' से तौल कर ही लेंगे। और जगह तो प्रेसिडेंट हेजेस के समय से चांदी की मझोली पेटी का वजन ९३२५ 'सिक्कों' के वजन के बराबर मान कर ही इसकी खरीद-बिक्री होती रही है।

"आज्ञा दी जाती है कि इस समझौते के अनुसार भुगतान कर देने के लिए खजाने से चांदी की ५४ पेटियां निकाल कर प्रेसिडेंट को दे दी जायं।"

जनवरी १७४३ में ढाके की फैक्टरी से कौंसिल को एक खत मिला जिसमें लिखा था कि फतहचन्द मार्च में साल तमाम होने पर चालू खाता बंद करने वाले हैं, इसलिए उनका कहना है कि कंपनी या तो हिसाब बेबाक कर दे या तमस्सुक बदल दे। हिसाब बेबाक करने के लिए तीन लाख रुपया चाहिए था। इसके अलावा फतहचन्द की कोठी से कुछ और कर्ज लेने की जरूरत थी। कौंसिल ने जवाब दिया कि जरूरी खर्च के लिए हम एक लाख भेजने का प्रबन्ध कर रहे हैं, पर इस समय रुपये की ऐसी टान है कि हम पुराना कर्ज चुकाने के लिए कुछ नहीं भेज सकते। अगर फतहचन्द न मानें तो तमस्सुक बदल देना, लेकिन कोशिश इस बात की करना कि बिना बदले ही काम चलता रहे। संभवतः यह न हो सका। फरवरी में ढाका-फैक्टरी को १६०,०००) नये कर्ज के तौर पर भी लेना पड़ा।

इधर अलीवर्दी खां को भास्कर पंडित का पीछा करते हुए उड़ीसा जाना पड़ा था और वह उसको भगाने में पूर्णतः सफल भी हो चुका था। फरवरी में कौंसिल ने निश्चय किया कि नवाब के मुर्शिदाबाद लौटने पर उसे बधाइयां भेजी जायं और हाजी अहमद तथा फतहचन्द को भी इस कामयाबी पर अपनी खुशी जाहिर करने के लिए खत लिखे जायं।

अलीवर्दी खां बंगाल लौट आया—पर उसके साथ मराठे भी लौट आये, बल्कि कहना चाहिए कि एक ओर से बालाजी बाजीराव और दूसरी ओर से रघुजी भोंसले के आ धमकने के कारण परिस्थिति और भी विभीषिका-पूर्ण हो गई। संभवतः अलीवर्दी खां को बधाइयां भेजने की बात जहां थी, वहीं रह गई। फिर मुर्शिदाबाद में घबराहट फैली और फिर लोग बोरिया-बधना उठा-उठाकर मालदा, ढाका, रामपुर बौलिया, गोदागारी की ओर भागने[६] लगे। फतहचन्द फिर

जहांगीरनगर (ढाका) चले गये और अलीवर्दी खां तथा हाजी अहमद ने भी अपना-अपना कुटुम्ब और अपना-अपना माल-असबाब वहीं भेज दिया। आफत टली भी तो सरकारी खजाना खाली कर—तीनों प्रांतों का बहुत-कुछ खून चूस कर—जगत्सेठ फतहचन्द को एक और धक्का पहुंचा कर। ६ जून १७४३ को कासिमबाजार के अंगरेज कर्मचारी लिखते हैं—"यहां रुपया उधार मिलना असंभवप्राय हो रहा है। फतहचन्द तथा अन्य धनी व्यक्तियों के ढाके भाग जाने से यहां रुपये की जैसी टान इस समय हो रही है, वैसी पहले कभी नहीं हुई थी।" अगस्त तक फतहचन्द मुर्शिदाबाद लौट आये थे। २२ अगस्त को कलकत्ता-कौंसिल अपने लेखे में लिखती है—"यह प्रत्यक्ष है कि इधर नवाब को बहुत-कुछ खर्च करना पड़ा है और वह उसका कुछ अंश फतहचन्द से वसूल करने के लिए उन पर हर तरह से दबाव डाल रहा है।"

मुर्शिदाबाद लौटने पर फतहचन्द ने कंपनी से वह रुपया मांगा, जो कासिमबाजार का प्रधान सर फ्रैंसिस रसेल उनकी कोठी से उधार ले चुका था। कंपनी यह कर्ज चुकाने में आनाकानी करने लगी, जिसका नतीजा यह हुआ कि फतहचन्द को अपनी फरियाद नवाब के कानों तक पहुंचानी पड़ी। बात क्या थी, यह रसेल के उत्तराधिकारी के उस पत्र से स्पष्ट हो जाता है, जो उसने ११ अगस्त को कौंसिल के नाम लिखा था:—

"फतहचन्द का गुमाश्ता सर फ्रैंसिस रसेल का तमस्सुक लेकर आया था। उससे जान पड़ा कि असल २५,०००)* था, सूद अलग है। गुमाश्ता रुपया मांगने लगा। हमने कहा कि कलकत्ते के 'मेयर' की

* यहां 'सिक्कों' से अभिप्राय है।

अदालत से कोई शख्स रसेल की जायदाद का इंतजामकार मुकर्रर हो चुका है; वह अभी रसेल का पावना वसूल कर रहा है; जो कुछ वसूल हो सकेगा, उसे वह रसेल के महाजनों में बांट देगा। फतहचन्द का गुमाश्ता बोला कि, "हमारे मालिक न तो 'मेयर' की अदालत को जानते हैं और न किसी ऐसे इंतजामकार को। वह सिर्फ कंपनी को जानते हैं। यह कर्ज उन्होंने कंपनी की फैक्टरी को दिया था, इसलिए वह आशा करते हैं कि कंपनी उसे चुका देगी। आप लोगों के सामने दो रास्ते हैं—जिस पर आप की मर्जी हो चल सकते हैं। या तो इस तमस्सुक का रुपया चुका दीजिए और जगत्सेठ से दोस्ती बनाये रखिए; या उसे चुकाने से इन्कार कर दीजिए और उनसे अपना रिश्ता तोड़ लीजिए। यह रकम कभी डूबने वाली नहीं। इतना जरूर है कि इसे वसूल करने के लिए उन्हें जो कुछ करना पड़ेगा, वह आपको अच्छा न लगेगा।"

प्रधान ने सब-कुछ सुन लेने पर इतना ही कहा कि, "हम अपनी कौंसिल को इसके बारे में लिख रहे हैं। वहां से जो जवाब आवेगा, उसे आप के पास भेज देंगे।"

अपने पत्र में प्रधान ने यह भी लिखा था कि "कौंसिल को यह बताने की जरूरत नहीं कि फतहचन्द चाहे जैसे हो, रुपया वसूल करने पर तुल गये हैं। कौंसिल को मालूम है कि सरकार इस समय कैसी तंगदस्त है और उस पर उनका कैसा प्रभाव है। अगर हमने उनको रुष्ट कर दिया तो सरकार को जोर-जबर्दस्ती करने का एक बहाना मिल जायगा और इसका नतीजा हमारे लिए बहुत ही बुरा होगा। हम आशा करते हैं कि कौंसिल इन सारी बातों पर विचार कर किसी निर्णय पर पहुंचेगी।"

नवाब इस मामले की जांच करने का हुक्म चैनराय को दे चुका था और कासिमबाजार की फैक्टरी की ओर से कौंसिल को लिखा जा चुका था कि "हमें डर है कि जब चैनराय तहकीकात शुरू करेगा, तब सारा भेद खुले बिना न रहेगा—अर्थात् उसे मालूम हो जायगा कि कंपनी के अंगरेज कर्मचारी निजी कारबार भी किया करते हैं। दरबार में हमने इसे कभी स्वीकार नहीं किया है—बराबर यही कहते आये हैं कि जो कुछ व्यापार होता है, कंपनी की ही ओर से। हमें इस बात का अंदेशा है कि अगर सरकार को असलियत का पता चल गया—उसे विश्वास हो गया कि कंपनी के कर्मचारी उसकी आड़ में अपना कारबार भी किया करते हैं—तो इसका परिणाम हमारे लिए अच्छा न होगा।"

कंपनी को जो विशेष अधिकार मिले हुए थे, वे उसके अपने व्यापार के ही लिए थे। दोनों ओर से यह मानी हुई बात थी कि कंपनी के नाम से कंपनी का कोई भी कर्मचारी निजी व्यापार नहीं कर सकता। कंपनी की ओर से यह स्वीकार तो नहीं किया जाता, पर वास्तविकता यह थी कि उसके सभी अंगरेज कर्मचारी निजी व्यापार करने के लिए स्वतंत्र थे और सभी ऐसा व्यापार किया करते थे। इसका प्रधान कारण यह था कि उन्हें कंपनी की ओर से जो वेतन[७] मिलते थे, वे देश-काल के लिहाज से भी कम—बहुत कम थे। फिर जहां छोटे-बड़े सब के सब चोर थे, वहां कौन किस की चोरी का भेद खोल सकता था—कौन किसको दंड दे या दिला सकता था? यों तो कंपनी की ओर से यह बात प्रायः गुप्त रखी जाती, पर जब कोई अंगरेज कर्मचारी दिवाला मार देता और महाजन अपने रुपये कंपनी से मांगने लगते तब उन्हें यह जवाब जरूर मिलता कि यह कर्ज उसने अपने कारबार में लगाने के लिए

लिया था–इससे कंपनी का न कोई सरोकार था, न है। जगत्‌सेठ-जैसा महाजन तो किसी न किसी तरह अपनी रकम वसूल कर ही लेता, पर जिसकी दरबार में पहुंच न होती, उसे या तो कंपनी जो कुछ दे देती उसी से संतोष मानना पड़ता या सारी रकम से ही बाज आना पड़ता।

कौंसिल ने देखा कि बात आगे बढ़ने में भलाई नहीं, इसलिए कासिमबाजार की फैक्टरी को जगत्‌सेठ की कोठी के साथ यह मामला तै कर लेने का पूरा अधिकार दे दिया। ११ सितम्बर को वहां से खबर मिली कि मामला तै हो चुका है। फैक्टरीवालों ने प्रस्ताव किया था कि असल और सूद दोनों की बाबत हम १५,०००) देने को तैयार हैं, सब बातों को देखते हुए आपको यह स्वीकार होना चाहिए। फतहचन्द का गुमाश्ता कह गया था कि सूद की मद में ३,५००) निकलता है, बड़ी से बड़ी रिआयत यही की जा सकती है कि असल २५,०००) मिल जाने पर हम एक भी पैसा सूद न लें। कासिमबाजार के कर्मचारी अपने पत्र में लिखते हैं—

"कल १० तारीख को फतहचन्द ने फिर यही कहलाया कि जहां तक असल का सवाल है, कुछ भी बल खाना हमें मंजूर नहीं। अगर मामला तै करना है तो कंपनी हमें सूद न देकर असल का असल दे दे। आपने लिखा था कि जैसे मुनासिब समझना, मामला निबटा लेना। हम लोगों की भी यही राय हुई कि फतहचन्द के साथ लड़ने-झगड़ने में अपनी भलाई नहीं, बल्कि भलाई इसी में है कि वे हमारे व्यवहार से प्रसन्न रहें। इसलिए हम लोगों ने उनके साथ मामला तै कर लिया और उन्हें २५,०००) का तमस्सुक लिख दिया। उन्होंने सर फ्रैंसिस रसेल वाला तमस्सुक हमें लौटा दिया। नये तमस्सुक की रकम पर हमें ९) सैकड़ा सालाना ब्याज देना पड़ेगा। हमें आशा है कि

हम लोगों ने जो कुछ किया है, आप उसे ठीक समझेंगे । मामला तै हो जाने पर फतहचन्द ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। उनका गुमाश्ता आकर यह भी कह गया कि दशहरे के बाद टकसाल खुलने पर हम बता जायंगे कि आप लोगों को कितनी चांदी मंगानी चाहिए।"

हम ऊपर कह आये हैं कि १७४३ में बालाजी बाजीराव से मेल हो जाने पर रघुजी भोंसले की वक्रदृष्टि फिर बंगाल पर पड़ी और बरसात समाप्त हो जाने पर भास्कर पन्त फिर उस ओर भेजा गया।

इस बार उसके साथ प्रायः बीस हजार घुड़सवार थे, जिनमें छः-सात हजार का मनसब अली करावल (उपनाम अली भाई) को मिल चुका था। "रियाज" का कहना है कि यह पहले एक मराठा सरदार था और हिन्दू से मुसलमान बन चुका था। भास्कर ने बंगाल पहुंचकर फिर कटवा में ही डेरा डाला और संकल्प-सिद्धि के लिए आवश्यक अनु-संधान तथा संगठन करने लगा।

अलीवर्दी खां ने इस बार मराठों से पार पाने के लिए बल की जगह छल का प्रयोग करने का निश्चय कर, अपने अफगान सेनापति मुस्तफा खां से जी खोलकर बातें कीं और कहा कि अगर तुमने भास्कर और उसके सरदारों को लाकर मेरे चंगुल में फंसा दिया, तो मैं तुम्हें इनाम के तौर पर बिहार की नायब निजामत दे दूंगा। मुस्तफा खां बहादुर होने के साथ चालबाज भी था। उसने भास्कर पन्त को यह विश्वास दिलाया कि अलीवर्दी खां लड़ाई नहीं, सुलह चाहता है। राजा जानकीराम को साथ लेकर वह स्वयं कटवा गया और वहां भास्कर पन्त से मिला। लगे दोनों बातें बना-बनाकर उसे इतमीनान दिलाने और अपनी लोरियों से उसे बच्चे की तरह सुलाने। दिल-जमई के लिए अगर एक कोई बात कुरान हाथ में लेकर कहता, तो दूसरा

उसी को तुलसीदल तथा गंगा-जल उठाकर दोहरा देता। फिर भी भास्कर पंडित के मन में कुछ सन्देह बना ही रहा। उसने अली करावल से सलाह की और कहा कि तुम खुद जाकर अलीवर्दी खां से मिलो और उसके मन की थाह ले आओ। पर अलीवर्दी खां ऐसा मायावी था और इस दूत के साथ इतनी अच्छी तरह पेश आया कि इसे सूखे पानी में डूबते देर न लगी। कटवा लौटकर इसने भी यही कहा कि उधर छल-कपट का लेश भी नहीं, अलीवर्दी खां आपकी सारी शर्तें मान लेने को तैयार बैठा है; बस, आप दोनों के मिलने भर की देर है। भास्कर पर राजा जानकीराम की बातों का विशेष प्रभाव पहले ही पड़ चुका था, अब अली करावल ने अपना अनुभव सुनाकर उस रंग को और भी जमा दिया। भास्कर के मन में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं रह गया और वह अलीवर्दी खां के पास जाने को तैयार हो गया। उस समय अलीवर्दी खां का पड़ाव अमानीगंज में था। यह निश्चित हुआ कि दोनों का सम्मेलन मनकरा में हो, जो अमानीगंज और कटवा के बीचोबीच था। वहीं अलीवर्दी खां की ओर से एक खेमा खड़ा किया गया और इसी खेमे के भीतर मसनद पर बैठकर अलीवर्दी खां भास्कर पन्त की प्रतीक्षा करने लगा। उस समय वहां जो लोग मौजूद थे,उनमें तीन ही व्यक्ति—राजा जानकीराम, मुस्तफा खां और मिर्जा हाकिम बेग—शुरू से यह जानते थे कि भास्कर पन्त के पहुंचने पर क्या गुल खिलने वाला है। कुछ देर बाद अलीवर्दी खां के आदेश से सईद अहमद खां और अताउल्ला खां को भी सारा रहस्य बता दिया गया। बाकी सरदारों या सैनिकों से भेद न खोला गया।

भास्कर पन्त के मनकरा पहुंचने से पहले ही प्रायः पचास मराठे सरदार वहां पहुंच चुके थे। इनमें इक्कीस-बाईस को खेमे के भीतर

तैनाती हो चुकी थी। ज्योंही वह स्वयं पहुंचा, राजा जानकीराम और मुस्तफा खां ने आगे बढ़कर उसकी अभ्यर्थना की और अपना-अपना हाथ धराकर उसे खेमे के भीतर ले गये। वहां किसी ने उससे बैठने को भी न कहा। राजा जानकीराम और मुस्तफा खां तो कोई बहाना कर खेमे के बाहर चले गये और अलीवर्दी खां ने तीन बार यह पूछा कि इन सरदारों में वीर भास्कर पंडित कौन है? प्रत्येक बार भास्कर को पहचानने वालों ने उसकी ओर इशारा कर अलीवर्दी खां के इस प्रश्न का उत्तर दिया। जब वह अपने पराक्रमी शत्रु को अच्छी तरह देख चुका, तब उसने मराठों के कत्ल का हुक्म देकर सब को मरवा डाला। सब से पहले भास्कर पंडित मारा गया। इसका हत्यारा मीर कासिम खां था। बाकी मराठे सरदार भी मारे गये, पर वैसी परिस्थिति में भी वे धीरता-वीरतापूर्वक लड़ते हुए——कुछ रुंड-मुंड गिराते हुए——मरे। जो सेना कटवा में रह गई थी, वह बात की बात में तितर-बितर हो गई——अलीवर्दी खां को मराठों के आक्रमण और उत्पात से कुछ समय के लिए शान्ति मिल गई।

पर उसके सामने और ही समस्यायें उठ खड़ी हुईं। इनमें प्रधान थी अर्थ-सम्बन्धी समस्या, जिसके हल के लिए उसने देशी-विदेशी व्यापारियों से चंदा मांगना और वसूल करना शुरू किया। सेना का बाकी वेतन चुकाने के लिए काफी रुपया चाहिए था। अलीवर्दी खां ने विदेशी व्यापारियों से दो महीने का वेतन मांगा। यह बीस लाख रुपया होता था।

चंदे की बात सुनते ही कंपनी पहले तो बेहोश-सी हो गई, फिर होश संभाल कर अपने वकील को लिखा कि फतहचन्द से जाकर पूछो कि वह क्या सलाह देते हैं। फतहचन्द ने उसके पूछने पर कहा कि,

"मैं क्या सलाह दूं ? जमाने का रंग-ढंग खराब है। इस समय तो जान पड़ता है कि कोई सरकार है ही नहीं। हुकूमत करनेवालों को न तो खुदा का डर है, न बादशाह का। चाहे जैसे हो, लोगों से रुपया ऐंठना ही उनका एकमात्र कर्तव्य हो रहा है। मैं स्वयं बहुत-कुछ नुकसान उठा चुका हूं। कंपनी को मैं सलाह दूंगा तो यही, कि जहां तक जल्द हो सके, देने-लेने के विषय में नवाब से कुछ तै कर ले। कौंसिल को सारी हकीकत लिख भेजो और उसका उत्तर मंगा लो। पर शीघ्रता होनी चाहिए। यदि इस कार्य में विलम्ब हुआ, तो कंपनी को और भी गहरी हानि उठानी पड़ेगी।" साथ ही फतहचन्द ने यह भी कहा कि, "जहां तक मुझसे और चैनराय से बन पड़ेगा, हम दोनों दरबार में कंपनी के साथ रिआयत कराने की कोशिश जरूर करेंगे।"

१० जुलाई १७४४ को नवाब ने अंगरेजों के वकील को बुलवाकर कहा कि, "जिस समय तुम्हारी कंपनी को बादशाह फर्रुखसियर से फरमान मिला था, उस समय उसके कुल चार-पांच जहाज चलते थे। इस बीच में कंपनी का व्यापार कहीं से कहीं बढ़ गया है, पर सरकार को जो कर मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला है। अब दिल्ली से मेरे पास हुक्मनामा आया है कि अंगरेजों के जिम्मे जो कुछ बाकी निकले, वह उनसे पैसा-पैसा वसूल कर लो। मैं उसकी तामील करने जा रहा हूं। अंगरजों को अपने बढ़े हुए व्यापार पर, शुरू से आज तक, सरकारी कर देना पड़ेगा।" अलीवर्दी खां ने यह भी कहा कि, "मेरी शिकायत थी कि अंगरेज मराठों की मदद किया करते हैं। मैंने तो उनका कसूर माफ कर दिया, पर उन्होंने आज तक न तो मुझे कभी याद ही किया, न मेरे लिए घोड़े की पूंछ की पशम तक भेजी।" नवाब के अन्तिम शब्द बड़े ही भयावह थे। उनका अभिप्राय यह था कि अगर

और दो-तीन दिन में कंपनी का कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला, तो नवाब अपनी फौज को कासिमबाजार और कलकत्ते भेजकर अंगरेजों से नाकों चने चबवाने वाला है।

वकील ने जाकर हाजी अहमद और फतहचन्द से सारी बात कही तो उन्होंने यही सलाह दी कि कंपनी को चाहिए कि इस अवसर पर एक अच्छी रकम नवाब को भेंट करे।

जब कौंसिल को मालूम हो गया कि बिना कोई ऐसी रकम दिये छुटकारा नहीं होने का, तब उसने कासिमबाजार के कर्मचारियों को इजाजत दी कि चालीस-पचास हजार देकर मामला तै कर लो। पर इतनी छोटी रकम से काम निकलने वाला न था। कासिमबाजार वाले अपने २२ जुलाई के पत्र में लिखते हैं—

"नवाब ने मामला निबटाने का अधिकार फतहचन्द और चैनराय को दे दिया है। आपके आज्ञानुसार अपने वकील उनके पास गये और उनसे कहा कि कंपनी सब मिलाकर पचास हजार दे सकती है। उन्होंने जवाब दिया कि नवाब की मांग के आगे यह रकम इतनी छोटी है कि हम दरबार में इसका जिक्र भी नहीं कर सकते। अपने वकीलों ने बड़ी बहस की और यह दिखा दिया कि नवाब की मांग जायज नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि इधर जो उपद्रव होते रहे हैं, उनके कारण कम्पनी को बड़ी हानि भी हुई है। पर इन बातों के जवाब में फतहचन्द ने यही कहा कि अगर समय और होता तो इन बातों पर विचार किया जा सकता था। पर इस समय तो सेना का वेतन चुकाने के लिये नवाब को रुपये की जरूरत है और आप लोग अच्छी तरह जानते हैं कि नवाब को इतनी बड़ी सेना रखनी पड़ी है देश की तथा व्यापार की रक्षा के ही लिए। उन्होंने यह भी कहा कि आजकल नवाब का सारा ध्यान बस

रुपये की वसूली की ओर है और वह अंगरेजों से काफी बड़ी रकम पाने की उम्मीद किये बैठा है। अन्त में उन्होंने यही सलाह दी कि कौंसिल को खत लिखकर पूछो कि वह कहां तक जाने को तैयार है। २१ तारीख को अपने वकील फिर फतहचन्द और चैनराय से मिले। हमने उन्हें यह पता लगाने के लिये भेजा था कि आखिर नवाब चाहता क्या है? इसबार फतहचन्द ने उनसे कहा कि "साहबान! जमाना बदल गया। पुरानी बातें जाती रहीं, अब नयी बातों का दौरदौरा है। पहले के हुक्काम और तरह के होते थे—उन्हें हम समझा-बुझा कर आसानी से रजामन्द कर लेते थे। पर आजकल के हुक्काम का यह हाल है कि ये लोभी हैं, धोखेबाज हैं और साथ ही मिजाजदार भी हैं। इन्हें समझाना-बुझाना या ठीक रास्ते पर ले आना कठिन से कठिन काम है। अगर कंपनी का यह खयाल है कि मौजूदा सरकार पहले की सरकार की ही तरह है, तो यह उसकी भूल है। कोई नहीं कह सकता कि अपनी मांग पूरी कराने के लिए अलीवर्दी खां कब क्या कर गुजरेगा"। जब अपने वकीलों ने यह जानना चाहा कि कितना मिल जाने पर नवाब सन्तुष्ट होगा, तब फतहचन्द ने कहा कि यों तो उसके मन की बात बताना असंभव है, पर कुछ अनुमान किया जा सकता है। वह अपनी सेना का दो महीने का वेतन मांगता है। इसके लिए उसे बीस लाख रुपया चाहिए। अधिक से अधिक छोड़ देगा तो दस लाख। बाकी दस लाख तो तीनों कंपनियों को जुटाना ही पड़गा। ऐसी हालत में अगर कंपनी पांच लाख देने को तैयार हो, तो हम नवाब से उसका चंदा मंजूर कराने की कोशिश करें। डच और फरासीसी कंपनियों की ओर से कहलाया गया है कि पहले अंगरेजों के साथ बात तै हो जाय, फिर हम भी अपना-अपना चंदा लेकर हाजिर हो जायंगे। चैनराय ने

कहा कि पांच लाख में चालीस-पचास हजार कम होने पर भी हम चेष्टा करेंगे कि नवाब उस रकम को मंजूर कर ले। बस, इन मंत्रियों से तो और कुछ की आशा करना ही व्यर्थ है। हां, फतहचन्द ने बातों-बातों में कहा कि आज कंपनी चालीस-पचास हजार ही देना चाहती है, पर उसे अपने पुराने बही-खातों के पन्ने उलटकर यह भी देखना चाहिए कि शुजाउद्दौला के समय में वह सरकार को क्या दे चुकी है। मालूम नहीं, यह उन्होंने किसी गूढ़ अभिप्राय से कहा या बात यों ही उनके मुंह से निकल गई। हमने तो फैक्टरी लौटकर पुराने बही-खाते निकलवाये और इस बात की जांच कराई कि शुजाउद्दौला को क्या दिया गया था। पता चला कि १७३१ में कंपनी ने फतहचन्द की मार्फत दरबार को १८४,५००)* दिया था। उसका ब्योरा हम आपके पास भेज रहे हैं। यह कहना कठिन है कि बीती बात की याद दिलाकर फतहचन्द ने कोई इशारा किया या नहीं। संभव है, उनका यह अभिप्राय रहा हो कि अगर कंपनी इस बार भी उतना ही दे दे तो उसे नजात मिल सकती है। संभव है, यह अनुमान गलत हो। इतना तो स्पष्ट है कि अगर हमने पिछली बार से कम दिया तो नवाब को यह रकम कभी मंजूर न होगी। इस समय यह अवस्था है कि काम-काज बंद है। कोई भी व्यापारी माल लेकर अपनी कोठी के अहाते में आ नहीं सकता। इस पर तुर्रा यह कि रोज धमकी दी जाती है कि सरकारी फौज आकर कोठी को घेर लेगी और कंपनी का गला घोट देगी।"

इसके बाद फिर वे २७ तारीख को लिखते हैं:—

"अपने वकील रोज फतहचन्द, चैनराय और हाजी अहमद के पास जाते हैं, पर तीनों यही कहते हैं कि पहले कौंसिल से मामला तै

---

* 'सिक्के'

करने का अधिकार मंगा लो, फिर हम और बातें करेंगे। नवाब तो इस समय भूखा भेड़िया हो रहा है। उठते-बैठते, सोते-जागते वह बस शिकार की ही फिक्र में रहता है, और जिसके बदन पर थोड़ी-सी भी चरबी नजर आती है, उस पर टूट पड़ता है। किसी भी मालदार असामी का पता चलते ही उसे गिरफ्तार करा लेता है और मांग पूरी करने से इनकार करने पर उसकी खाल खिचवा लेता है। और तो क्या, जिनकी हैसियत हजार-दो हजार की भी नहीं, उन्हें भी आधी सम्पत्ति तक दे देनी पड़ी है। अपने एक ही व्यापारी से तीन लाख तलब किया गया है। फतहचन्द ने वकीलों से कहा भी कि तुम खुद समझ सकते हो कि जहां तुम्हारे एक ही व्यापारी से नवाब तीन लाख लेने जा रहा है, वहां वह तुमसे कितना लेना चाहेगा।"

कौंसिल ने सारी बातों पर विचार कर, उत्तर दिया कि कंपनी एक लाख तक देने को तैयार है।

फतहचन्द और चैनराय ने यह सुनकर यही कहा कि, "हमारी जबान से तो एक लाख की भी बात नहीं निकल सकती। अगर कंपनी चार-पांच लाख तक देने को तैयार होती, तो हम उसका चंदा मंजूर कराने की कोशिश करते। लेकिन जब वह एक लाख से आगे न बढ़ने की कसम खा चुकी है, तब हम भी चुपचाप बैठकर तमाशा देखना चाहते हैं कि नवाब क्या करता है।"

कासिमबाजार वालों ने लिखा कि हमारी तो समझ में ही नहीं आता कि अब हमें क्या करना चाहिए!

कौंसिल ने नवाब की सेवा में एक आवेदन-पत्र भेजा, जिसमें कहा गया था कि जब-जब सरकार के और कंपनी के बीच ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ है, तब-तब उलझन सुलझाने का काम फतहचन्द और

दरबार के मुत्सद्दियों को सौंपा गया है, फिर इस बार भी वही क्यों न मामले को तै-तमाम कर दें? ७ अगस्त को कासिमबाजार की फैक्टरी लिखती है:—

"अपने वकील दरख्वास्त लेकर नवाब के पास पहुंचे। फतहचन्द और दूसरों के द्वारा मामला तै-तमाम कराने का प्रस्ताव पढ़ते ही नवाब ने पूछा कि हमने इससे कब इनकार किया है? फिर उसने अपने मुंशी को बुलवाकर कहा कि इन वकीलों को फतहचन्द और चैनराय के पास ले जाओ और उनसे कहो कि मामला निबटा दें। पर जब हमारे वकील उन दोनों से मिले, तब उन्होंने यह जवाब दिया कि, 'हम बीच में पड़ें तो कैसे? नवाब आसमान की बात करता है—कंपनी जमीन की। नवाब २५ लाख से कम लेना नहीं चाहता—कंपनी एक लाख से अधिक देना नहीं चाहती। ऐसी हालत में दोनों को कौन मिला सकता है—कौन उनका समझौता करा सकता है? कंपनी का कहना है कि हम पचास हजार से एक लाख पर आ चुके, पर नवाब पर इसका कुछ भी असर पड़ने वाला नहीं। मुस्तफा खां उससे कह चुका है कि हम अंगरेजों से पच्चीस लाख वसूल करा देंगे।' अपने वकीलों ने कहा कि आप यकीन करें, अंगरेजों से इतना तो किसी भी हालत में मिल नहीं सकता।

इस पर फतहचन्द और चैनराय बोले कि, "न तो नवाब कंपनी से पच्चीस लाख पाने की आशा करता है और न उसे एक लाख मिलने-न मिलने की ही कोई परवा है। पर हम लोग एक बात कहना चाहते हैं। जितना कंपनी खुद नहीं दे सकती, उतना दूसरों से तो दिला ही सकती है। इधर इतने व्यापारी मराठों के भय से कलकत्ते भाग गये हैं—इतने व्यापारियों को कंपनी से काम पड़ता है, इतनों का वही आश्रय या

अवलम्बन है। उन सब से चंदा वसूल कर नवाब के पास पहुंचा देने का काम तो कंपनी कर ही सकती है। समय असाधारण है। सेना का वेतन चुकाने का प्रश्न बड़ा विकट हो रहा है। राजा को यह सेना रखनी पड़ती है, प्रजा की रक्षा के लिए। सरकारी खजाने में जो कुछ था, वह उसका वेतन चुकाने में लग चुका। नवाब अपनी तिजोरियां भी खाली कर चुका। फिर भी पूरा न पड़ा। मजबूर होकर उसे अपने रिश्तेदारों से और अपने कारिन्दों तक से रुपया लना पड़ा है। ऐसी स्थिति में उसका यह कहना सर्वथा उचित ही है कि कलकत्ते के व्यापारियों को भी सरकार की यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए। आखिर सरकार की छत्रच्छाया में ही तो बिना किसी प्रकार की विघ्न-बाधा के, हर एक का काम-धंधा चल रहा है, हर एक चांदी काटता आ रहा है। वहां नागरिकों पर कंपनी को कर लगा देना चाहिए। अगर कोई शख्स कर नहीं चुकाता या चंदा नहीं देता, तो कंपनी को चाहिए कि उसे सीधे यहां नवाब के पास भेज दे—नवाब उसकी फस्द खुलवा देगा।"

अपने वकीलों ने कहा कि, "आज तक कंपनी ने एसा काम नहीं किया। अगर यह व्यापारियों को जेरबारी से नहीं बचाती रही, तो उसके व्यापार का चलना ही असंभव हो जायगा।" फतहचन्द बोले कि "सब कुछ समयानुसार होता है। पहले कभी ऐसी परिस्थिति नहीं हुई, इसलिए कंपनी से इतना मांगा भी नहीं गया। आज परिस्थिति असाधारण है, इसलिए नवाब की मांग भी असाधारण है। असाधारण समय की बात साधारण समय के लिए नजीर नहीं बन सकती। फिर कंपनी को यह भी सोचना चाहिए कि रुपया देने से वह बच ही कैसे सकती है? ढाके से पटने तक, नवाब ने उसका कारबार बंद करा दिया है। उधर के सारे कारखाने इस समय नवाब के कब्जे में हैं—सारी

सम्पत्ति नवाब के हाथ में है। अगर अंगरेजों ने उसकी बात न मानी तो वह कुछ भी अपने चंगुल से निकलने न देगा। कासिमबाजार की फ़ैक्टरी पर भी चढ़ाई की बात थी, पर हाजी अहमद, चैनराय और मेरे कहने पर नवाब रुक गया है। फिर भी यह कहना कठिन है कि वह कब तक चुपचाप बैठा रहेगा। कंपनी के सभी व्यापारियों के गुमाश्ते बुलवाये जा चुके हैं। मुमकिन है, नवाब उन्हें अपना कुल माल मुर्शिदाबाद ले आने को मजबूर करे। गरज यह कि व्यापारियों से जो कुछ मिल सकेगा, उसे तो ले ही लेगा, कंपनी पर भी अपना दावा खड़ा रखेगा। हर तरह कंपनी घाटे में ही रहेगी।" अन्त में उन्होंने यह कहा कि, "कौंसिल से ऐसी रकम देने की इजाजत मंगाओ, जिसका हम लोग उसके सामने नाम ले सकें और जिसकी स्वीकृति की भी कुछ आशा कर सकें। इतना तो निश्चित है कि एक लाख पर कोई समझौता नहीं हो सकता।"

जब दूसरे दिन फतहचन्द और चैनराय नवाब से मिले, तब उसने पूछा कि अंगरेजों के साथ क्या तै हुआ? उन्होंने कहा कि हुजूर पच्चीस लाख से कम लेना नहीं चाहते और अंगरेज एक लाख से ज्यादा देना नहीं चाहते—कुछ भी तै हो तो कैसे? नवाब कुछ देर चुप रहा। फिर उसने अपने दरबारियों से कहा कि कंपनी के साथ अब ज़ोर-जबर्दस्ती करनी ही पड़ेगी। फतहचन्द ने कासिमबाजार के अंगरेजों को कहलाया कि, "सैनिक अधीर हो रहे हैं और रोज ही नवाब से तुम्हारे कारखानों को लूट लेने की इजाजत मांग रहे हैं। अपनी भलाई चाहते हो तो नवाब को सन्तुष्ट कर दो।"

दो ही दिन बाद चैनराय ने कंपनी के वकील से कहा कि, "नवाब कितना मिलने पर सन्तुष्ट होगा, यह उसने फतहचन्द को बता दिया है। पर फतहचन्द यह बात प्रकट करने वाले नहीं। अब तुम उन्हें बताओ

कि कंपनी कहां तक बढ़ने को तैयार है। रकम बड़ी होनी चाहिए। दो लाख से भी बात नहीं वनने की। हां, जो निश्चय हो, फतहचन्द को ही बताना, और किसी को नहीं। वह घटा-बढ़ा कर मामला तै करा देंगे। अगर तुम लोगों की यह धारणा है कि अन्त में सरकार वही करेगी जो न्यायसंगत होगा, तो उसे निर्मूल समझो। आजकल बंगाल में सरकार कहने को ही है। वास्तव में सब कुछ करने-धरनेवाले सैनिक हैं और सैनिक इस बात पर जोर दे रहे हैं कि नवाब सबसे—अपने रिश्तेदारों तक से—रुपया सख्ती के साथ वसूल करे।"

कौंसिल कुछ समय तक हीला-हवाला करती रही, पर अन्त में जब उसने देख लिया कि इससे पिंड छूटने वाला नहीं, तब उसने कासिम-बाजार फैक्टरी के प्रधान जान फार्स्टर को लिखा कि चार लाख में औना-पौना कर मामला तै कर लो। फार्स्टर ने साढ़े तीन लाख में ही सौदा पटा लिया। १६ सितम्बर को कासिमबाजार की कौंसिल लिखती है:—

"१५ तारीख को फतहचन्द यहां नवाब के हुक्म से आये थे। हुगली, पटना, ढाका आदि स्थानों के लिए जो परवाने निकल चुके हैं, उन्हें दे गये। प्रधान ने कौंसिल के मेंबरों को सूचित किया कि वह कंपनी की ओर से साढ़े तीन लाख देना स्वीकार कर चुका है। फतहचन्द ने यह रुपया मांगा और कहा कि हम नवाब से हुक्मनामा जारी करा चुके हैं कि कंपनी का कारबार पहले की ही तरह चलने दिया जाय। हमने कहा कि इतना रुपया तो हमारे पास मौजूद नहीं, आप अपनी कोठी से कर्ज दिला दें तो आपकी बड़ी मेहरबानी हो। वह राजी हो गये। हमने उतने रुपये ('सिक्कों') का तमस्सुक लिख दिया है। अब कलकत्ते से रुपया आ जाय तो हम उनका और दूसरे महाजनों

का हिसाब चुकता कर दें। सब मिलाकर यहां ५४०,०००) ('सिक्के') देना है।"

रुपया मिल जाने पर अलीवर्दी खां ने दरबार से कलकत्ता-कौंसिल के अध्यक्ष के लिए एक हाथी के साथ सरोपा भिजवाया। कासिमबाजार फैक्टरी का प्रधान कलकत्ते जाने वाला था। फतहचन्द ने नवाब का एक खत ले जाकर उसे दिया और कहा कि इसे अपने अध्यक्ष के हाथ में दे देना। कासिमबाजार वालों ने कलकत्ते लिखा कि जब हाथी और सरोपा वहां पहुंच जायं, तब इस सम्मान-प्रदान के उपलक्ष्य में कंपनी की ओर से उल्लास प्रकट किया जाय और नवाब को धन्यवाद भेजे जायं। ५ दिसम्बर को जब खिलअत और हाथी कलकत्ते पहुंच गये, तब ५७ तोपों की सलामी उतारी गई और इस दयादान के लिए बड़ी धूमधाम के साथ नवाब के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन किया गया।

१६ नवम्बर (१७४४) के लेखे में यह बात दर्ज मिलती है:—

"कासिमबाजार से जान फार्स्टर लिखता है कि वह एक दिन दरबार में गया था। वहां नवाब के साथ फतहचन्द और चैनराय बैठे थे और फार्स्टर की सब से बातचीत होने लगी। कुछ ही देर बाद नवाब उठ पड़ा और उन तीनों को एक कमरे में ले गया। वहां उसने फार्स्टर से कहा कि जासूसों से सरकार को खबर मिली है कि मराठों की बड़ी सेना फिर बंगाल पर चढ़ाई करने आ रही है। हमें उसका मुकाबला करने जाना पड़ेगा। लेकिन मुश्किल यह है कि हमारे आदमियों को अंगरेजों की तरह तोप-बंदूक चलाना नहीं आता। इसके लिए तुम अपनी कंपनी से तीस-चालीस सिपाहियों के साथ एक अंगरेज प्रधान

भिजवा कर हमारी सहायता करो। जो वेतन कंपनी नियत कर देगी हम देने को तैयार हैं।" नवाब ने यह भी कहा कि, "हमें अपने लिए एक अच्छा ताजी घोड़ा भी चाहिए। अगर कलकत्ते में कोई मिल सके, तो मंगा दो।"

कौंसिल ने घोड़ा तो २७५०) को खरीद कर भेज दिया, पर गोलंदाजों को भेजने से इनकार कर दिया।

प्रायः उसी समय, नवाब के दबाव डालने पर फतहचन्द अंगरेजों से कुछ चांदी खरीदने को तैयार हो गये, पर सब कुछ तै हो जाने के बाद भी उन्होंने दाम इतना घटा दिया कि कोई सौदा न हो सका। अंगरेजों ने हैरान होकर उनके गुमाश्ता रूपचंद से इसका रहस्य पूछा। उसने बताया कि, 'इधर टकसाल के कामों में अताउल्ला खां और चैनराय काफी दखल देने लगे थे—यहां तक कि जहां पहले फतहचन्द को हफ्ते में पांच दिन सिक्के ढलवाने के लिए मिलते, वहां अब एक दिन भी मिलना मुश्किल हो गया था। इससे वह बहुत असन्तुष्ट थे। फिर उन्होंने यह भी सोचा कि अगर सिक्के ढलने से पहले ही मराठे आ गये, तो चांदी धरी ही रह जायगी। इन्हीं कारणों से उन्होंने नवाब से कह दिया था कि कंपनी चांदी का इतना ऊंचा दाम मांगती है कि वह उसे खरीद ही नहीं सकते। वह चाहते यह थे कि पहले मराठों के लौटने-न-लौटने की बात निश्चित रूप से मालूम हो जाय—फिर चांदी के बारे में कोई फैसला हो।'

फतहचन्द के जीवन के अब इने-गिने दिन शेष रह गये थे। २८ दिसम्बर को कासिमबाजार वालों ने कौंसिल को उनकी मृत्यु की संक्षिप्त सूचना देते हुए लिखा कि, "२६ तारीख को प्रातःकाल फतहचंद

संसार से चल बसे। उनके विपुल ऐश्वर्य के उत्तराधिकारी उनके पोते महताबराय और स्वरूपचन्द हुए हैं। लोगों का विश्वास है कि ये दोनों वाणिज्य-व्यवसाय में अपनी वंश-परम्परा की रक्षा करनेवाले होंगे। इस अवसर पर यह उचित होगा कि हमारी ओर से पत्र-द्वारा इनका अभिनन्दन किया जाय।"

जिसकी जिन्दगी की नाव किनारे लग चुकी थी और जिसकी अस्थियों को 'जगत्-विश्राम' में सदा के लिए विश्राम मिल चुका था, उसके नाम पर आंसू बहानेवालों में अगर ईस्ट इंडिया कंपनी भी थी, तो इसका उल्लेख नहीं मिलता। पिछले पृष्ठों में हम कंपनी की ही जबानी सुन चुके हैं कि जब-जब उसे सहायतार्थी के रूप में फतहचन्द के पास जाना पड़ा, तब-तब उन्होंने कैसी सहानुभूति दिखाई——उसको संकट से उबारने में कैसी सरलता, उदारता और परोपकारिता का परिचय दिया। क्या उनके मरते ही कंपनी उन्हें बिलकुल भूल गई? अगर बात ऐसी न होती, तो महताबराय और स्वरूपचंद को बधाइयां देने से पहले उन्हें सांत्वना दी जाती, जिनसे काम पड़ने वाला था उनका स्वागत करते समय जिससे काम पड़ चुका था, उसकी स्मृति की ऐसी उपेक्षा न की जाती।

फतहचन्द को अपने मामा मानिकचन्द से जो वरासत मिली थी, उसकी उन्होंने पूरी हिफाजत ही नहीं की, उसका विस्तार और उसकी गहराई भी बढ़ाई। गाढ़े दिन में राजा और प्रजा की उन्होंने ऐसी सेवा की, जिसका महत्त्व सूचित करने के लिए उन्हें मुहम्मद शाह से 'जगत्सेठ' की उपाधि मिली, यद्यपि सच्ची बात यह है कि कम से कम अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, उनकी बराबरी करनेवाला व्यापारी

या सेठ-साहूकार संसार भर में और कोई न था—इसलिए वह बिना किसी प्रकार की अतिशयोक्ति के 'जगत्सेठ' कहे जा सकते थे। बर्क ने कहा था कि जगत्सेठों का कारवार उतना ही फैला हुआ था और उसी पैमाने पर था, जिस पर बैंक आव् इंगलैण्ड का। इस विस्तार या उन्नति में विशेष भाग था तो प्रथम जगत्सेठ फतहचन्द का। उनके उत्कर्ष का आधार था उनका मुर्शिदाबाद की मसनद से घनिष्ठ सम्वन्ध और इस सम्वन्ध का रहस्य यह था कि उनके सहयोग से ही प्रत्येक शासक की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक रह सकती थी, वह मसनद पर कायम रह सकता था। दिल्ली-दरबार में बंगाल की साख वराबर अच्छी बनी रही। बल्कि जव से फतहचन्द ने हुंडी के जरिए राजस्व का भुगतान करने की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली थी, तब से वह साख और भी ऊंची हो चली थी। टाट उलटनेवालों की जमात में कोई साहूकार बच गया था तो बंगाल। जब बाजीराव ने मुहम्मद शाह पर दबाव डालकर पचास लाख रुपया लेना चाहा था, तब उसने लिखा था कि अगर आप इतना रुपया नकद नहीं दे सकते तो मुझे बंगाल पर परवाना भेज दीजिए। खानदौरां ने काबुल से रुपये की मांग आने पर, वहां के सूबेदार नासिर खां को कहलाया था कि बंगाल के नाजिम को खत लिखा जा रहा है, बरसात बाद वहां से खजाना आते ही हम तुम्हारे पास रुपया भेज देंगे। मुहम्मद शाह का एकमात्र भरोसा या वल बंगाल रह गया था और मुर्शिदाबाद से रुपया या हुंडी आने में देर होते ही उसका दम सूखने लगता था। जब मुरीद खां को पिछली बार मराठों की चढ़ाई के कारण विफल होकर दिल्ली लौटना पड़ा था, तब अलीवर्दी खां ने बादशाह को बंगाल की उपयोगिता की याद दिलाते हुए लिखा

था कि शाही खजाने और तोशाखाने को खाली न होने देने का श्रेय बंगाल के ही किसानों और कारीगरों को है—ऐसी दशा में आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि अगर इस प्रान्त पर सदा के लिए मराठों का अधिकार हो गया, तो केन्द्र की कितनी बड़ी हानि होगी। बंगाल की रक्षा के द्वारा अपनी रक्षा के उद्देश से ही मुहम्मद शाह ने बालाजी बाजीराव को मालवा की सनद दे देने का वचन देकर रघुजी भोंसले के विरुद्ध भेजा था। ऐसे कल्पवृक्ष को सदाबहार बनाये रखने में जगत्-सेठ का भाग विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही, मुर्शिदाबाद से दिल्ली तक उनकी ऐसी धाक बंध गई थी कि उनके बिना हाँ किये बंगाल में ऊंचे से ऊंचे पद पर भी किसी की नियुक्ति नहीं हो सकती थी—कम से कम बादशाह से उसे सनद या फरमान नहीं मिल सकता था।

घर के मालिक के रूप में फतहचन्द तीस वर्ष संसार में रहे। उनके दो पुत्र हुए—आनन्दचन्द और दयाचन्द। इनके अलावा दो कन्यायें * भी हुईं। दोनों ही पुत्र शुजाउद्दौला के शासन-काल में ही चल बसे थे। इनमें आनन्दचन्द के पुत्र † का नाम महताबराय था और दयाचन्द के पुत्र का स्वरूपचन्द। यही दोनों चचेरे भाई फतहचन्द के उतराधिकारी हुए। इनमें महताबराय जगत्सेठ की और स्वरूपचन्द महाराजा की पदवी, मुहम्मदशाह के पुत्र अहमदशाह से, १७४८ में पाने वाले थे।

---

* इनमें एक नयनसुख गांधी को ब्याही थी, दूसरी मानसिंह समदड़िया को।

† आनन्दचन्द के एक कन्या भी थी जिसका नाम अजबू बाई था।

टिप्पणी

(१) पृष्ठ ६८—बहादुरशाह के राज्य-काल में कंपनी ५२॥ हजार रुपया देकर व्यापार-सम्बन्धी सनद प्राप्त कर चुकी थी, पर उसकी इच्छा थी पूरी स्वतंत्रता प्राप्त कर बंगाल क दीवान या अन्य पदाधिकारियों के नियंत्रण से सदा के लिए मुक्त हो जाने की। ३,०००) सालाना पेशकश देने के अलावा किसी भी प्रकार की चुंगी भरने से उसे इनकार था।

कंपनी को अजीमुश्शान से बड़ी आशाएँ थीं, क्योंकि उसी से उसे सुतानुती, गोविन्दपुर और कलिकाता, इन तीन गांवों की जमींदारी कुल १६,०००) देने पर मिल चुकी थी। १७ अगस्त १७११ को कौंसिल ने एक अर्जदाश्त भेजकर उससे शाही फर्मान दिला देने की प्रार्थना की। उसके साथ एक पत्र-द्वारा यह भी प्रलोभन दिया गया था कि, "हम अपनी ओर से नजराने के तौर पर कुछ सामान वहां भेजने वाले हैं, पर उनके पहुँचने में कुछ देर हो सकती है। इधर माल खरीदकर इंगलैण्ड भेजने का समय करीब आ गया है, इसलिए तब तक दीवान के नाम एक हस्बुल्हुक्म भिजवा देने की कृपा करें कि वह हमारे व्यापार में किसी प्रकार की बाधा न डाले।"

इधर अजीमुश्शान को यह आवेदन-पत्र अगस्त १७११ में भेजा गया, उधर कंपनी ने कासिमबाजार के कर्मचारियों को यह आदेश दिया कि वहां की फैक्टरी बन्द कर चल देने के लिए तैयार रहो। पर अक्टूबर में ही दीवान से ५२,५००) पर समझौता हो गया और कासिमबाजार छोड़ने की नौबत नहीं आई। फिर भी दिल्ली-दरबार का दरवाजा खटखटाने का जो निश्चय कंपनी कर चुकी थी, उसका उसने कभी परित्याग नहीं किया। नजराना भेजने की बात भी उसे बराबर याद रही। हां, इसका समय टलता गया। कभी तो यह हुआ कि जो सामान मद्रास से दिल्ली भेजने के लिए मंगाये गये वे दरबार में कंपनी की प्रतिष्ठा बढ़ाने योग्य न निकले, कभी सामान जाने की तैयारी हो जाने पर दिल्ली से परवाना न पहुँच सकने के कारण यात्रा स्थगित करनी पड़ी। कभी यह प्रश्न उठा कि नजराने के साथ कंपनी का पटने का वकील दिल्ली जाय या

और कोई योग्यतर व्यक्ति ? इसी बीच शाह आलम या बहादुरशाह की मृत्यु हो गई और कुछ ही दिनों बाद अजीमुश्शान की भी। जहांदार शाह के राज्य-काल में जब फर्रुखसियर का पटने पर कब्जा हो चुका था और कंपनी के कर्मचारी उसके चंदे की मांग के कारण दम साध कर गंगा पार लालगंज में समय बिता रहे थे, कलकत्ते से कौंसिल ने उसकी सेवा में भी अपना आवेदन-पत्र भेजा और उसे अपने नजराने की याद दिलाकर लिखा कि, "यह हुगली के पास कलकत्ते में तैयार है, बरसात बीतते ही हम इसे यहां से भेजने की आशा करते हैं।" फिर भी वह न भेजा गया। अन्त में जब फर्रुखसियर की जीत हो गई, वह तख्त पर बैठ चुका और कंपनी को इस बात का निश्चय हो गया कि उसके पांव जम चुके, तब फिर वही पुराना राग अलापते हुए उसने २७ मार्च १७१३ को एक आवेदनपत्र भेज कर, मुर्शिदकुली खां की शिकायत की और सम्राट् से 'निःशुल्क व्यापार' करने की इजाजत मांगी। टेक या 'स्थायी' वही पुराना था कि "जो नजराना हमारी ओर से दरबार में जाने वाला है, उसे मछलीबंदर में कुछ देर हुई, पर अब वह यहां पहुँच गया है। हम उसे जल्द से जल्द दिल्ली भेजना चाहते हैं। उम्मीद है कि सब सूबेदारों के नाम ऐसे हस्बुल्हुक्म जारी हो जायंगे कि रास्ते में कहीं कोई रोक-टोक न हो।"

३ जनवरी १७१४ को मुर्शिदकुली खां के नाम दिल्ली से वजीर का आदेश-पत्र आया कि कंपनी को ब-दस्तूर व्यापार करने दिया जाय, अर्थात् उससे चुंगी तलब न की जाय। समाचार कलकत्ते पहुंचते ही कौंसिल ने बड़ी खुशियां मनाईं। तोपों की बाढ़ें दाग कर बादशाह की सलामी उतारी गई—रात को आतिशबाजी छोड़ी गई। अंगरेज सिपाहियों के लिए शराब की छूट कर दी गई। मुर्शिदाबाद में रामचन्द्र कंपनी की ओर से वकील नियुक्त हुआ। इसको ४०) माहवार देना निश्चित हुआ। इसके साथ यह 'स्टाफ' दिया गया:—

६ कहार— १२ रु० माहवार।
५ चपरासी— १२॥ रु० माहवार।
१ मशालची— २ रु० माहवार।
दूसरे नौकर-चाकर—३॥ रु० माहवार।

जोड़—३० रु० माहवार।

पूरी तैयारी हो जाने पर, १९ अप्रैल १७१४ को जान सरमन की अध्यक्षता में कंपनी का दल उपहार-सहित कलकत्ते से दिल्ली रवाना हुआ। सरमन के बाद दर्जा था खोजा सरहाद का जो अंगरेज नहीं, अर्मनी व्यापारी था। इसकी दिल्ली-दरबार में रसाई थी और यह पहले भी कंपनी के काम आ चुका था। जब फर्रुखसियर बालक था, तब इसने कुछ विलायती खिलौने उसकी भेंट किये थे—इससे भी कंपनी को आशा थी कि वह जो कुछ चाहती थी उसे दिलाने में यह बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। इसके पक्ष में एक बात और थी—फारसी भाषा पर इसका पूरा अधिकार था। इसके अलावा दो सहायक और एक सर्जन भी थे। ये तीनों अंगरेज थे। सरहाद के साथ यह तै हो चुका था कि:—

(क) जो अधिकार कंपनी को पहले प्राप्त थे, वे फिर फरमान-द्वारा उसे मिल गये और कंपनी को कलकत्ते की जमींदारी की हद बढ़ाने की इजाजत मिल गई और अगर उसने मछली बंदर के पास वह टापू कंपनी को दिला देने की कोशिश की, जिस पर मद्रास की कौंसिल की नजर थी, तो उसे पुरस्कार-स्वरूप ५०,०००) मिलेगा। अगर वह यह सब न दिला सका, तो वह कुछ भी पाने का हकदार न होगा।

(ख) अगर सरहाद ने सूरत में भी कंपनी का व्यापार निःशुल्क करा दिया, तो उसे ५०,०००) और मिलेगा। अगर वह यह न करा सका, तो वह यह रकम पाने का हकदार न होगा। पर व्यापार निःशुल्क करा देने में सफलता न भी हो, तो चुंगी की दर २॥) सैकड़ा करा देने का प्रयत्न तो उसे करना ही होगा।

दूत-दल को विभिन्न कारणों से पटने में प्रायः एक साल रुक जाना पड़ा। मार्च १७१५ में कौंसिल को खबर मिली, कि सरहाद बख्शी से मिलने गया तो वहां शेख ईसा, फतहचन्द और लालजी भी मौजूद थे और सब ने यही कहा कि, "जब तक आप लोग और सिपाही अपने साथ नहीं ले लेते, तब तक आगे बढ़ना खतरनाक है।" पर सरमन और सरहाद की आपस में अनबन शुरू हो गई थी, इसलिए सरमन ने इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। "जहां-तहां

फौजदार अपनी-अपनी जगह छोड़कर लापता हो चुके हैं। उज्जैनियों * ने कई जगह रास्ता रोक रखा है।" यह सारी खबर सरहाद की भेजी हुई थी। उधर सरमन का कहना था कि "पूछताछ से मालूम हुआ है कि रास्ता खुला हुआ है, व्यापारियों का जाना-आना जारी है।" सरमन उस समय नौबतपुर में था और सरहाद पटने में। इसे सरमन ने आगे बढ़ने का आदेश भेजा।

जून १७१५ में दूत-दल दिल्ली पहुंच गया। जो सामान नजर करने के लिए यह साथ लेता गया था, उसमें कमखाब, बनात, रंग-बिरंगे मखमल के थान, दस्ताने, पिस्तौलें, तमंचे, तलवारें, कलमतराश, तरह-तरह के खिलौने, क्लाक (घड़ियां), आईने इत्यादि थे। दल के साथ घुड़सवार, चपरासी, कहार, गाड़ीवान आदि तो थे ही।

दिल्ली में इस दल को प्रायः दो बरस ठहरना पड़ा। कंपनी के सौभाग्य से जो सर्जन † दूत-दल के साथ गया था, उसके इलाज से फर्रुखसियर बवासीर-रोग से मुक्त हो गया था। फिर भी आज, कल होता ही रहा। दरबार का काफी अनुभव हो जाने पर दूत-दल ने वजीर अब्दुल्ला खां का पल्ला पकड़ा। वह उदार और शीलवान् था। कंपनी के दूत-दल से उसने शीराज की कुछ शराब के सिवा और कुछ भी स्वीकार नही किया और जो जो रिआयत वह दल चाहता था, वह उसे दिला भी दी।

फरमान और हस्बुल्हुक्म उस समय पहले की अपेक्षा कहीं सस्ते हो चले थे। अगर बात ऐसी न होती, तो सरमन दिल्ली से खिलौनों और आईनों के बदले ३ फरमान और ३२ हस्बुल्हुक्म लेकर कलकत्ते न लौटता।

इस बीच में कंपनी और दीवान के बीच जो झगड़ा चला आता था, वह बना ही रहा। मुर्शिदकुली खां को कासिमबाजार वाले कभी कुछ नरम पाते

---

* उज्जैनी या उज्जैनिये भोजपुर इलाके के क्षत्रिय थे।

† इसका नाम विलियम हैमिल्टन था। १० दिसम्बर १७१५ को उसे सम्राट् से एक सदरी, एक जड़ाऊ कलगी, हीरे की दो अंगूठियां, एक हाथी, एक घोड़ा और पांच हजार रुपये इनाम के तौर पर मिले।

तो कभी कुछ गरम। पर कंपनी जो कुछ भी रिआयतें चाहती थी, वे उसे मिलने वाली न थीं। एकाध बार उसकी ओर से उसके वकील ने बादशाह की दुहाई भी दी और समाचार-पत्र न होते हुए भी जहां-तहां जो वाकयानवीस या अखबारनवीस नियत थे, उनकी जेब गरम कर कंपनी ने उनके द्वारा अपनी फरियाद भी दिल्ली तथा मुर्शिदाबाद तक पहुंचवाई। एक अवसर पर हुगली का वाकयानिगार अपनी रिपोर्ट में लिखता है:—

"अगर मुर्शिदाबाद-कचहरी का चुंगी का दारोगा, सम्राट् या दीवान की आज्ञाओं के विरुद्ध अंगरेजों से चुंगी लेना, बन्द नहीं करता और जो चुंगी ली जा चुकी है, उसे लौटा नहीं देता, तो संभव है कि बहुत से व्यापारियों को हानि उठानी पड़े। कारण कि अंगरेजों के व्यपार को रोक देने का अर्थ है बंगाल-मात्र के व्यापार को रोक देना।" ५ मई १७१५ के लेखे में लिखा है—"जो बात वाकयानवीस लिख चुका है उसी को सवानेहनवीस दोहरा चुका है।"

नवम्बर १७१७ में सरमन कलकत्ते लौटा। जितने शाही आज्ञापत्र जारी हुये थे, उन्हें वह साथ लेता आया। उनकी नकलें पदाधिकारियों के पास दिल्ली से पहले ही पहुंच चुकी थीं। कंपनी की ओर से दूत-दल और उसके साथ आने वाले आदेशपत्रों के स्वागत की धूमधाम से तैयारियां की गईं। अगवानी के लिए कंपनी के छोटे-बड़े कर्मचारी, व्यापारी तथा अन्य नागरिक हुगली से कुछ दूर आगे, त्रिवेणी तक गये। दूत-दल को वहां बधाइयां दी गईं, सम्राट् को धन्यवाद दिये गये। फिर कलकत्ते में आनन्दोत्सव मनाया गया। एक हजार रुपया खर्च कर इसके लिए एक शामियाना तैयार कराया गया था। सभा में कंपनी की ओर से अध्यक्ष ने फिर सम्राट् के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उन्हें अनेकानेक धन्यवाद दिये। आमंत्रित व्यक्तियों में हुगली के वाकयानिगार, सवानेहगार, हरकारा-दारोगा इत्यादि भी थे। दिल्ली से एक गुर्जबरदार भी साथ आया था। उसे त्रिवेणी में ही २,०००) सम्राट् की भेंट के तौर पर दिया जा चुका था और वाकयानिगार उसकी खबर भेज चुके थे। कलकत्ते में गुर्जबरदार को ५००), एक सरोपा, एक थान कमखाब, पगड़ी के लिए बोरा और एक पटका दिये गये। रह गये संवाददाता और हरकारा-दारोगा।

वाक़यानिगार को मिले:—

६ गज सुर्ख बनात।

२ थान नारंगी बनात।

२ थान साधारण हरे रंग का कपड़ा।

सवानेहगार को मिले:—

१ थान नारंगी बनात।

१ थान साधारण हरे रंग का कपड़ा।

हरकारा-दारोगा के हिस्से में नारंगी बनात और उस हरे रंग के कपड़े के दस दस गज आये।

बंगाल, बिहार आदि के लिए फरमान और हस्बुल्हुक्म पहुँच गये—कंपनी इनके मिलने के उपलक्ष्य में बड़े समारोह से उत्सव मना चुकी—तोपों की वाढ़ें दग चुकीं—आतिशबाजी छोड़ी जा चुकी—संवाददाता बढ़ा-चढ़ा कर इन सारी घटनाओं की खबर मुर्शिदाबाद और दिल्ली भेज चुके, पर इनका मुर्शिदकुली खां पर कुछ भी असर न हुआ। कंपनी को निःशुल्क व्यापार करने देना तो वह खुद मंजूर कर चुका था, पर बाकी बातें जहां थीं, वहीं रहीं। न तो कंपनी के लिए टकसाल का दरवाजा खुला, न वह अपनी जमींदारी की हद की ही बढ़ा सकी।

फिर भी सरमन-बसीठी निष्फल रही, यह इतिहासकारों का स्वीकार नहीं हो सकता। मुर्शिदकुली खां ने कंपनी को उससे तात्कालिक लाभ नहीं होने दिया, पर कंपनी को बराबर यह कहते रहने का मौका तो मिल गया कि उसने सम्राट् के आदेश की अवहेलना कर अंगरेजों के साथ घोर अन्याय किया, उन्हें गहरी हानि पहुँचाई। विल्सन ने लिखा है कि जब कई बरस बाद क्लाइव ने खुल्लमखुल्ला तलवार सूत कर इस देश पर कब्जा करना शुरू किया, तब उसे अपनी कार्रवाइयों के लिए यह बहाना या दलील अच्छी मिल गई कि सरमन ने कंपनी के लिए जो अधिकार दिल्ली से प्राप्त किये थे, उनसे भी एक प्रान्तीय

शासक की निरंकुशता के कारण वह वंचित ही रही। उस दूत ने जो काम शुरू किया था, उसे इस 'रणवीर' ने पूरा किया।

(२) पृष्ठ ७०—अब्दुल्ला खां की प्रकृति नरम थी, हुसैन अली खां की गरम। पर दोनों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा था और दोनों ही स्पष्टवक्ता थे। उनके विरुद्ध जो मन्त्रणायें होतीं, जो चालें चली जातीं—उनकी जानकारी रखते हुए भी उन्होंने कभी कपट या कुटिलता से काम नहीं लिया। वे दोनों भयंकर से भयंकर परिस्थिति का सामना करने के लिए बराबर तैयार रहते, पर अपने तईं इस बात की कोशिश करते कि खून-खराबी न हो। यह उनकी भलमनसाहत कही जाय, या उनकी कमजोरी, इतना जरूर है कि पदाधिकारियों के चुनाव या नियुक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने कड़ाई से काम नहीं लिया और फर्रुखसियर को बहुत कुछ निरंकुश रहने दिया। नतीजा यह हुआ कि दरबार उनके दुश्मनों का अखाड़ा बन गया और इन लोगों ने बादशाह के कान भरते भरते उसके और सैयद-बन्धुओं के बीच एक चौड़ी खाई खोद दी।

सैयद-बन्धुओं के शत्रुओं में :—

(क) खानदौरां का पूरा नाम था समसामुद्दौला खानदौरां बहादुर मंसूरजंग। इसके पूर्वज बदख्शां से आकर आगरे के पास बस गये थे। खानदौरां विद्वान् तो न था, पर दरबार के तौर-तरीके बहुत अच्छी तरह जानता था। उसकी वाक्पटुता भी ऊँचे दर्जे की थी। षड्यंत्रों में खूब भाग लेता, पर मार-काट से बहुत घबराता। १७३९ में नादिरशाह के साथ होने वाली लड़ाई में इसे मजबूर होकर मोरचा लेना पड़ा और उसी लड़ाई में यह खेत आया।

(ख) निजामुल्मुल्क का नाम पहले मीर कमरुद्दीन था, फिर चिंकिलिच खां पड़ा। इसके पूर्वज समरकंद से आये थे। गोरखपुर में फौजदार रह कर इसने नाम कमाया और आगे बढ़ते-बढ़ते दक्खिन का सूबेदार नियुक्त हुआ। पर जब यह पद हुसैन अली खां को मिल गया, तब यह चोट खाकर दिल्ली लौट आया और सैयद-बन्धुओं के विरोधी-दल में सम्मिलित हो गया। जिस समय फर्रुखसियर सिंहासन-च्युत हुआ, उस समय यह मुरादाबाद का फौजदार था।

सैयद-बन्धुओं के विनाश के बाद यह कुछ समय तक वजीर रहा, फिर दक्खिन जाकर स्वतंत्र-सा हो गया। इतिहास में यह आसफजाह निजामुल्मुल्क के नाम से विशेष प्रसिद्ध है। हैदराबाद के वर्तमान निजाम-वंश का यही प्रवर्तक था।

(ग) अमीन खां निजामुल्मुल्क का चचा और तूरानी-दल का प्रधान नेता था।

सैयद-बन्धुओं ने फर्रुखसियर से कई बार कहा कि, "यह स्पष्ट है कि आप हमारे किये हुए उपकार को भूल गये और अब हमारे दुश्मनों की ओर हो रहे हैं। ऐसी हालत में आपको हमारा इस्तीफा मंजूर कर हमें अपने गांव चले जाने की इजाजत दे देनी चाहिए। अगर हमें अपनी सेवा में रखना ही है, तो हमारे दुश्मनों से कहिए कि एक बार मैदान में मुकाबले पर आयें और अपने जौहर दिखायें। शर्त यह होगी कि जो दल मैदान मार ले, वही दरबार में रहने पावे; जो हार जाय, उसे दरबार-निकाला मिल जाय। अगर आप को यह भी मंजूर न हो, तो हमें बल्ख और बदख्शां पर चढ़ाई करने की इजाजत मिल जाय। हमारी प्रार्थना यही है कि अगर हम उन्हें जीत लें, तो हम उन दोनों प्रदेशों के जागीरदार माने जायें।"

पर इनमें से कोई बात फर्रुखसियर को मंजूर होने वाली न थी। नैतिक बल के अभाव के कारण वह इतना भी स्वीकार न करता कि उनके प्रति उसके मन में किसी प्रकार का असन्तोष था। बराबर यही कहता कि, "आप अपनी परछाईं से डरते हैं। दरबार में न तो आपका कोई शत्रु है, न आपके विरुद्ध किसी प्रकार का षड्यंत्र है। आप पर मेरा पूरा विश्वास है। भला ऐसी कृतघ्नता मुझसे कभी हो सकती है कि मैं आपकी सेवाओं को भूल जाऊँ! आप जहां हैं, वहीं बने रहें, इस्तीफा देने या बल्ख-बदख्शां जाने की कोई जरूरत नहीं।"

फर्रुखसियर एक ओर तो हुसैन अली खां को पुरस्कृत करने के बहाने कहीं उच्च पदाधिकारी बनाकर भेजता, दूसरी ओर किसी सरदार को इनाम-इकराम का प्रलोभन देते हुए लिखता कि देखना, यह दिल्ली जिन्दा न लौटने पावे। जब ऐसे खत सैयद-बन्धुओं के हाथ लग जाते और वे सम्राट् से उनका

जिक्र करते, तब वह उनके लेखक या प्रेषक होने से साफ इनकार कर जाता और कहता कि जिस खत की आप बात कर रहे हैं, वह जरूर जाली होगा। हमने तो स्वप्न में भी कभी किसी को ऐसा आदेश नहीं दिया !

सैयद-बन्धुओं के दरबारी शत्रुओं का यह हाल था कि वे पीठ पीछे बातें बघारते, जहर उगलते, तरह-तरह की बंदिशें बांधते, पर उनमें आमने-सामने हो कर उनका विरोध या उन पर वार करने की हिम्मत करने वाला कोई नहीं था। वे सब के सब, एक इतिहासकार के शब्दों में, 'शेरे-कालीन' थे, 'मर्दे-मैदान' नहीं। "यों आबरू बनावे जग में हजार बातां, जब तेरे आगे आवे गुफ्तार भूल जावे"—प्रत्येक का यही हाल था।

अब्दुल्ला खां का पल्ला हलका करने के लिए हुसैन अली खां दक्खिन का सूबेदार बनाकर उधर भेज दिया गया। इधर दिल्ली में उनके विरुद्ध संगठन होने लगा—अब्दुल्ला खां ने आत्म-रक्षा के लिए जो दीवार खड़ी कर रखी थी उसमें छिद्र ढूंढ़े जाने लगे। हुसैन अली खां को सम्राट् ने अपनी आंखों से आंसू बहाते हुए विदा किया था, यद्यपि उन आंसुओं से वह धोखे में आने वाला न था और चलते समय यह स्पष्ट कह गया था कि अगर मेरे भाई पर किसी प्रकार का आघात हुआ तो औरंगाबाद से दिल्ली पहुँचना मेरे लिए बीस दिनों से अधिक का काम न होगा।

दो-तीन साल तो अब्दुल्ला खां ने किसी तरह बिताये, फिर जब वह दुश्मनों की हरकतों से तंग आ गया, तब उसने अपने छोटे भाई को लिखा कि प्याला अब छलकने पर है, जितना जल्द हो सके, तुम यहां आ जाओ। खत मिलते ही हुसैन अली खां ने मराठों से सन्धि कर उन्हें चौथ देना स्वीकार कर लिया और रकाब में पैर रखकर अपने भाई की रक्षा के लिए रवाना हो गया। उसके साथ सहायकों के रूप में प्रायः पन्द्रह हजार मराठे घुड़सवार भी थे। आनन-फानन वह १६ फरवरी १७१८ को दिल्ली जा पहुँचा और पहुँचते ही फर्रुखसियर के होश ठिकाने करने के काम में लग गया। जब उसने देखा कि कोरी बातों से कुछ बनने वाला नहीं, तब उसने लाल किले को घेर लिया और अपने बड़े भाई के द्वारा समझौते की बातें कराने लगा—इस आशा से कि शायद फर्रुखसियर अब भी होश में आ जाय !

पर वह आने वाला न था। "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः"—वह इसका एक खासा अच्छा उदाहरण है। किले में वस्तुतः कैदी होते हुए भी, वह अपने को क्या समझे बैठा था, यह कहना तो कठिन है, पर जो अब्दुल्ला खां के मुंह पर उचित बात कहने का भी साहस न करता, वही अब आपे से बाहर होकर उसे गालियां भी दे बैठा। "तेरे गांव में मैं गधों के हल न चलवा दूं और तेरी बहू-बेटियों की सुथनियों में चूहे न डलवा दूं, तो मैं तैमूरलंग का सच्चा वंशज नहीं!"

पर होने वाला कुछ और ही था। २७ फरवरी को हुसैन अली खां की फौज ने किले को घेर लिया था और उसी दिन फर्रुखसियर से अब्दुल्ला खां की यह आखिरी मुलाकात थी। भय और क्रोध ने फर्रुखसियर को विवेकहीन कर दिया था। एक बार उसके मन में आया भी कि आत्मसमर्पण कर दूं तो यह विचार कर कि अब उसे अब्दुल्ला खां के पास जाकर दया-भिक्षा मांगनी पड़ेगी, उसने वह इरादा छोड़ दिया। किले के भीतर भी सैयद-बन्धुओं के सैनिकों और सहायकों का कड़ा पहरा था। इन सहायकों में जोधपुर के महाराज अजित सिंह, * कोटा के महाराव भीमसिंह हाड़ा † और नरवर ‡ के गजसिंह नरवरी मुख्य थे। अजितसिंह फर्रुखसियर को अपनी लड़की का डोला दे चुके थे, पर उन्होंने साथ बराबर सैयद-बन्धुओं का ही दिया। जयपुर के धिराज राजा सवाई जयसिंह $ उन दोनों भाइयों के विपक्षी थे, और दिल्ली में यह आशा की जाती थी कि वह वहां पहुँचकर फर्रुखसियर की रक्षा करेंगे। पर इस मौके पर वह उधर जाने से रह गये।

---

* महाराज जसवन्त सिंह के पुत्र, जिन्हें राठोर सरदार दुर्गादास ने औरंगजेब के चंगुल में फंसने से बचाया था। यह मुहम्मद शाह के समय में अपने ही पुत्र बख्स सिंह के हाथों मारे गये।

† कोटा राज्य के संस्थापक माधोसिंह हाड़ा के वंशज।

‡ आगरा-प्रान्त के अन्तर्गत यह संभवतः राजा रामदास नरवरी के वंशज थे।

$ जयपुर को इन्हीं ने बसाया। बड़े ज्योतिष-प्रेमी थे और इन्होंने कई मान-मन्दिर बनवाये।

घटनाओं की रफ्तार बहुत तेज़ हो चली थी। २८ फरवरी को अब्दुल्ला खां ने कुछ कागजों पर दस्तखत कराने के लिए फर्रुखसियर को जनाने में बुलावा भेजा तो उसने बाहर निकलने से इनकार कर दिया। इस पर कुछ आदमी एक दूसरे राजकुमार को ले आने के लिए भेजे गये। इसका नाम बेदारबख्श था और जो राजकुमार बच रहे थे, उनमें यह सब से योग्य समझा जाता था। पर स्त्रियों ने यह समझकर कि सैयद-बन्धु एक-एक कर सभी शाहजादों को खतम करना चाहते हैं, उसे ऐसी जगह छिपाया कि उसका कहीं पता न चला। इतने में खोजने वालों की नजर एक दूसरे राजकुमार रफी-उद्दरजात पर पड़ी और वे उसी को लेकर चल दिये। बादशाह के दस्तखत हुए बिना कई जरूरी काम रुके पड़े थे, इसलिए रफी-उद्दरजात को चटपट तख्तताऊस पर बैठाकर सम्राट् घोषित कर दिया गया। फिर राजा रतनचन्द, राजा बख्तमल, दीनदार खां, नज्मुद्दीन खां आदि सरदारों को हुक्म हुआ कि जैसे हो सके, फर्रुखसियर को यहां लाकर हाजिर करो। इनके साथ चार सौ सिपाही भी दिये गये। ये लोग अन्तः पुर में घुसे, तो वह स्त्रियों के आर्तनाद से प्रतिध्वनित हो उठा। फर्रुखसियर ढाल-तलवार लिये किसी कमरे में बैठा था । उसने प्राणों की ममता छोड़कर इन लोगों का अकेला मुकाबला भी किया, पर उसे गिरफ्तार होते देर न लगी। स्त्रियों ने उसे बचाने की भरपूर चेष्टा की, पर उससे होना ही क्या था! हुक्मी बन्दे उसे घसीट कर बाहर ले ही गये। जो अभी थोड़ी देर पहले तक भारत का सम्राट् था, उसे नंगे पांव और नंगे सिर ही नहीं जाना पड़ा, कुछ गालियां भी सुननी पड़ीं, कुछ ठोकरें भी खानी पड़ीं।

दीवानेखास में फर्रुखसियर अब्दुल्ला के सामने पेश किया गया और उसके हुक्म से अंधा कर दिया गया। इसके बाद वह तिरपौलिया की कालकोठरी में पहुँचाया गया, जहां प्रायः दो महीने बाद उसे जल्लादों के हाथ मरना पड़ा। उसके काले कारनामों को याद कर इतिहासकार को कहना पड़ता है कि अपने ही छोटे भाई से लेकर सिक्ख-जाति के धर्मवीर बन्दा तक सैकड़ों आदमियों के नृशंसतापूर्वक बहाये हुए खून से हाथ लाल करने वाले इस नर-पिशाच के साथ दैव ने किसी प्रकार का अन्याय नहीं किया।

इस क्रान्ति के बाद महाराज अजितसिंह अपनी बेटी इंद्रकुंवर को दिल्ली से जोधपुर ले गये। उसके साथ एक करोड़ रुपये से अधिक की निजी सम्पत्ति भी गई। जोधपुर में इंद्रकुंवर की 'शुद्धि' हुई और उसे अपने पिता के घर रहने का अवसर मिला। अजितसिंह ने जो कुछ किया, वह मुसलमानों की दृष्टि में मुगलवंश-परम्परा और मुगल-राजसत्ता का घोर अपमान था। पर आलोचक आखिर करते ही क्या? उन्होंने अजितसिंह को 'दामादकुश' कहकर सन्तोष किया।

रफी उद्दरजात की उम्र कुल बीस साल होते हुए भी वह संसार में अधिक समय तक रहने वाला न था। उसे तपेदिक की बीमारी थी और तख्तनशीन होने के चार महीने के भीतर ही उसे काल-कवलित होना पड़ा। उसके बाद रफी-उद्दौला सम्राट् बनाया गया। यह बहादुर शाह का पोता था—अर्थात् रफी उश्शान का बेटा। पर स्वास्थ्य सन्तोषजनक न होने के कारण इसे भी तीन ही चार महीने बाद परलोक सिधारना पड़ा। २८ सितम्बर १७१९ को बहादुर शाह के चौथे लड़के खुजिस्ता अख्तर का बेटा रोशन अख्तर—मुहम्मद शाह के नाम से—अठारह साल की उम्र में अब भारत का सम्राट् हुआ। इसी के राज्य-काल में पहले हुसैन अली खां की हत्या हुई, और फिर कुछ समय बाद अब्दुल्ला खां की कारागार में मृत्यु। इसके बाद निजामुल्मुल्क का चचा मुहम्मद अमीन खां वजीरे आजम हुआ और इसके मर जाने पर १७२२ में स्वयं निजामुल्मुल्क। पर प्रायः एक ही साल बाद यह दक्खिन चला गया और इसकी जगह मुहम्मद अमीन खां का बेटा कमरुद्दीन खां प्रधानमंत्री हुआ।

(३) पृष्ठ १०७—नादिरकुली नाम का एक तुर्कमान दरिद्र कुल में जन्म लेने पर भी, योग्यता के बल से, ईरान का बादशाह बन गया। वही शहंशाह नादिरशाह के नाम से मशहूर हुआ। उसका अफगानों से वैर था और कन्धार से भागे हुए अफगानों को मुगल-सरकार हिन्दुस्तान में शरण न देती तो नादिरशाह इस मुल्क पर चढ़ाई न करता। उसने दो-तीन दूत दिल्ली भेजे, और मुहम्मदशाह को लिखा कि आप हमारे साथ मित्र का-सा व्यवहार नहीं कर रहे हैं। पर दिल्ली-दरबार से एक साल तक कोई जवाब न मिला। फिर नादिरशाह ने चढ़ाई कर

दी। काबुल-प्रान्त इसी देश के अन्तर्गत था, पर वहां आय से व्यय अधिक हुआ करता था, इसलिए टोटा पूरा करने के लिए दिल्ली से कुछ लाख रुपये हर साल वहां भेजे जाते थे। इधर शासन-सम्बन्धी शिथिलता के कारण यह रकम नियमित रूप से नहीं भेजी जा रही थी, जिसके फलस्वरूप वहां के सैनिकों या रक्षकों का वेतन पांच साल से नहीं चुका था। नादिरशाह का विरोध नहीं के बराबर हुआ। उसने पेशावर और लाहौर पर बात की बात में कब्जा कर लिया और ११ फरवरी १७३९ को वह सरहिन्द-अम्बाला-शाहाबाद होता हुआ करनाल पहुँच गया।

१३ फरवरी को होनेवाली लड़ाई में मुहम्मदशाह को बुरी तरह हारना पड़ा। खानदौरां, अपने तीनों बेटों के साथ, खेत आया; अवध का सूबेदार सआदत खां घायल होकर गिरफ्तार हुआ; नादिरशाह को यह कहने का मौका मिला कि यहां के लोग मरना जानते हैं, लड़ना नहीं जानते। मुहम्मदशाह भी करनाल में ही था। दूसरे ही दिन उसने निजामुल्मुल्क को नादिरशाह के पास भेजा। सन्धि-सम्बन्धी बातचीत होने लगी। नादिरशाह की मांग पचास लाख रुपये की हुई—जिसमें २० लाख वह तत्काल चाहता था और बाकी ३० लाख काबुल पहुँच जाने तक। उसकी इच्छा दिल्ली की ओर बढ़ने की न थी। निजामुल्मुल्क ने उसकी शर्तें मंजूर कर लीं और लोगों ने समझ लिया कि बादल हट चले, आसमान साफ हो गया।

लेकिन निजामुल्मुल्क के दुश्मन भी थे। जब उसे शाबाशी मिली और उसका बेटा फीरोज जंग, खानदौरां की जगह, मीर बख्शी कर दिया गया, तब वे जल-भुन कर खाक हो गये। सआदत खां ने निजामुल्मुल्क की शिकायत करते हुए उससे कहा कि "आपने धोखा खाया। अगर आप दिल्ली चलें तो जवाह-रात के अलावा आपको २० करोड़ रुपये नकद मिल सकते हैं।" इससे नादिर शाह की आंखें खुल गईं, और वह दिल्ली की ओर चल पड़ा।

९ मार्च को उसने सदल-बल दिल्ली में प्रवेश किया और लाल किले में जाकर डेरा डाल दिया। मुहम्मदशाह उसके स्वागत की तैयारी के लिए वहां पहले ही पहुँच चुका था। सआदत खां डपोरसंख साबित हुआ और नादिरशाह

के फटकारने पर उसने आत्महत्या कर ली। १० मार्च को बाजार में यह अफवाह उड़ी कि नादिरशाह मारा जा चुका है। कुछ नागरिक उत्तेजित होकर ईरानी सैनिकों पर टूट पड़े और प्रायः तीन हजार आदमी उनकी तलवारों के शिकार हो गये। नादिरशाह को इस पर क्रोध हो आना स्वाभाविक ही था और उसने खून का बदला खून से लेने का निश्चय कर, दूसरे ही दिन, कत्लेआम का हुक्म दे डाला, जिसके फलस्वरूप कम से कम बीस हजार दिल्ली-निवासी मौत के घाट उतार दिये गये।

नादिरशाह दिल्ली में प्रायः दो महीने रहा। २६ मार्च को एक मुगल-राजकुमारी के साथ उसके छोटे बेटे का ब्याह हुआ। उसका बाकी सारा समय राजा और प्रजा के रक्त-शोषण में ही बीता।

दिल्ली–निवासियों की मुहल्लेवार तालिकायें तैयार कराई गईं और जिससे जो कुछ वसूल किया जा सकता था, जबरन वसूल कर लिया गया। इस जोर-जबर्दस्ती और लूट-पाट का नतीजा यह हुआ कि हजारों घर बरबाद या खाली हो गये। कोहनूर और तख्त-ताऊस तो हड़प ही लिये गये, शाही खजाने में भी जो कुछ हाथ लग सका, ले लिया गया। आर्थिक के अलावा भारतवर्ष की राजनीतिक हानि भी हुई। काश्मीर से सिन्ध तक जो प्रदेश सिन्धु नदी के पश्चिम पड़ता था, उस पर नादिरशाह का आधिपत्य हो चला। कुछ समय बाद पंजाब की भी यही दशा हुई। मुगल सल्तनत को जबर्दस्त धक्का पहुंचाकर नादिरशाह ने ५ मई १७३९ को अपने घर की राह ली। एक इतिहासकार का अनुमान था कि वह प्रायः ७० करोड़ की धन-सम्पत्ति अपने साथ ले गया।

(४) पृष्ठ १०८—अपने "हिन्दी के निर्माता" नापक ग्रंथ के प्रथम भाग में, बाबू श्यामसुंदर दास राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के सम्बन्ध में लिखते हैं:—"सुप्रसिद्ध रणथंभौर गढ़ में धंधार नाम का एक परमार राजा राज्य करता था। उसके पुत्र का नाम गोखरू था। हमारे राजा साहब इसी गोखरू गोत्र में थे। बादशाही समय में इनके पूर्वज दिल्ली में जौहरी का व्यवसाय करते थे। वे नादिरशाही में दिल्ली से भागकर मुर्शिदाबाद

चले गये। नवाब कासिमअली खां के अत्याचार से राजा शिवप्रसाद के पितामह राय डालचंद काशी में आ बसे। उनके पुत्र बाबू गोपीचंद थे जिनके पुत्र हमारे चरितनायक राजा शिवप्रसाद थे। राजा साहब का जन्म मिती माघ सुदी २ संवत् १८८० में हुआ था।"

(५) पृष्ठ ११८—गिरिया की लड़ाई के दिन, आलमचन्द के साथ, शायद फतहचन्द भी सरफराज खां की ओर से मैदान में मौजूद थे। "मुताखरीन" में लिखा है कि—"एक ओर सन्धि की बात चल रही थी, दूसरी ओर फतहचन्द अलीवर्दी खां के सरदारों को फोड़ने की चेष्टा कर रहे थे। उनकी ओर से प्रत्येक सरदार को कहलाया गया कि तुम अलीवर्दी खां को गिरफ्तार करा दो। जिसका जैसा पद था, उसे वैसी ही रकम मिलने की आशा दिलाई गई। विश्वास कराने के लिए फतहचन्द ने उनके पास दस्तखती पुरज़े भी भेजे। उन पर लिखा था कि इस पुरजे की रकम का भुगतान मिलेगा, पर उसी हालत में जब अलीवर्दी खां को गिरफ्तार कर उसके सैनिक सरदार सरफराज खां के हवाले कर देंगे।" कई सरदारों के पास ऐसे पुरजे पहुँचे, जिनमें मुस्तफा खां भी था। मुस्तफा, कुछ सरदारों के साथ, अलीवर्दी खां के पास गया और उन पुरजों को दिखाकर कहा कि—"अगर हम लोगों को लड़ना है, तो अब इसमें जरा भी देर न करनी चाहिए। कल सुबह होते ही लड़ाई छिड़ जाय, नहीं तो परसों बात बिगड़ जायगी।" अलीवर्दी खां को मुस्तफा की सलाह बहुत ठीक जँची और उसने उसी दम हुक्म दिया कि सारी फौज कल सुबह चोट करने के लिए तैयार हो जाय। यहां प्रश्न उठता है कि "क्या "मुताखरीन" का बयान सच्चा है और क्या फतहचन्द ने सचमुच सरफराज खां की ओर से वैसा काम किया था ?" "मुताखरीन" के अनुवादक का कहना है कि बात ठीक उलटी हुई थी। उसने यहां फुटनोट देकर लिखा है कि, "मैं कुछ दिनों तक मुर्शिदाबाद में रह चुका हूँ और मैं जानता हूँ कि अलीवर्दी खां ने फतहचन्द की मार्फत सरफराज खां की फौज को रिश्वत दिलाई थी। जिस समय मैं यह अनुवाद करने में लगा था, उस समय सरफराज खां की फौज का एक सरदार जिन्दा था। उसने मुझसे कहा था कि तोप को

गोला-बारूद की जगह कूड़ा-करकट से भरने के लिए मैंने खुद चार हज़ार रुपये पाये थे।" इस बात की पुष्टि और प्रमाणों से भी होती है। ऐसी अवस्था में "मुताखरीन" की बात का अर्थ यही हो सकता है कि फतहचन्द ऐसे पुरजे बंटवा कर किसी की सहायता कर रहे थे तो अपने 'मित्र' अलीवर्दी खां की, न कि सरफराज खां की। जान पड़ता है कि उन्होंने अलीवर्दी खां की सम्मति या अनुरोध से ही यह काम किया था। अलीवर्दी खां लड़ाई शुरू करने के लिए कोई बहाना ढूंढ़ रहा था और जब उसने नवाब की ओर से किसी तरह की छेड़-छाड़ होते न देखी, तब उसने फतहचन्द से वैसे पुरजे लिखवाकर अपनी फौज में बँट-वाये और एक हीला-हवाला खड़ा कर लिया। यदि फतहचन्द ने सचमुच सरफ राज खां की ओर से वैसी चेष्टा की होती तो रण में विजय लाभ करने वाला अलीवर्दी खां उनसे इसका बदला लिए बिना न रहता। पर इतिहास का साक्ष्य तो यह है कि अलीवर्दी खां आजन्म अपने को फतहचन्द का ऋणी मानता रहा और दोनों में कभी मनमुटाव तक न हुआ। (मि० लिट्ल)

(६) पृष्ठ १४७—"रियाजुस्सलातीन" के अंगरेजी अनुवादक मौलवी अब्दुस्सलाम ने यह मत प्रकट किया है कि मराठों के आतंक से बहुतेरे कुलीन मुसलमान पश्चिम और दक्खिन बंगाल छोड़कर पूरब और उत्तर बंगाल में जा बसे और यही कारण है कि पश्चिम बंगाल में—तथा मुर्शिदाबाद के आसपास भी—हिन्दुओं से मुसलमानों की संख्या इतनी कम है। पर अठारहवीं शताब्दी के मुसलमान इतिहासकारों ने भी जो कुछ लिखा है, उससे इस मत की पुष्टि नहीं होती कि मराठों के डर से भागनेवाले अधिकतर मुसलमान थे। आखिर पूरब या उत्तर बंगाल के मुसलमानों में ऐसे भागे हुये सरदारों, जागीरदारों या अहलकारों के वंशज निकलेंगे ही कितने ? जगत्सेठ मुर्शिदाबाद छोड़कर ढाके चले गये थे। पाइकपाड़ा राज्य के स्वत्वाधिकारी पहले मुर्शिदाबाद जिले के कांडी इलाके में रहते थे, पर उन्हें भी मराठों की दहशत से कुछ समय के लिए रामपुर बौलिया भाग जाना पड़ा था। बंगाल में कहीं हिन्दुओं की तो कहीं मुसलमानों की संख्या अधिक होने के कारण चाहे जो भी रहे हों, वे अलीवर्दी खां तो क्या, मुर्शिदकुली खां के समय में भी पुराने हो

चुके थे। मराठों की चढ़ाइयों से कोई नयी बात नहीं हुई। लूटपाट की दृष्टि से उनके लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई––सब एक से ही थे।

(७) पृष्ठ १५०––कलकत्ते के अंगरेज कर्मचारियों को मिलनेवाला वेतन इस प्रकार था:––

	पौंड	=	रुपया	
गवर्नर	३००	"	२४००	प्रतिवर्ष
बड़ा पादरी	१००	"	८००	"
कौंसिल का प्रत्येक सदस्य	४०	"	३२०	"
सर्जन	३६	"	२८८	"
क्लर्क	५	"	४०	"

पर वेतन के अलावा उन्हें कुछ सुविधायें प्राप्त थीं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह थी कि वे निजी व्यापार कर सकते थे।

महताबराय

"रात्रिर्गमिष्यति, भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति, हसिष्यति पंकजश्रीः"—
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त, हन्त, नलिनीं गज उज्जहार !!

पंडितराज जगन्नाथ

कंज के कोस में भौंर बंध्यो,
अपसोस कियो मन में अति ऊबा।
ह्वै है प्रभात, उदै है दिवाकर,
छूटिहौं मैं अलि जाल मैं डूबा।
'बेनी' न सोचेउ मूढ़ अजौं,
अरु काल को ख्याल न जान्यो अजूबा।
तोरि लई नलिनी गज त्यों,
रहिगो मनको मन ही मनसूबा॥

'बेनी' कवि

(१)

फतहचन्द के मरने के बाद भी तीनों प्रान्तों पर मराठों क आक्रमण होते ही रहे। कहना चाहिए कि भास्कर पंडित को मारकर अलीवर्दी खां ने अपनी उलझन सुलझाई नहीं, और भी बढ़ा ली। अन्त में उस लेने के देने पड़े।

महाराष्ट्र-अध्याय की समाप्ति १७५१ में हुई, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि उड़ीसा मिल जाने पर मराठे बंगाल को भूल गये। उड़ीसा तो बरसों उनके अधिकार में रहा ही, बंगाल पर भी जब-तब उनके हमले होते ही रहे।

पूरब में कलकत्ता, पश्चिम में पलामू, उत्तर में भागलपुर और दक्षिण में कटक, यह मराठों की चकफेरियों की चौहद्दी थी। इसके भीतर वे अपन घोड़े दौड़ाते, शहर और गाँव लूटते, लोगों को तरह-तरह से सताते, पर अलीवर्दी खाँ को आग बरसाने पर उद्यत देखते ही नौ दो ग्यारह हो जाते।

जब मराठे बंगाल में पहले पहल आये थे, तब हिन्दू जनता को लगा था कि वे मुसलमानी राजसत्ता का अन्त कर हिन्दू-धर्म का उद्धार करने आये थे। पर थोड़े ही समय में उसकी आँखें खुल गई थीं और उसने देख लिया था कि ये मराठे रक्षक नहीं, भक्षक—बल्कि आततायी थे। फिर तो लोगों को सहानुभूति की जगह घृणा होने लगी थी और अलीवर्दी खां को उनका पूरा सहयोग मिलने लगा था।

मराठों के अत्याचार कई प्रकार के होते थे। गाँव के गाँव जला देना, लोगों का सर्वस्व लूट लेना, निरपराधियों के भी नाक-कान काट लेना—यह सभी उनके काले कारनामों में शामिल था। किसानोंके जहाँ-तहाँ भाग जाने या दिन-रात आतंक बना रहने के कारण खेती-बारी, बाणिज्य-व्यापार को बहुत भारी धक्का लगा। हालत नाजुक थी, इसलिए धनी व्यक्ति भी रुपया और सोना-चाँदी दबाकर बैठ गये। जगत्-सेठ का भी यह हाल था कि वह रुपये की माँग पूरी नहीं कर पाते थे। टकसाल के लिए जितनी चाँदी चाहते, उतनी उन्हें विदेशी

व्यापारियों से प्राप्त नहीं होती थी। वह चाँदी मुर्शिदाबाद न जाकर और ही कहीं चली जाती थी। उधर सरकार की आय घटती जा रही थी, सैनिक व्यय बढ़ता जा रहा था। अलीवर्दी खाँ को मराठों और अफगानों से पार पाने के लिए जब-जब रुपये की जरूरत पड़ी, तब-तब उसको अपना खजाना प्रायः खाली मिला। काम चला तो कर्ज या चंदे से जिसके लिए उसे कभी तो सेठ-साहूकारों, जमींदारों और अपने रिश्तेदारों को फुसलाना पड़ा और कभी उन पर अनुचित दबाव डालना पड़ा। आये दिन ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरी कम्पनियाँ जगत्-सेठ से कर्ज माँगती रहती थीं। वह खीजते, भौंह तानते, कभी सहायता करते, कभी कुछ भी देने से साफ इनकार कर देते। मराठों से १७५१ में संधि हो जाने तक यह अर्थ-संकट बना ही रहा।

फिर भी यह याद रखना चाहिए कि मराठे कभी गंगापार नहीं गये। इसलिए पूरब बंगाल और उत्तर बिहार उनसे सुरक्षित ही रहे। १७४५ में मराठों और अफगानों का मेल हो जाने पर राजनीतिक स्थिति और भी विकट हो गई। अगर मुस्तफा खाँ मारा न जाता और १७४८ में अलीवर्दी खाँ अफगानों को परास्त कर, अपने मार्ग के दो काँटों में से एक को सदा के लिए नष्ट न कर देता, तो बंगाल और बिहार में मराठे राज्य करते या अफगान, या दोनों ही, यह कहना तो कठिन है, पर इसमें संदेह नहीं कि कुछ समय के लिए गंगा के दोनों ओर लूट-मार का बाजार गरम हो जाता और प्रजामात्र के कष्ट की कोई सीमा न रहती।

अलीवर्दी खाँ और मुस्तफा खाँ का झगड़ा भास्कर पंत की हत्या के बाद शुरू हुआ। मुस्तफा खां ने अलीवर्दी खाँ को उसके कौल-करार की

याद दिलाकर उससे बिहार की नायब निजामत माँगी और अलीवर्दी खाँ ने उसे देने से इनकार कर दिया। बहुतेरे संदेसे भुगते, लोगों ने मुस्तफा खाँ को समझाने-बुझाने की बहुत कोशिश की, पर उसने बिहार के बदले और कुछ भी इनाम-इकराम के तौर पर लेना स्वीकार नहीं किया। अलीवर्दी खाँ बात का धनी तो न निकला, पर अफगानों को छोड़कर और किसी की भी सहानुभूति मुस्तफा खाँ के साथ नहीं हुई। उसे जो कुछ पद-प्रतिष्ठा प्राप्त थी, वह अलीवर्दी खाँ की ही कृपा का फल था। फिर उसने बिहार-जैसा प्रान्त पाने लायक कोई खैरख्वाही भी तो नहीं की थी। भास्कर पन्त को फँसा कर मरवा डालने की जो कीमत वह माँग रहा था, वह इतनी ऊँची थी कि लोगों ने यही कहा कि मुस्तफा खाँ लोभ से अंधा हो गया है, उसके दुराग्रह की उपेक्षा करना ही अलीवर्दी खाँ का कर्तव्य है।

बात यहाँ तक बढ़ी कि मुस्तफा खाँ ने पहले तो दरबार में जाना-आना छोड़ दिया, फिर एक दिन नौकरी से इस्तीफा देकर खुल्लम-खुल्ला बगावत कर दी और प्रायः दस हजार अफगान सवारों के साथ बिहार पर धावा बोल दिया। हाँ, कूच करने से पहले उसने वेतन के हिसाब में सत्रह लाख रुपये सरकार के जिम्मे बाकी बताकर उसे अदा करा लिया।

जब मुस्तफा खाँ मुंगेर पहुँचा, तब पटने से जैनुद्दीन अहमद ने कहलाया कि अगर तुम्हारे पास कोई सनद हो तो दिखा दो, मैं यों ही तुम्हारे मार्ग से हट जाऊँगा। मुस्तफा खाँ ने जवाब दिया कि सनद मैं तुम्हें वही दिखाने वाला हूँ जिसे तुम्हारे चचा ने गद्दी छीनते समय सरफराज खाँ को दिखाया था। पटने के पास दोनों के बीच घमासान लड़ाई हुई। कई हिन्दू जमींदारों ने इस अवसर पर जैनुद्दीन अहमद

की मदद की। उनमें मुख्य थे टेकारी के राजा सुन्दर सिंह, सरीस कुटुंबा के बिशन सिंह और ससराम चैनपुर के पहलवान सिंह। हिन्दू कर्मचारियों में विशेष उल्लेखनीय थे महता जसवन्त नागर, राजा कीर्त्तिचन्द और राजा रामनारायण। लड़ाई में मुस्तफा खाँ की हार हुई और एक आँख भी जाती रही। गुलाम हुसैन*इस पर खुशी जाहिर करता हुआ लिखता है कि "मुस्तफा खाँ हजरत अली को और भलाई करनेवालों को बायीं आँख से देखा करता था। अगर उसकी दाहिनी आँख फूट गई तो उसके साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं हुआ।" मुस्तफा चुनारगढ़ भाग गया। अलीवर्दी खाँ भी पटने जा पहुँचा था। जैनुद्दीन अहमद को साथ लेकर उसने गाजीपुर जिले में जमानिया तक उसका पीछा किया। जब वह पकड़ा न जा सका तब अफगानों के उस कस्बे में आग लगवा दी और पटना होता हुआ मुर्शिदाबाद लौट गया।

चुनारगढ़ में सुस्ता कर और नई सेना संगठित कर मुस्तफा खाँ ने फिर बिहार पर चढ़ाई की। यह दूसरी लड़ाई शाहाबाद में जगदीशपुर के आसपास हुई। वह चाहता था उस इलाके के जमींदारों को अपने पक्ष में कर, उनकी आर्थिक सहायता से लड़ना। मराठों से भी उसकी लिखा-पढ़ी जारी थी और वह उनकी राह देख रहा था। पर जैनुद्दीन अहमद ने राजा सुन्दर सिंह, रहीम खाँ रुहेला आदि को साथ लेकर झट सोन नदी को पार किया और ऐसा झपट्टा मारा कि मैदान भी मार लिया। इस बार मुस्तफा खाँ खेत आया। यह २० जून १७४५ की बात है।

---

* "मुताखरीन" का लेखक शीआ था और सभी अफगानों की तरह मुस्तफा खाँ सुन्नी।

उसका सिर तो काट कर दिल्ली भेज दिया गया और धड़ के दो टुकड़े कर दोनों पटने में दो जगह गाड़ दिये गये।

भास्कर के खून का बदला लूट से लेने के लिए, रघुजी भोंसले मार्च १७४५ में ही उड़ीसा पर चढ़ाई कर चुका था। इसके बाद मुस्तफा खाँ के उकसाने पर वह बंगाल की ओर बढ़ा। अलीवर्दी खाँ की परिस्थिति से लाभ उठाकर मोटी रकम वसूल करने क उद्देश से उसने तीन करोड़ रुपये माँगे। अलीवर्दी खाँ पहले मुस्तफा खाँ से पार पाना चाहता था, इसलिए उसने रघुजी के पास एक दूत भजकर कहलाया कि मैं संधि करने को तैयार हूँ। संदेसे जाने-आने लगे। चाहे इस बातचीत के कारण हुआ हो, चाहे और किसी कारण, रघुजी मुस्तफा खाँ को किसी तरह की मदद न भेज सका। और जब मुस्तफा खाँ मारा जा चुका, तब अलीवर्दी खाँ ने त्योरी बदल कर, रघुजी को कहला दिया कि रुपया दे-लेकर सुलह करना नामर्द का काम है, मैं तो लड़ाई क लिए तैयार बैठा हूँ।

मुस्तफा खाँ की बगावत के समय उड़ीसा का नायब नाजिम उसका भतीजा अब्दुल रसूल खाँ था। जब वह भी बागी हो गया, तब अलीवर्दी खाँ ने राजा जानकीराम के बेटे दुर्लभराम को वहाँ का शासक बनाकर कटक भेजा। पर वह पूजा-पाठ करनेवाला दुर्बलराम निकला और रघुजी ने उसे अनायास ही कैदकर नागपुर भेज दिया। पीछे जानकीराम के तीन लाख रुपये देने पर दुर्लभराम की रिहाई हुई। उड़ीसा मराठों के अधिकार में होत हुए भी, अलीवर्दी खाँ ने अब मीर जाफर को नायब-नाजिम नियुक्त किया।

अलीवर्दी खाँ की ओर स चुनौती मिलते ही, रघुजी ने बर्दवान और वीरभूम पर कब्जा कर लिया और मुस्तफा खाँ के बेटे मुर्तजा को

बचाने के उद्देश से मुंगेर तथा गया होता हुआ तीर की तरह रोहतास जा पहुँचा। उसका उबार कर और सोन नदी को दोबारा पार कर वह पटने की ओर बढ़ा। तब तक अलीवर्दी खाँ वहाँ पहुँच चुका था। मराठे दक्खिन की ओर सरकन लगे। दोनों दलों की मुठभेड़ सोन के तट पर महीब अलीपुर में हुई। वहाँ अठारह दिन तक लड़ाई होती रही, जिसमें रघुजी ने अलीवर्दी खाँ के छक्के छुड़ा दिये। अलीवर्दी खाँ को सन्देह हुआ कि मीर जाफर और शमशेर खाँ मराठों से साँठ-गाँठ कर चुके हैं। उसकी बेगम ने सुलह की बातचीत शुरू कराई। पर रघुजी को ऐसी बातचीत का कुछ कटु अनुभव हो चुका था, इसलिए उसमें समय बरबाद न कर, वह मुर्शिदाबाद को लूटने चल पड़ा।

अलीवर्दी खाँ कब पीछे रहने वाला था? उसने भी धावा मारा। भागलपुर के पास दोनों की छोटी-मोटी लड़ाई भी हुई। रघुजी संथाल परगना और वीरभूम के जंगल-पहाड़ होकर मुर्शिदाबाद की ओर बढ़ गया। शहर के पास पहुँच कर उसने लूट-मार शुरू करा दी, पर अलीवर्दी खाँ भी दूसरे ही दिन पहुँच गया, इसलिए रघुजी वहाँ से हट कर कटवा चला गया। वहाँ दिसम्बर १७४५ में दोनों के बीच बड़ी लड़ाई हुई, जिसमें अलीवर्दी खाँ ने मैदान मार लिया। रघुजी मीर हबीब की अधीनता में दो-तीन हजार मराठे और छः-सात हजार अफगान सवार छोड़कर आप नागपुर लौट गया।

मराठे दबने वाले न थे। बर्दवान, बाँकुड़ा, मेदिनीपुर, कटक, बालेश्वर, इन इलाकों में उनके उपद्रव बने ही रहे। १७४७ में रघुजी ने अपने पुत्र जानोजी को बड़ी सेना के साथ कटक भेजा। मीर जाफर अपना कर्तव्य-भार ग्रहण करने वहाँ जा ही रहा था कि मेदिनीपुर में

खबर मिली कि जानोजी चला आ रहा है। वहीं थम गया। अलीवर्दी खाँ को यह मालूम हुआ तो वह मीर जाफर पर बहुत बिगड़ा और उसकी मदद में अताउल्ला खाँ को बर्दवान भेजा। पर यह मीर जाफर के मेल में होकर अलीवर्दी खाँ को ही मार मिटाने के बाँधनूं बाँधने लगा। इसलिए नाजिम को खुद उधर जाना पड़ा। जानोजी की बर्दवान में हार हुई और वह मेदिनीपुर चला गया।

मराठों के उत्पात आर्थिक दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हुए बिना कब रह सकते थे? किसान और कारीगर दोनों चक्की में पिसने लगे थे, इसलिए हर तरह की पैदावार कम होती गई, मजदूरी और दाम बढ़ चले और बाणिज्य-व्यापार के स्रोत का स्वच्छंदतापूर्वक बहना बंद हो गया।

चाँदी के अभाव के कारण टकसाल प्रायः बन्द रहती थी, इसलिए मुद्रा-स्फीति का प्रश्न तो उठ ही नहीं सकता था। दामों की तेजी की तह में केवल उत्पादन की कमी और वस्तुओं का अभाव था।

मि० लिट्ल लिखते हैं:—

"मारकाट के इतिहास में तो महताबराय या उनके घरान का नामोल्लेख नहीं के बराबर मिलता है, पर कंपनी क कागजात में उनका बार-बार जिक्र आता है। बंगाल में अपना व्यापार जारी रखने के लिए कंपनी को जितना कर्ज उनसे इस समय लेना पड़ा, उतना पहले कभी नहीं लेना पड़ा था। इसका कारण स्पष्ट है। और कहीं भी रुपया उधार मिलना बहुत ही कठिन था। अलीवर्दी खाँ के डर के मारे सेठ-साहूकारों ने अपने-अपने धन को छिपा दिया था। कोई यह बात प्रकट होने देना नहीं चाहता था कि उसके पास कुछ भी पूंजी बच रही है।

बंगाल में इस समय मुद्रा का घोर अभाव था। तूफान में पड़कर औरों की नावें तो डूब गई थीं, एक जगत्-सेठ की नाव चल रही थी। हाँ, उनके लिए भी उसके पालों को बहुत-कुछ समट लेना आवश्यक हो गया था। सरकार की माँग को वह बिलकुल उपेक्षा तो नहीं कर सकते थे, पर जितना वह चाहती, उतना दे भी नहीं सकते थे। यही बात प्रान्त के विभिन्न भागों से आने वाली माँग के बार में भी कही जा सकती थी। अगर वह काम-काज बंद कर दत तो अनर्थ पैदा हो जाता, इसलिए उन्होंने उसे यथासंभव कम कर दिया था और अपनी नाव को धीमी चाल से ही चला रह थे।"

इधर कंपनी की प्रायः प्रत्येक शाखा के लिए कर्ज लेना अनिवार्य हो गया था और प्रत्येक का अनुभव यह था कि कर्ज मिलना पहले की तरह आसान नहीं था। जुलाई १७४५ में ढाका-फैक्टरी को ५०,०००) की जरूरत पड़ी, पर फतहचन्द की कोठी से उसे टका-सा जवाब मिल गया—"हमारे पास न मुर्शिदाबाद के ढले हुए रुपये हैं, न आरकट के।" ढाकावालों ने कलकत्ते की कौंसिल को इसकी सूचना दी। कौंसिल ने कासिमबाजार के कर्मचारियों को लिखा कि सेठों से जाकर मिलो और कहो कि अपनी ढाके की गद्दी पर एक लाख की हुंडी दे दें। पर सेठों ने भी यही कहा कि ढाके में इतना रुपया ही नहीं कि हम एक लाख की हुंडी दे सकें। फिर कंपनी की ओर से कहा गया कि अच्छा जो चाँदी हम बेच चुके हैं, उसी के पेटे में इतना दे दीजिये। इसका जवाब यह मिला कि देने के लिए 'सिक्के' कहां हैं? ज्यों-ज्यों टकसाल में सिक्के ढलते जायँगे, चाँदी की कीमत का भुगतान होता जायगा। ५ अगस्त को कासिमबाजार वालों ने ५०,०००) ढाका-फैक्टरी वालों के पास भेजा और यह भी लिखा कि महताबराय स्वरूपचंद वहां अपने

गुमाश्ते को आदेश भेज चुके हैं, उससे तुम्हें ५०,०००) और मिल जायगा। पर इस रकम के भी मिलने में काफी देर हुई। सितम्बर से पहले वह ढाका-फैक्टरी को प्राप्त न हो सकी।

इसी प्रकार, कासिमबाजार और पटने में भी कंपनी को समय-समय पर जगत्‌सेठ की कोठी से कर्ज लेना पड़ा और प्रायः प्रत्येक बार यही किस्सा रहा कि गुमाश्ता पहले तो मुद्राभाव के कारण कुछ भी उधार दे न सका, फिर लिखा-पढ़ी या बातचीत होन पर महताबराय ने कर्ज देना मंजूर कर लिया, फिर कंपनी ने चाँदी देकर उस कर्ज का भुगतान किया या उसने कागज बदल दिया। १७४६ में हम कंपनी को ब्याज के सम्बन्ध में उन्हें यह लिखते पाते हैं कि उस मद में जो कुछ निकलता है, उसे आप असल में जोड़ लीजिये। मई में कासिमबाजार की फैक्टरी को एक लाख कर्ज मिल चुका है, शायद एक लाख और मिलने की बात है। फिर भी वहाँ के कर्मचारी कलकत्ते लिखते हैं कि "रुपये की ऐसी टान है कि फतहचन्द की कोठी को जो चांदी बेची गई थी, उसकी कीमत भी वह मुश्किल से चुका सकी है। हमें तो यही जान पड़ता है कि अगर सेठों के पास रुपया है भी तो वे सरकार क डर से उसे जाहिर करना नहीं चाहते।" जुलाई में कंपनी के कर्मचारी कासिमबाजार में कर्ज माँगते फिरते हैं। पर न कर्ज मिलता है, न कंपनी विलायत भेजने के लिए माल खरीद पाती है। ढाके का भी यही हाल है। कौंसिल का आदेश था कि ।।।) प्रतिशत प्रतिमास से अधिक ब्याज पर रुपया हर्गिज उधार न लिया जाय, पर वहाँ के कर्मचारियों के हैरान-परेशान होने पर भी ।।।) ब्याज पर कहीं रुपया नहीं मिलता।

अक्टूबर में कुछ चाँदी कलकत्ते पहुँची। कौंसिल ने महताबराय को लिखा कि आप यह चाँदी खरीद लीजिये और दाम में हमें तब तक दो

लाख द दीजिये। प्रान्त में अमन-चैन न होने क कारण कौंसिल ने उनसे यह भी अनुरोध किया कि आप हमसे चाँदी सदा की भांति मुर्शिदाबाद में न लेकर यहीं अपनी कोठी पर ले लीजिये। महताबराय ने कौंसिल का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दो लाख में से एक लाख रुपया कंपनी को अपनी ढाका-फैक्टरी के लिए चाहिए था। उसके लिए हुंडी करनी होती और ऐसी हुंडी की बाजार-दर १) सैकड़ा थी। महताबराय ने कहलाया कि कंपनी को यह हुंडावन देना पड़ेगा। उन्होंने यह भी कहलाया कि 'हम चाँदी लेंगे मुर्शिदाबाद के भाव से और कलकत्ते का भाव १९७)* से ऊपर नहीं। फिर चाँदी यहाँ ले आने में कुछ खर्च पड़ेगा और कुछ जोखिम भी उठानी होगी। एसी हालत में, चाँदी मिल जाने पर भी हम एक महीने तक ब्याज के देनदार न होंगे'। कलकत्ते की कौंसिल अपने कासिमबाजार के कर्मचारियों को लिखती है—"महताबराय स्वरूपचंद ढाके के लिए जो १) सैकड़ा हुंडावन माँग रहे हैं वह उन्हें शोभा नहीं देता। उनसे जाकर कहो कि फतहचन्द के समय में तो हमें कभी ऐसा हुंडावन नहीं देना पड़ा। हमारे साथ उनके घराने का व्यवहार सदा और ही तरह का रहा है। लेकिन अगर वह न मानेंगे, तो उनकी माँग पूरी करनी ही होगी। कलकत्ते में चाँदी मिल जाने के बाद भी वे एक महीने का ब्याज नहीं देना चाहते। यह भी मुनासिब नहीं। यों तो कहन-सुनने पर भी न मानेंगे तो हमें बल खाना ही होगा।"

१७४७ के पूर्वार्द्ध में कंपनी ने कुछ चाँदी कासिमबाजार भेजी। पर बंगाल-बिहार में राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति इतनी चिन्ताजनक थी कि मुर्शिदाबाद की टकसाल ही बंद कर देनी पड़ी थी।

---

*२४० 'सिक्कों' के वजन की चांदी का दाम। मुर्शिदाबाद में उतनी चांदी की कीमत थी २०१ से २०३ 'सिक्के'।

महताबराय ने कहलाया कि जब टकसाल तीन-चार दिन बाद खुलेगी, तब वह चाँदी तो ले लेंगे, पर आगे २०१) से ऊंचा दाम न दे सकेंगे। कारण कि, "सिक्के में खालिस चाँदी पहले की अपेक्षा अधिक हो चली है, इसलिए ढलाई में अब उतना मुनाफा नहीं रह गया है।" १७४७ के उत्तरार्द्ध में भी रुपये का अभाव बना ही रहा। उधर महताबराय की ओर से यह शिकायत की गई कि जहाँ कंपनी साल बीतते ही ब्याज चुका देती थी, वहाँ वह अब ब्याज को असल में जोड़ कर सिर्फ कागज बदल देती है। १० अगस्त को कौंसिल कासिमबाजार की फैक्टरी को लिखती है कि, "चांदी का दाम बढ़वाने की कोशिश जारी रखना। जगत्सेठ महताबराय से जोर देकर कहना कि जो दाम वह दे रहे हैं, वह इतना नीचा है कि विलायत स यहाँ चाँदी ले आने में कुछ भी फायदा न रहेगा। हाँ, अपने व्यवहार से उन्हें कभी असन्तुष्ट मत होने देना। उनका ब्याज का हिसाब तो फौरन कर दो। फिर इस बात की चेष्टा करो कि ढाका-फैक्टरी को एक लाख नहीं तो कम-से-कम पचास हजार अपनी कोठी से उधार दिला दें। वहाँ वालों न लिखा है कि अगर रुपया न मिल सका तो उनका काम चलना असंभव हो जायगा।"

कौंसिल को अपने इस खत का जवाब सोलह दिन बाद मिला। कासिमबाजार वालों ने लिखा:—

"जगत्सेठ का गुमाश्ता रै (रवि ?) दास दो साल का ब्याज माँगने आया था। इधर बीस पेटी चाँदी मिली थी, पर प्रायः सारा रुपया ब्याज चुकाने में लग गया। अब माल की खरीदारी क लिए यहाँ अपने पास रुपया नहीं। इसके साथ हिसाब भज रहे हैं, आप समझ लेंगे। ढाका-फैक्टरी के लिए सेठों से एक लाख माँगा था, पर कुल २५,०००) की हुंडी मिली। यह हुंडी कासिद के जरिए वहाँ भेज दी है। सेठों ने

चाँदी २०३) के भाव से लेना स्वीकार कर लिया है। पर उनका गुमाश्ता कह रहा था कि मुझे मालूम है कि कंपनी के दलालों ने कलकत्ते में चाँदी १९७।।=) की दर से बेची है। अगर बात एसी है, तो आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि इधर सेठों का जी क्यों खट्टा हो चला है।"

अगर सेठों का दिल थोड़ी देर के लिए फिर गया था तो इसका कारण सचमुच यही था कि जो चाँदी विलायत से आती, उसका बड़ा हिस्सा तो कंपनी प्रायः बाजार में बेच लेती और उनको ब्याज तक नहीं चुकाती। कौंसिल को सेठों के संतोष के लिए यह बताना पड़ा कि उसकी ओर से कितनी चाँदी बाजार में बेची जा चुकी थी और क्यों। पर उनके 'सन्तुष्ट' हो जाने पर भी कासिमबाजार की फैक्टरी को वह कर्ज न मिल सका जिसकी उसे सख्त जरूरत थी।

सितम्बर में फिर कुछ चाँदी कलकत्ते पहुँची। इधर महताबराय की ओर से फिर ब्याज का तकाजा होने लगा था। कौंसिल ने निश्चय किया कि पाँच पेटी चाँदी तो उन्हें ब्याज की मद में दे दी जाय, पाँच पेटी कलकत्ते में रख ली जाय और बाकी बीस पेटी चाँदी कासिमबाजार भेज दी जाय—इस आदेश के साथ कि टकसाल में बिकजाने पर अपने कर्मचारी दस पेटी की कीमत तो यहाँ भेज दें और दस पेटी की कीमत से वहाँ माल की खरीदारी करें। कौंसिल ने महताबराय को यह भी कहलाया कि और चाँदी आने ही वाली है। महताबराय ने इस पर प्रसन्नता प्रकट की, पर कहा कि हम २०१) स ऊंचा दाम नहीं दे सकते। लाचार, कंपनी को उसी दर से चाँदी बेचनी पड़ी।

जनवरी १७४८ तक सौ पेटी चाँदी कलकत्ते पहुँच चुकी थी। कौंसिल ने अपने कासिमबाजार वाल कर्मचारियों को लिखा कि महताबराय से पूछ कर लिखो कि चाँदी वह यहाँ लेना चाहते हैं या वहाँ।

कौंसिल का प्रस्ताव था कि चाँदी मिल जाने पर जगत्सठ दो लाख तो लेन-देन के हिसाब में हमारा जमा कर लें, एक लाख कासिमबाजार-फैक्टरी को और ५०,०००) ढाका-फैक्टरी को दे दें और बाकी जो कुछ निकले, यहाँ कलकत्ते भेज दें। प्रेसिडेन्ट ने इस विषय में महताबराय को एक पत्र भी लिखा। पर जनवरी बीतने से पहले ही खबर मिली कि जैनुद्दीन अहमद पटने में मारा जा चुका था औरअलीवर्दी खाँ परऐसी कौटुंबिक आपदा आ जान के कारण मुर्शिदाबाद में हड़ताल मनाई जा रही थी। ८ फरवरी क लेखे में महताबराय स मिलने वाले उत्तर का उल्लेख है। उन्होंने लिखा था कि, "यों तो हम कंपनी की बराबर मदद करत आये हैं और आज भी चाँदी खरीद लेने को तैयार हैं, पर पटने में जो दुर्घटना घटी है, उसके कारण इस समय कुछ भी करना-धरना हमार बस की बात नहीं। तमाम गड़बड़ मची हुई है। काम-काज बंद है। लोग अपनी-अपनी जान बचाने के लिए शहर से भाग रहे हैं। हम खुद नवाब से विदा ग्रहण कर गंगापार चले आये हैं। टकसाल बंद कर देनी पड़ी है। इसलिए हम इस समय रुपया देने में असमर्थ हैं। जब शान्ति हो जायगी और काम-काज फिर चलने लगेगा, आप के प्रस्ताव पर ध्यान देंग। इस समय तो लाचारी है।"

पटने की 'दुर्घटना' की कहानी यह है:—

मुस्तफा खाँ मारा जा चुका था, पर अफगान-समस्या हल नहीं हुई थी। मुर्शिदाबाद में कुछ एसे अफगान रह गये थे, जिन्होंने मुस्तफा खाँ की बगावत के समय उसका साथ तो नहीं दिया था, पर जो अलीवर्दी खाँ के पूरे वफादार भी नहीं हो सके थे। इनके नेता थे दरभंगा-निवासी शमशेर खाँ, सरदार खां और मुराद शेर खाँ जो मीर हबीब से पत्र-

व्यवहार करते रहते थे और मराठों की सहायता स फिर अफगान-राज्य स्थापित करने की तदबीर सोचा करते थ।

"मुताखरीन" के लेखक ने अफगानों के गुण-दोष बताते हुए जहाँ उन्हें शूर-वीर स्वीकार किया है, वहाँ साथ ही उनकी उपमा जंगली जानवरों से दी है। कहा है कि "अफगानों क न दिल होता है, न दिमाग। बड़े लालची होते हैं, पर नमक का हक अदा करना नहीं जानते। अफगान से झगड़ा करना बर्र के छत्ते में हाथ डालना है। अगर कोई अफगान मारा जाता है, तो उसका फिरका उस बात को कभी भूलता नहीं, चाहे कितना ही समय क्यों न बीत जाय। मौका मिलने पर वह बदला लेकर ही रहता है।"

अलीवर्दी खाँ ने उन अफगानों का रंग बेढंग देखकर उन्हें बर्खास्त कर दिया और व दरभंगे चले गय। उसी समय जैनुद्दीन अहमद के सिर पर एक हौसला-रूपी भूत सवार हुआ। वह अलीवर्दी खाँ को गद्दी से हटाकर खुद उसकी जगह जा बैठने का विचार करने लगा। दरभंगे के अफगानों से पत्र-व्यवहार कर उसने उन्हें पटने बुलाया। सरदार खां, शमशेर खाँ आदि हाजीपुर जा पहुँचे और बाकी सैनिकों को वहीं छोड़ कर प्रायः पाँच सौ सवारों क साथ १३ जनवरी १७४६ को गंगापार दरबार में हाजिर हुए।

वहाँ उनके स्वागत का आयोजन किया गया था। पर जिस समय जैनुद्दीन अहमद पान-सुपारी बँटवा रहा था, उसी समय एक अफगान ने उसके पेट में खंजर घुसेड़ दिया और अपने साथी का अधूरा काम मुराद शेर खाँ ने पूरा कर डाला। अफगानों की दिलजमई के लिए जैनुद्दीन अहमद ने आज्ञा दे दी थी कि उसके अपने सैनिक उस दिन के दरबार में

न आवें। राजा सुन्दर सिंह, मेहदी निसार खाँ आदि सरदार किसी दौरे पर पटने से बाहर भेज दिये गये थे। कुछ दरबारी और साधारण कर्मचारी-मात्र उपस्थित थे। अफगानों ने बात की बात में शहर और किले पर कब्जा कर लिया।

जैनुद्दीन अहमद का पिता हाजी अहमद भी उस समय पटने में ही था। वह वृद्धावस्था और धन क लोभ के कारण भाग न सका। उसकी अवस्था ८२ वर्ष की थी और उसके पास संचित धन ७० लाख रुपये से कम न था। वह कैद कर लिया गया और कुछ दिन बाद कैदखाने में ही उसकी मृत्यु हो गई। महल में और शहर में लूट-खसोट होने लगी। लोगों को दिल्ली में नादिरशाही का जमाना याद आने लगा। अफगानों ने अपने माथे पर कलंक का एक और टीका यह लगा लिया कि जैनुद्दीन अहमद की स्त्री अमीना बेगम और उसके बेटे-बेटी को बैलगाड़ी में बैठा कर अपने पड़ाव पर ल गये। वह बहली चारों ओर से खुली हुई थी, जिस पर झीना भी ओहार या घटाटोप न था।

जिस समय अलीवर्दी खाँ को यह दुःखद समाचार मिला, उस समय उसका पड़ाव अमानीगंज में था और वह मराठों से भिड़ने जा रहा था। समाचार मिलते ही सन्न हो गया। पर वह बड़ा धीर-वीर था, इसलिए फौरन होश सँभाल कर उसने पटने जाने का निश्चय किया और कूच का डंका बजवाया। ऐलान करा दिया कि, "अफगानों की खबर लेना सब से जरूरी हो गया है, इसलिए नवाब नाजिम पटन जा रहे हैं। वहाँ से लौट कर मराठों की भी खबर लेंगे। तब तक लोग अपनी रक्षा का जो प्रबन्ध कर सकते हों, आप ही करें।" पर 'हिम्मत थी आली, जेबें थीं खाली!'

सैनिकों की ओर से कहा गया कि जब तक वेतन नहीं चुक जाता, तब तक हम लोग इस धावे पर जान का नाम भी नहीं ले सकते। बड़ी मुश्किल पड़ी। इस मौके पर उसकी बेटी घसीटी बेगम, दामाद नवाजिश मुहम्मद खाँ और जगत्सेठ महताबराय काम आय और परिस्थिति को सँभालने में उसकी बड़ी सहायता की। नवाजिश मुहम्मद से उसे ९० लाख मिला और महताबराय से ६० लाख। २९ फरवरी को अलीवर्दी खाँ अमानीगंज से चला था। १७ मार्च को वह भागलपुर पहुँच चुका था। १६ अप्रैल को तोपें दगने वाली थीं।

लड़ाई पटना जिले में बाढ़ के पास रानीसराय के मैदान में हुई। अलीवर्दी खाँ को इसमें अफगानों का ही नहीं, मराठों का भी सामना करना पड़ा। कारण कि जानोजी और मीर हबीब बंगाल से उसका पीछा करते ही आये थे। पर उसकी ओर से लड़ने क लिए बिहार के कुछ जमींदार भी अपनी-अपनी सेना लेकर पहुँच गये थे। जीत अलीवर्दी खाँ की ही हुई। शमशेर खाँ, मुराद शेर खाँ, सरदार खाँ आदि मारे गये। अफगानों का गर्व खर्व हो गया। मराठों को लापता होते देर न लगी। पटने में अलीवर्दी खाँ को विजयमाल पहनाई गई, अफगानों की पराजय पर आनन्दोत्सव मनाया गया।

अलीवर्दी खाँ को मालूम हुआ कि शमशेर खाँ अपने बाल-बच्चों को बेतिया में छोड़ आया है। वहाँ क राजा ने लिखा कि आज्ञा हो तो इन्हें अपने घर जाने दें। यह आज्ञा तो न मिली, पर शिकार खेलने के बहाने अलीवर्दी खाँ स्वयं बेतिया जा पहुँचा। शमशेर खाँ के अनुरोध की रक्षा करने के लिए राजा को भला-बुरा कह कर उसन आज्ञा दी कि उसके कुटुम्ब को दरभंगे पहुँचा दो। शमशेर खाँ की लड़की का ब्याह भी उसन सब की रजामंदी स एक खानदानी अफगान के साथ करा दिया। उसकी

माँ क लिए उसने राह-खर्च तो दिलाया ही, परवरिश क लिए दरभंगे में कुछ गाँव भी दिला दिय। अलीवर्दी खाँ में और चाहे जो दोष रहे हों, ओछापन न था। शमशर खाँ और सरदार खाँ उसकी अपनी बेटी के साथ जो व्यवहार कर चुके थे, वह याद होते हुए भी, उसने बुराई का जवाब भलाई से ही दिया।

अलीवर्दी खाँ पटने में प्रायः छः महीन रहा। मुर्शिदाबाद लौटने से पहले उसने जैनुद्दीन अहमद के बटे सिराजुद्दौला को नायब नाजिम घोषित किया और राजा जानकीराम को सिराजुद्दौला का पशकार या दीवान। सईद अहमद खाँ और सिराजुद्दौला को साथ ले कर वह नवम्बर १७४८ के अन्त में मुर्शिदाबाद लौटा।

दिसम्बर में हुगली के फौजदार ने कंपनी पर एक अभियोग लगाया। वहाँ के कुछ अर्मनी और मुसलमान व्यापारियों के माल से लदे हुए दो जहाज कहीं से कलकत्ते आ रहे थे कि कंपनी के एक बड़े जहाज ने उन पर कब्जा कर लिया था। अलीवर्दी खाँ को अंगरेजों की इस धींगामुश्ती पर बड़ा क्रोध आया और उसने कंपनी के गवर्नर को लिखा कि, "इन व्यापारियों के कारबार से सलतनत को इतना फायदा है, फिर भी इन्हें इतना भारी नुकसान पहुँचाया गया है कि इन्हें मैं दाद दिलाये बिना नहीं रह सकता। तुम लोगों ने समुद्र में डाकाजनी कर ऐसा घोर अपराध किया है कि अगर उनका माल उन्हें फौरन लौटा न दिया गया और जो सामान मेरे लिए आ रहा था, वह यहाँ पहुँचा न दिया गया, तो मैं तुम्हें ऐसा दंड दूंगा जिसकी तुमने कभी कल्पना भी नहीं की होगी।" कासिमबाजार वालों का अनुमान था कि अर्मनी व्यापारियों के हो-हल्ला मचाने पर नवाब ने ऐसा कड़ा खत लिख तो दिया है पर वह सचमुच कोई वैसी सख्ती करने वाला नहीं है। वह उनकी भूल थी।

नवाब ने प्रान्तमात्र में कंपनी का व्यापार बन्द करा दिया। जहाँ-तहाँ कंपनी के कारखानों या कोठियों पर पहरा बैठ गया और अँगरेजों को खाने-पीने की चीजों के भी लाले पड़ने लगे। कंपनी से हर्जाना वसूल करने का काम दो मुसलमान कर्मचारियों को सौंपा गया। इनके नाम थे हुकम बेग और करौली बेग। इन्होंने अपनी माँग चार लाख से शुरू की। फिर उतरते-उतरते दो लाख पर आये। कासिमबाजार वालों ने कौंसिल को लिखा कि हमारा विश्वास है कि मामला एक लाख पर तै हो जायगा। हाँ, संभव है कि उसके अलावा पच्चीस-तीस हजार इन दोनों को भी देना पड़े। प्रायः एक साल बाद अक्टूबर १७४९ में यह मामला १,२०,०००) पर तै हो गया।

इस बीच कंपनी के प्रतिनिधि कई बार महिमापुर हो आये थे। पर प्रत्येक बार उन्हें महताबराय से यही उत्तर मिला था कि मेरी सहानुभूति कंपनी के साथ अवश्य है, पर मैं नवाब के और उसके बीच के झगड़े में पड़ना नहीं चाहता। कंपनी को चाहिए कि नवाब को खुश कर यह झगड़ा निबटा ले। बात दर असल यह थी कि कंपनी ने इधर अपने व्यवहार से जगत्सेठ को अप्रसन्न कर दिया था और उस अप्रसन्नता के कारण, उसके लिए चक्कर खाना जरूरी हो गया था।

ढाके में कंपनी के एक अँगरेज कर्मचारी के जिम्मे जगत्सेठ की खासी मोटी रकम बाकी चली आई थी। उसक मर जाने पर उस रुपये की दनदारी को लेकर एक वाद-विवाद खड़ा हुआ, जिसमें एक ओर तो महताबराय थ और दूसरी ओर कंपनी के कुछ अधिकारी। कंपनी का अपना व्यवहार भी आपत्तिजनक था। जो चाँदी आती, उसका उपयोग उसे पहल अपन कर्ज के भुगतान में करना चाहिए था, फिर और कामों में। कम स कम महताबराय की कोठी के साथ उसका

समझौता यही था। पर वह उस चाँदी की पूरी खबर उन्हें या उनके गुमाश्तों को मिलन न देती और अक्सर उसे बाजार में बेच कर रुपया तो माल की खरीदारी में लगा देती और जब कभी उनकी ओर से ब्याज का भी तकाजा होता, तब हीला-हवाला करने लगती। एक हद तक महताबराय ने लगाम ढीली रहने दी। पर जब वह दख चुके कि कंपनी बार-बार यही चाल चलती है, तब उन्होंने उसे कसना शुरू कर दिया। यही प्रधान कारण था कि कंपनी की ओर से बहुत अनुनय-विनय होने पर भी उन्होंने इस अवसर पर उसकी कोई विशेष सहायता नहीं की। वह चाँदी से ही प्रसन्न किये जा सकते थे, चिकनी-चुपड़ी बातों या टलते जाने वाले वादों से नहीं।

पर नवाब को देने के लिए अपने पास १,२०,०००) न होने क कारण कंपनी को फिर उन्हीं की शरण जाना और उनस उधार माँगना पड़ा। २० अक्टूबर १७४९ को कासिमबाजार वाल कर्मचारी कौंसिल को लिखते हैं:—

"हमने अपने वकील महिमापुर भेजे और सेठों को कहलाया कि अगर आप इस मौक पर कर्ज न देंगे तो कंपनी के लिए इसका नतीजा बहुत ही बुरा होगा। उन्हें यह भी आश्वासन दिलाया कि चाँदी या रुपया हाथ में आते ही हम इस कर्ज का भुगतान कर देंगे। इसका सेठों पर कुछ प्रभाव पड़ा और उन्होंने रैदास को हमारे पास भेजा। उसने इस बात की बड़ी शिकायत की कि कंपनी के जिम्मे इतनी बड़ी रकम बाकी होते हुए भी और इतनी चाँदी आने पर भी उसने इधर कुछ भी नहीं दिया है। गुमाश्ते ने कहा कि अगर कंपनी यह पक्का वादा नहीं करती कि विलायत से जहाज आते ही वह तीन लाख चुका देगी, तो हमारी कोठी से अब कुछ भी मिलने का नहीं। हमने यह उत्तर दिया कि

बिना कौंसिल की इजाजत के हम जबान तो नहीं दे सकते, पर अगर आपकी कोठी ने इस मौक पर हमारी मदद की, तो हम कलकत्ते यह जरूर लिखेंगे कि जितनी भी चाँदी कौंसिल दे सकती हो, आपको दे दे। पर इससे उसे संतोष न हुआ। अन्त में उसने कहा कि हम तीन शर्तों पर डेढ़ लाख दने को तैयार हैं—(१) आप कलकत्ते पर दो लाख 'सिक्कों' की हुंडी कर दें, (२) आपके पास हमारी सकारी हुई २३,०००) 'सिक्कों' की जो हुंडी है, उस हमें लौटा दें और (३) चार पेटी चाँदी जो आपकी फैक्टरी में पड़ी हुई है, उसे सेठों की कोठी पर भेज दें। हमने तीनों शर्तें मंजूर कर लीं।"

कासिमबाजार वालों न १७ अक्टूबर को कलकत्ते लिखा कि "सेठ मानिकचन्द सेठ आनन्दचंद से कर्ज लेकर हमने आप पर दो लाख 'सिक्कों' की दर्शनी हुंडी कर दी है। आप उसका भुगतान कर देंगे।" २१ अक्टूबर को कौंसिल ने खजांची को उसक भुगतान की आज्ञा दे दी।

जून में ढाका-फैक्टरी कौंसिल को लिख चुकी थी कि, "सेठों का गुमाश्ता वह ५४,०००) माँगन आया था, जो हम 'सेठ महताबराय बाबू खुशालचंद' स ल चुक हैं। हमने यह कह कर उसकी दिलजमई कर दी कि जो जहाज आने वाले हैं, उनक पहुँचते ही और हमारा कारबार फिर चालू होते ही हम उस पुरजे का भुगतान कर देंगे।" खुशालचंद महताबराय के ज्येष्ठ पुत्र थे और जगत्सेठ की कोठी से कहीं-कहीं इनका नाम भी सम्बद्ध हो चला था।

उस कोठी और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच इधर लेन-देन के और भी कई मौके आये, पर सब का उल्लेख करने से कहानी बहुत लम्बी चौड़ी हो जायगी। हाँ, यह कह देना जरूरी जान पड़ता है कि जनवरी

१७५० में कासिमबाजार के कर्मचारियों ने नवाब के एक हुक्मनामे की नकल कलकत्ते भेजी और कौंसिल को लिखा कि, "अपने वकीलों का कहना है कि इसके द्वारा नवाब ने यह आदेश दिया है कि अब आगे सेठों को छोड़कर और कोई न तो आरकटी रुपये ले सकता है और न चाँदी ही खरीद सकता है।" इस निषेध-पत्र का उद्देश था ईस्ट इंडिया कंपनी को बाजार में चाँदी बेचने से रोककर उस क्षेत्र पर जगत्सेठ का आधिपत्य पूरा कर देना।

बाढ़ की लड़ाई के बाद ही जानोजी को अपनी माता की मृत्यु का समाचार मिला था, इसलिए मीर हबीब को सेना के साथ मेदिनीपुर की ओर भेजकर वह स्वयं नागपुर चला गया था। कुछ ही समय बाद रघुजी ने अपने दूसरे पुत्र मानाजी के नेतृत्व में कुछ और सैनिक मीर हबीब की सहायता के लिए भेजे। अलीवर्दी खाँ ने मुर्शिदाबाद लौटकर मराठों से युद्ध की तैयारी शुरू कर दी और कटक की ओर प्रस्थान किया। मीर हबीब भी मेदिनीपुर से उसी ओर चल पड़ा। अलीवर्दी खाँ ने कटक पहुँच कर अपना अधिकार तो जमा लिया,* पर ज्यों ही वह मुर्शिदाबाद लौटा, मीर हबीब वहाँ जा धमका और अलीवर्दी खाँ के प्रतिनिधि को मारकर फिर मराठों की ओर से कर्त्ता-धर्त्ता बन बैठा।

नवाजिश मुहम्मद खाँ, जगत्सेठ और कुछ प्रधान पदाधिकारी इधर अरसे से अलीवर्दी खाँ को सलाह देत आ रहे थे कि मराठों से संधि कर ली जाय। पर उसकी आन क आगे ऐसे सलाहकारों की कुछ

*मराठों की ओर से सैयद नूर, सरंदाज खाँ और धरमदास ने बारहबाटी के किले पर कब्जा कर लिया था। अलीवर्दी खाँ ने कूटनीति का प्रयोग कर इन्हें अपने फंदे में फँसा लिया और सब को मरवा डाला।

नहीं चल सकी थीं। जब समय-सरित् के प्रवाह के साथ अलीवर्दी खाँ की अपनी शक्ति भी क्षीण हो चली और हाजी अहमद, जैनुद्दीन अहमद जैसे अंगों के कट जाने से उसे बुढ़ापे में और भी कमजोरी महसूस होने लगी, तब उसने अपनी पुरानी टेक छोड़ दी और मराठों को चौथ देना स्वीकार कर लिया। इसके फलस्वरूप रघुजी और उसके बीच १७५१ में एक संधि* हुई, जिसके द्वारा उसे तो शान्ति मिल गई और मराठों को उड़ीसा-प्रान्त। दोनों के बीच यह तै हुआ कि:—

(१) अलीवर्दी खाँ भोंसले को तीनों प्रान्तों की चौथ दिया करेगा।

(२) जमानत के तौर पर वह उड़ीसा-प्रान्त भोंसले के हवाले कर देगा और कटक में मीर हबीब को अपना नायब नियुक्त करेगा।

(३) मीर हबीब की नियुक्ति अलीवर्दी खाँ-द्वारा होने पर भी, वह रघुजी भोंसले के प्रतिनिधि-स्वरूप उड़ीसा का शासन करेगा और आय में जो कुछ बचत होगी, उसे सैनिकों के वेतन के बकाये की मद में नागपुर भेज दिया करेगा।

(४) अलीवर्दी खाँ रघुजी को हर साल उस आय के अलावा १२ लाख रुपये[२] चौथ की मद में दिया करेगा।

(५) सुवर्णरखा नदी दोनों क राज्यों के बीच की सीमा समझी जायगी और मराठों की सेना कभी भी उस नदी में न तो पैर धरेगी और न उसे पार करेगी।

---

*"रियाज" में लिखा है कि मीर हबीब के मारे जाने के बाद अलीवर्दी खाँ और रघुजी भोंसले के बीच संधि हुई और इस अवसर पर मराठों के प्रतिनिधि मस्लेहुद्दीन मुहम्मद खाँ (मीर हबीब का भतीजा) और सदरुलहक खाँ थे। इनमें सदरुलहक खाँ कटक में नायब नाजिम नियुक्त हुआ। पर "मुताखरीन" का बयान इससे भिन्न है। ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसी के आधार पर।

इस संधि का एक फल यह हुआ कि मेदिनीपुर जिला अब उड़ीसा से कटकर बंगाल का अंग बन गया।

अलीवर्दी खाँ से संधि हो जाने के बाद जानोजी और मीर हबीब के बीच ऐसा वैमनस्य हो गया कि जानोजी ने अन्त में उसकी जान ले ली। मीर हबीब के बाद उसका भतीजा मिर्जा सालेह, मस्लेहुद्दीन मुहम्मद खाँ के नाम से मराठों का प्रतिनिधित्व करन लगा।

उस संधि का दूसरा और सब से महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि लोगों के घाव धीरे-धीरे भरने लगे। मराठों की ओर से निश्चिन्त हो जाने पर सरकार को कई उपयोगी कामों के लिए अवकाश मिल गया। सेना बहुत बड़ी हो चली थी, इसलिए सैनिकों की संख्या घटा दी गई। उजड़े हुए गाँव फिर से बसाये गये। पड़ती में फिर हल चलने लगे, जहाँ उल्लू बोलने लगे थे, वहाँ फिर किसानों के ढोल या ढफ बजने लगे।

पिछले अध्याय में हम चैनराय को अलीवर्दी खाँ के अर्थ-सचिव के पद पर दख चुके हैं। उसकी मृत्यु हो जाने पर बीरदत्त या वीरूदत्त को यह पद मिला और जब १७५१ में उसकी भी मृत्यु हो गई तब उसका नायब उम्मेदराय स्थानापन्न दीवान हुआ। रायरायाँ आलमचंद का पुत्र राजा कीर्तिचंद पटने में जैनुद्दीन अहमद खाँ का वजीर रह चुका था। यह फारसी का अच्छा विद्वान् और सुलेखक समझा जाता था। अताउल्ला खाँ* के साथ कुछ समय बिताने के बाद यह बनारस में रहने

*सिराजुद्दौला इससे जलता था, इसलिए उसने अपने नाना से कह-सुनकर अताउल्ला को देश-निकाला दिला दिया। अताउल्ला दिल्ली चला गया और कुछ समय बाद वजीर सफदरजंग के आदेश से फर्रुखाबाद जाकर रुहेलों के विरुद्ध एक लड़ाई में भाग लिया। इसी लड़ाई में वह मारा गया।

लगा था। अलीवर्दी खाँ ने उसे मुर्शिदाबाद बुलवाया और उसी को खालसा-विभाग का दीवान नियुक्त किया। गुलाम हुसैन* ने लिखा है कि उसने राजस्व-संबंधी कुछ ऐसे पुराने भेद खोले, जिनसे कई जमींदार तथा दूसरे व्यक्ति सरकार के देनदार साबित हुए। इनमें मुख्य थे जगत्सेठ और बर्दवान के राजा। इन सब ने देनदारी स्वीकार कर ली और सरकार को एक करोड़ से ऊपर रुपये की आय हो गई। इससे कीर्तिचंद को वाहवाही मिली और वह अलीवर्दी खाँ का बड़ा ही विश्वासपात्र हो गया। पूरे दो बरस दीवान रहने क बाद उसकी मृत्यु हुई। मरते समय वह सिफारिश कर गया था कि दीवान का पद उम्मेदराय को ही दिया जाय। अलीवर्दी खाँ ने यही किया और उम्मेदराय को खिलअत क साथ रायरायाँ का खिताब देकर खालसा-दीवान बना दिया।

राजा रामनारायण का नाम ऊपर आ चुका है। यह शाहाबाद जिले के किशनपुर गाँव के निवासी श्रीवास्तव कायस्थ थे। मुहर्रिरी से तरक्की करते-करते जानकीराम के दीवान हुए थे। जब १७५२ में जानकीराम की मृत्यु हो गई, तब अलीवर्दी खाँ ने उसकी जगह रामनारायण को दे दी। जानकीराम का बटा दुर्लभराम सैनिक-विभाग में नायब दीवान रह चुका था। वह उस विभाग का दीवान कर दिया गया।

१७५२ में सिराजुद्दौला के छोटे भाई इकरामुद्दौला की अकाल-मृत्यु हुई। इसे अलीवर्दी खाँ का भतीजा नवाजिश मुहम्मद खां (सहामतजंग) गोद ले चुका था। तीन साल बाद सहामतजंग भी जाता

---

* "मुताखरीन"।

रहा और इसके मरने के प्राय: एक वर्ष बाद इसका भाई सईद अहमद खाँ (सौलतजंग) । इतिहासकारों का कहना है कि विषय-लोलुप होते हुए भी सहामतजंग दयाशील और उदार था।

१७५६ में अलीवर्दी खाँ[3] खुद बीमार पड़ा और ८० वर्ष की अवस्था में उसी साल उसकी मृत्यु हुई ।

मसनद पर बैठन के बाद, अपने शासनकाल के अन्तिम चार-पाँच वर्षों को छोड़कर वह कभी सुख की नींद न सो सका था। उसके लिए ये चार-पाँच साल भी कौटुंबिक विपत्तियों के कारण दु:खदायी ही रहे। पर इसमें संदेह नहीं कि वह पुरुषार्थी था और बुढ़ापे में भी आसमान के तारे तोड़ देने की हिम्मत रखता था। मराठों से अगर वह आठ-नौ साल पहले ही संधि कर लता तो जो त्याग उसे १७५१ में करना पड़ा, वह न करना पड़ता और संभवत: बंगाल का इतिहास भी दूसरी ही तरह लिखा जाता ।

जगत्सेठ के घराने से अलीवर्दी खां का सम्बन्ध पहल-पहल तब हुआ था, जब शुजाउद्दौला के शासनकाल में वह बिहार का नायव नाजिम था। वह सम्बन्ध धीरे-धीरे मित्रता में परिणत हुआ था और वह मित्रता अलीवर्दी खाँ को मुर्शिदाबाद की मसनद दिलाने में सहायक हुई थी। १७४० से १७५६ तक दोनों का सम्बन्ध राजा-मंत्री का-सा रहा। इस बीच में मराठों के उपद्रव होते ही रहे। फिर अफगानों के विद्रोही हो जाने के कारण पेचीदगी और भी बढ़ गई। अलीवर्दी खां को इस कठिन काल में, अपनी आर्थिक कठिनाई हल करने के लिए, कई बार फतहचन्द और, उनके मर जान के बाद,महताबराय पर दबाव भी डालना पड़ा। लूट-पाट या व्यापारिक सन्निपात से जगत्सेठ की जो हानि हुई, वह अलग थी। इन कारणों से उन्हें कभी-कभी क्षुब्ध भी

होना पड़ा और इस बात की शिकायत करनी पड़ी कि प्रान्त की तो बात ही क्या, राजधानी में भी कोई सरकार नहीं रह गई है। पर बल खाने पर भी अलीवर्दी खाँ और जगत्सेठ का पारस्परिक सम्बन्ध कभी टूटा नहीं, बल्कि घनिष्ठ ही बना रहा।

अलीवर्दी खाँ के मरने के बाद राजसत्ता, ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में जाने वाली थी—राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में बड़े उलट-फेर होने वाले थे—और भँवर में पड़कर महताबराय के घराने की भी नाव डूबने वाली थी। पर १७५६ में पहली या दूसरी नहीं तो तीसरी दुर्घटना कुछ दूरस्थ थी और उस नाव के मस्तूल की ऊँचाई अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। एक आधुनिक इतिहासकार* ने लिखा है कि, "जहां फतहचन्द का विभव लोगों को आश्चर्यचकित कर देता, वहाँ महताबराय और स्वरूपचंद का विभव उनकी आँखों में चकाचौंध लगा देता।" उनके धन की इयत्ता बताना तो संभव नहीं, पर उस पर थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य डाला जा सकता है:—

उस समय यह किंवदन्ती थी कि अगर जगत्सेठ चाहते तो रुपयों से ही भागीरथी के उद्गम को बाँध सकते थे। ऐसी ही और भी जन-श्रुतियां रही होंगी। अत्युक्ति के उदाहरण होते हुए भी, इनसे यह सूचित होता है कि जगत्सेठ-परिवार की धन-सम्पत्ति के संबंध में सर्वसाधारण का क्या अनुमान था। पर जो जानकार कहे जा सकते थे, उनका भी अंदाज यही था कि जगत्सेठ अपने समय के अद्वितीय धनी थे। उनकी आमदनी के जरिये क्या थे, यह ऊपर बताया ही जा चुका है। फिर भी पाठकों को कुछ बातों की याद दिला देना और कुछ नई बातों की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

---

* मि० लिट्ल।

(१) जो कुछ भी सरकारी आय होती, वह जगत्सेठ की ही कोठी में जमा कराई जाती। इस आय का अधिकांश माल के रूप में आता।

जिस समय ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिली थी, उस समय (१७६५) क्लाइव ने अंदाज किया था कि तीनों प्रान्तों से खर्च काटकर प्रायः २ करोड़ ६८ लाख 'सिक्कों' की आय हुआ करेगी। इसके अन्तर्गत बंगाल और बिहार की ही आय* थी--उड़ीसा* की नहीं, कारण कि वहां अभी तक मराठों का आधिपत्य बना हुआ था। क्लाइव ने कंपनी के संचालकों को लिखा था कि दीवानी मिलने का अर्थ है प्रायः ढाई करोड़ 'सिक्कों' की आय, यद्यपि उसमें कम से कम बीस-तीस लाख की बढ़ती तो निश्चित-सी है। इस प्रकार तीनों प्रान्तों को मिलाकर सरकारी आय प्रायः तीन करोड़ तक जा पहुंचती थी और तीन करोड़ 'सिक्कों' के प्रायः साढ़े तीन करोड़ रुपये होते थे।

फिर माल या मालगुजारी के अलावा तरह-तरह के अबवाब भी थे--और मुर्शिदकुली खाँ के समय से इस प्रकार की आय में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती आ रही थी। अलीवर्दी खाँ के ही समय में तीन तरह के नये अबवाब लगाये गये, जिनका जोड़ २२,२५,५५४) बैठता था। इनमें मुख्य थी "मराठा चौथ" जिससे १५,३१,८१७) की आय थी।

महिमापुर जाकर जिन्हें माल दाखिल करना पड़ता, वे पहले तो बंगाल के ही जमींदार या अहलकार होते, फिर जब बिहार और उड़ीसा का भी शासन मुर्शिदाबाद से ही होने लगा, तब उन प्रान्तों में होनेवाली

---

* औरंगजेब के मरने से पहले उड़ीसा से होने वाली आय ३६ लाख रुपये थी।

बचत का रुपया भी सरकार के पास जगत्सेठ की कोठी के रास्ते ही पहुँचने लगा।

माल दाखिल हो जाने पर, सिक्कों की जाँच होती और वे तरतीबवार रखे जाते। खोटे सिक्कों को अलग कर देनेपर जो बाकी बचते, उन पर बट्टा काट कर उनकी असली कीमत ठहराई जाती और हर जमींदार या दूसरे देनदार के खाते में उतना रुपया जमा कर लिया जाता। नियत समय पर जगत्सेठ को रुपये का हिसाब और सरकार के इच्छानुसार भुगतान देना पड़ता।

जगत्सेठ को सरकारी फोतेदारी से क्या लाभ था, इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। पर अनुमान किया गया है, कि यह लाभ चालीस लाख रुपये प्रतिवर्ष से कम न रहा होगा। कंपनी के कर्मचारी स्क्राफ्टन ने तो स्पष्ट शब्दों में उनकी इतनी आय बताई है। वाट्स नामक एक दूसरा कर्मचारी भी एक जगह कुछ ऐसी बात लिख गया है, जिससे इस अनुमान की कुछ पुष्टि होती है कि सरकार को जगत्सेठ जो कुछ भुगतान देते, उस पर उन्हें दस प्रतिशत कमीशन मिलने का नियम था।*

(२) जमींदारों को अक्सर जगत्सेठ की कोठी से उधार लेकर हिसाब चुकता करना पड़ता था। विलियम वोल्ट्स नामक एक अँगरेज व्यापारी, जो कंपनी का कर्मचारी भी रह चुका था, १७७२ में बंगाल और बिहार की आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करते हुए लिखता है—

---

* रंजीतराय के एक पत्र के आधार पर।

"जब माल की किस्त चुकाने का समय आता है और जमींदार के पास रुपया नहीं होता, तब उसे बकाये पर अहलकारों को फी रुपया दो पैसे माहवार ब्याज देना पड़ता है। जगत्सेठों का यह कायदा था कि वे रुपये की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेते और नवाब या सरकार को रसीद के तौर पर 'पात' लिख कर दे देते थे। बिहार में ईस्ट इंडिया कंपनी का दीवान भी वैसी स्थिति में यही करता है और कंपनी के खजाने में 'पात' दाखिल कर देता है। ऐसी रकम पर उसे जमींदार से दस रुपया सैकड़ा ब्याज मिलता है, जिसे 'पटान' कहते हैं। जब कभी कंपनी को रुपये की जरूरत पड़ती है और 'पात' की रकम दीवान से तलब की जाती है, तब वह बात की बात में सराफों से उधार लेकर हिसाब बेबाक कर देता है। बिहार में जमींदार को ब्याज या बट्टे के अलावा ५) सैकड़ा 'रसूम' या 'दस्तूरी' के तौर पर देना पड़ता है जिसके हकदार माल-विभाग के छोटे कर्मचारी होते हैं।"

(३) हीरानन्द के समय से ही जगत्सेठ-घराने का खास धंधा महाजनी या रुपये का लेन-देन चला आया था और फैलते-फैलते इस व्यवसाय-वृक्ष ने उत्तर भारतवर्ष क बहुत बड़े भाग को आच्छादित कर लिया था। शायद ही कोई व्यापार-केन्द्र था, जहाँ इसकी शाखा-प्रशाखा न थी, जहाँ से उनके पास हर तरह के समाचार नियमित रूप से न पहुँचते रहते थे। उनकी कोठी ही उस समय बड़ी से बड़ी बैंक थी और उसी का यह काम था कि मुर्शिदाबाद में एक करोड़ लेकर उसका दिल्ली में भुगतान दे सकती थी। हुंडावन तथा बट्टे से जगत्सेठ-वंश इतना लाभ उठाता रहा कि "उस पैमाने पर यूरोप में कभी किसी ने लाभ उठाया ही न था।"*

---

* बोल्ट्स।

(४) जगत्सेठ का प्रायः सभी विदेशी कंपनियों से सम्बन्ध था और उनके यहाँ इनके खाते खुल चुके थे। आपत्काल में भी इन्हें कर्ज मिल सकता था तो जगत्सेठ की ही कोठी से। अलीवर्दी खाँ के जमाने में जब कभी ईस्ट इंडिया कंपनी को किसी टेढ़ी आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ता, तब वह उन्हीं का दरवाजा खटखटाती और उनकी सहायता से उसकी प्रायः प्रत्येक समस्या हल भी हो जाती। इस पुस्तक में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। सितम्बर १७४९ में कंपनी की ढाका-फैक्टरी के ही जिम्मे सेठों का ५,८४,०००) निकला था। १७५१ में कासिमबाजार-फैक्टरी ५,१२,८२०) की देनदार ठहरी थी। महताब-राय और स्वरूपचंद से अँगरेज ही नहीं, फ्रेंच और डच भी समय-समय पर कर्ज लेते रहते थे। इस बात का उल्लेख मिलता है कि १७५७ में फरासीसी प्रायः पन्द्रह लाख के देनदार थे। इसी प्रकार यह उल्लेख भी मिलता है कि डच कंपनी उनकी कोठी से ।।।) फी सदी माहवार ब्याज पर ४,००,०००) कर्ज ले चुकी थी। अगर पुराने बही-खाते या दूसरे कागजात मौजूद होते, तो इस तरह के लेन-देन के और भी अनेकों उदाहरण दिये जा सकते।

(५) मुद्रा-सम्बन्धी परिस्थिति मुद्राओं की विभिन्नता के कारण अत्यन्त असंतोषजनक थी—यह हम ऊपर बता चुके हैं। अनेकता में एकता ले आने के लिए विभिन्न मुद्राओं को काल्पनिक रुपये में परिणत करना पड़ता था और यह काम बट्टा काटकर पूरा किया जाता था। बंगाल में बट्टे की दर प्रायः इन बातों पर निर्भर होती थी कि 'सिक्के' कितने पुराने थे—उनके बदले जो मुद्रा माँगी जाती, उसकी आमदनी कैसी थी—मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने का खर्च क्या बैठता था, इत्यादि। अदल-बदल का यह काम जिस पैमाने पर जगत्सेठ

कर सकते थे, उस पर दूसरे सराफ या कोठीवाल नहीं। इसलिए इस व्यवसाय से उनकी ही सब से अधिक आय थी। लोगों को मुद्रा-विनिमय के लिए बट्टे के नाम से जो दाम चुकाना पड़ता, उसकी घटा-बढ़ी के कारणों को समझ लेना कोई आसान काम न था। अँगरेज तो प्रायः ही उसे गोरखधंधा कहते और जगत्सेठ को ही उसके लिए जिम्मेवार ठहराते। अगर विलियम वोल्ट्स को उन समालोचकों या आक्षेपकों का प्रतिनिधि मान लिया जाय, तो उनकी शिकायत यह थी:—

"नवाब को और अर्थ-विभाग के अधिकारियों को चकमा देकर जगत्सेठ ने एक ऐसा रिवाज चला दिया जो आज भी (१७७२) कायम है और जो मुद्रा-प्रसार की दृष्टि से इस देश के लिए बहुत ही हानिकर सिद्ध हो चुका है। यह रिवाज 'सिक्कों' पर कटने वाले बट्टे का था। 'सिक्के' टकसाल में ढलते हैं। उनमें चाँदी कितनी होनी चाहिए, इसके लिए पहले से ही नियम बना हुआ है। पर जो 'रुपया राइज' या 'प्रचलित रुपया' कहा जाता है, वह काल्पनिक मुद्रा-मात्र है, जैसे इंगलैंड का पौंड स्टर्लिंग। 'सिक्कों' की तुलना में प्रचलित 'रुपये' का मूल्य १६ प्रतिशत कम है। मुगल सल्तनत के बरबाद हो जाने के बाद से इस देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के रुपये या सिक्के चल पड़े हैं। इन सब की पारस्परिक विषमता को दूर कर इनमें समानता ले आने और हिसाब मिलाने के लिए, इनके 'रुपये राइज' या 'प्रचलित रुपये' बना लेना आवश्यक हो जाता है।

"जब बट्टा कटने लगा, तब यह नियम बना कि टकसाल में ढलने के बारह महीने बाद तक काल्पनिक रुपयों के मुकाबले में 'सिक्कों' की कीमत १६ प्रतिशत ऊँची रहे, पर साल तमाम होते ही उस कीमत में ३ प्रतिशत की कमी मान ली जाय। ऐसे 'सिक्के' 'हरसन्' कहलाते

और प्रचलित रुपयों की अपेक्षा कीमत में १३ प्रतिशत ऊँचे माने जात हैं। पर ढलाई से तीसरा साल शुरू होते ही, 'हरसन्' का नाम बदल कर 'सनवात' हो जाता है और 'सनवात' की कीमत और २ प्रतिशत के हिसाब से गिर जाती है। गरज यह कि जहाँ एक साल तक रुपये की तुलना में 'सिक्के' का मूल्य १६ प्रतिशत ऊँचा रहता है, वहाँ दूसरा साल शुरू होते ही बट्टा लगने पर वह फर्क १६ की जगह १३ हो जाता है और दूसरा साल बीतते ही १३ की जगह ११। नियमानुसार इससे अधिक बट्टा तो नहीं लगना चाहिए, पर अगर सराफ चाहें तो एक प्रकार की मुद्रा की वहुतायत और दूसरे प्रकार की मुद्रा की कमी वताकर, लगा सकते हैं।

"इस देश में रुपयों की ऐसी विभिन्नता है कि अगर मुर्शिदाबाद का कोई व्यापारी पास के किसी दूसरे प्रान्त में नकद दाम चुकाकर माल खरीदना चाहता है, तो उसक लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सराफों से ऐसी मुद्रा खरीदे, जिसका या तो उस प्रान्त में चलन हो या जिस पर कम से कम बट्टा कटने की संभावना हो। याद रखना चाहिए कि पटने की टकसाल में ढले हुए 'सिक्के' जब बंगाल में आते हैं या मुर्शिदाबाद-कलकत्ते की टकसालों में ढले हुए 'सिक्के' जब बिहार भेजे जाते हैं, तब उन पर भी बट्टा कटे बिना नहीं रहता। रुपयों के अदल-बदल के धंधे में बड़ी उलझनें, बड़ी पेचीदगियाँ हैं। सच कहा जाय तो बट्टा एक तरह की जेब-कतरनी है। इसी का उपयोग कर मुर्शिदाबाद का यह सेठ-परिवार मालामाल हो गया था। देश के वर्तमान शासकों से भी अभी तक इसका उपयोग बंद नहीं हो सका है।"

बट्टे का रिवाज चलानेवाले जगत्सेठ थे, यह तो इस लेखक की

खामखयाली ही थी। सिक्कों के छीजने पर उनका मूल्य कम हो जाना अर्थात् उन पर बट्टा लगना कोई नई बात नहीं थी। 'आईने अकबरी' में भी इसका जिक्र है। मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आजाद' अपने "दरबारे अकबरी" में लिखते हैं कि, "महाजन उन दिनों भी पुराने राजाओं के सिक्कों पर मनमाना बट्टा लगाया करते थे और गरीबों का लोहू चूसा करते थे।" इसलिए अकबर को आज्ञा देनी पड़ी थी कि, "सब पुराने सिक्के एकत्र करके गला डालो। हमारे राज्य में केवल हमारा ही सिक्का चले और नया-पुराना सब बराबर समझा जाय।" अकबर का ही आदेश था कि वजन और सोना-चांदी के खरापन के अनुसार ही उनका मूल्य निर्द्धारित हो, जिससे लेने या देने वाले को कुछ भी कसर न खानी पड़े। अकबर के वाद इस देश में सिक्कों की विभिन्नता और बढ़ गई और एक ही टकसाल में विभिन्न अवसरों पर ढले हुए रुपये या अन्य सिक्के विभिन्न प्रकार के होने लगे। फिर और कारणों से भी बट्टा घटने-बढ़ने लगा। कासिमबाजार से ईस्ट इंडिया कंपनी के ही एक अँगरेज कर्मचारी ने १६६१ में लिखा* था कि, "सिक्कों पर कटने वाले बट्टे के हिसाब से चांदी के दाम में घटा-बढ़ी होती रहती है"। उस समय जगत्सेठ की कौन कहे, मानिकचन्द की भी महत्ता भविष्य के ही गर्भ में थी। पर यह सच है कि मुद्रा-संबंधी विभिन्नता जब तक बनी रही, तब तक वह इस देश की एकता और उन्नति के मार्ग में प्रबल बाधक रही और साथ ही यह भी सच है कि उस विभिन्नता के कारण पैदा होने वाली बट्टे की परिपाटी से अठारहवीं शताब्दी में जगत्सेठ-वंश ने बहुत-सा धन कमाया।

(६) जब से मानिकचन्द टकसाल के इंतजामकार या ठेकेदार हुए

* विल्सन, भाग १, पृष्ठ ३७६।

थे, तब से बंगाल में चांदी का सब से बड़ा खरीदार उन्हीं का घराना हो चला था। कुछ समय बाद जगत्सेठ टकसाल के इजारेदार-से* हो गये और चाँदी के बाजार पर उनका एकाधिपत्य हो गया। ऐसी स्थिति में बट्टा काटकर मुद्रा-विनिमय करने का व्यवसाय उनकी कोठी के लिए विशेष लाभदायक बन गया। नियमानुसार जगत्सेठ जमींदारों से नये 'सिक्कों' में ही माल लेने को वाध्य थे। अगर 'सिक्कों' की उम्र एक सालकी भी होती, तो उनपर बट्टा कटना अनिवार्य हो जाता। दो साल पुराने होते ही 'सिक्कों' की कीमत ५ प्रतिशत कम हो जाती। पर उन्हीं पुराने 'सिक्कों' को जब टकसाल में फिर नया कलेवर मिल जाता तब उनका मूल्य पूर्ववत् ही ऊँचा हो जाता। जगत्सेठ का इसमें सारा खर्च १) सैकड़ा बैठता—॥) सरकारी ढलावन और ॥) ढलाई का खर्च, यद्यपि एक अँगरेज ने १७६० में अनुमान किया था कि अगर काफी बड़ी तादाद में 'सिक्कों' की ढलाई हो तो खर्च ॥) सैकड़ा से भी वहुत कम पड़े।

हम अन्यत्र देख चुके हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी इस बात के लिए बराबर प्रयत्नशील रहती आई थी कि वह अपनी चाँदी मुर्शिदाबाद की टकसाल में भेजकर उसके 'सिक्के' करा सके और जगत्सेठ की ओर से इस प्रस्ताव का बराबर विरोध होता आया था। उस विरोध † के कारण १७५७ से पहले कंपनी को वैसी इजाजत

---

* कंपनी के कागजात में कहीं तो जगत्सेठ स्वयं. इजारेदार बताये गये और कहीं दूसरे। असलियत यह जान पड़ती है कि इजारेदार दूसरे ही थे, पर जगत्सेठ की कोठी को टकसाल में कुछ विशेष अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त थीं।

† १७५३ में कासिमबाजार वालों ने कौंसिल के आदेशानुसार चुपचाप चेष्टा की कि कंपनी को कलकत्ते में टकसाल खोलने का अधिकार मिल

न मिल सकी। अगर मिल जाती तो जगत्सेठ का चाँदी या सराफे के बाजार पर एकाधिपत्य न रह सकता और बट्टे के जरिये उन्हें जो आमदनी होती आई थी, वह न हो सकती। कंपनी को यह अनुभव जरूर होने वाला था कि युद्ध के क्षेत्र में नवाब नाजिम को हरा देना एक बात थी, आर्थिक क्षेत्र में जगत्सेठ पर विजय प्राप्त कर लना और बात। कलकत्ते में टकसाल खुल जाने पर भी कई साल तक वहाँ के ढले हुए 'सिक्के' स्वच्छंदतापूर्वक न चल सके। १७६० में नाजिम नियुक्त होने पर मीर कासिम को यह हुक्म जारी करना पड़ा कि कलकत्ते के 'सिक्कों' पर बट्टा माँगना या काटना जुर्म समझा जायगा।

अलीवर्दी खाँ के मरने पर महताबराय को उसके नाती सिराजुद्दौला से वास्ता पड़ने वाला था और पारस्परिक संघर्षण के कारण कुछ ही दिन बाद चन्दन से भी आग प्रकट होने वाली थी।

(२)

सिराजुद्दौला का जन्म अलीवर्दी खाँ के बिहार की नायब

जाय। पर उन्होंने लिखा कि "जगत्सेठ के विरोध के कारण यहाँ सफलता की कोई आशा नहीं दीखती। दिल्ली में सिफारिश कराई जाय तो कम से कम एक लाख रुपया तो वहाँ खर्च पड़ेगा और एक लाख यहाँ। पर जगत्सेठ या उनके किसी भी कर्मचारी को इसकी भनक भी नहीं मिलनी चाहिए"। स्वयं कासिमबाजार वालों को यह आशा न थी कि दो लाख या उससे अधिक खर्च करने पर भी कंपनी को टकसाल-संबंधी विशेष अधिकार कभी भी प्राप्त हो सकेगा।

निजामत पाने से कुछ ही दिन पहले हुआ था। यह बात १७३३* की है। अलीवर्दी खाँ मरने से पहले ही उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर चुका था और संभवतः १७५३ में मसनद पर बैठा भी चुका था। उस समय सिराजुद्दौला उन्नीस-बीस साल का रहा होगा। अलीवर्दी खाँ ९ अप्रैल १७५६ को मरा। २३ जून १७५७ को पलासी के मैदान में सिराजुद्दौला की हार हुई और नौ ही दिन बाद मीरन† के हुक्म से वह मारा गया। इस प्रकार स्वतंत्र रूप से नाजिम होने के पन्द्रह महीनों के भीतर ही उसके शेष जीवन की सारी कहानी समाप्त हो गई।

अकबर भी कम उम्र में ही राजसिंहासन पर बैठा था—बल्कि तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में ही। पर वह तो "मां के पेट से ही ऐसी-ऐसी योग्यताओं और गुणों का समूह बनकर बाहर निकला था, जो हजारों में से एक बादशाह को भी नसीब न हुए होंगे‡"। उसका लालन-पालन भी और ही तरह के वातावरण में हुआ था। उसे दूध पिलानेवाली मिली थी तो माहम अतगा-जैसी, अभिभावक मिला था तो बैरम खाँ-जैसा। पाँच साल की उम्र में ही उसे गोलों की वर्षा का अनुभव हो चुका था। अलीवर्दी खाँ के लाड़-दुलार ने सिराजुद्दौला को कभी घड़ी भर के लिए भी नियंत्रण की कठोरता का अनुभव होने न दिया। निरंकुशता ने उसे उद्धत और अभिमानी बना दिया और कमसिनी में ही उसका दिमाग आसमान

---

* श्री कालीकिंकर दत्त के मतानुसार। सिराजुद्दौला के जन्मवर्ष के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है।

† मीर जाफर का बेटा।

‡ "दरबारे अकबरी" (हिन्दी अनुवाद)

पर चढ़ गया। जिसे मखमली गद्दों से कभी अलग न होना पड़ा, वह मिजाज में तेजी होते हुए भी, युद्ध-कला-कौशल से कोरा रह गया। फिर अकबर में यह विशेषता थी कि शिक्षा-रूपी संस्कार से वंचित होते हुए भी वह व्यापक अर्थ में अशिक्षित नहीं कहा जा सकता था। भले-बुरे की उसे अच्छी पहचान थी, मनुष्य-रूपी रत्नों का वह अच्छा पारखी था। सिराजुद्दौला का मानसिक धरातल न तो उतना ऊँचा था, न उसके ज्ञान और अनुभव का क्षेत्र उतना विस्तृत। नाजिम होने पर उसने राजमुकुट के लिए कुछ नगीने खरीदे भी तो वे प्रायः नकली पत्थर निकले। जो लाल-जवाहर अपने खजाने में थे, उन्हें उसने अपनी बेवकूफी और हेकड़ी से ठुकरा दिये।

शासन की बागडोर पूरी तरह हाथ में आते ही, सिराजुद्दौला ने हर तरफ टक्कर लड़ाना शुरू कर दिया। दुर्भाग्यवश उसने न तो अपने चरित्र में ही कोई सुधार किया, न अपने घर को ही सँभाला। अपनी करतूतों से उसने मुर्शिदाबाद में ईस्ट इंडिया कंपनी का दूसरा 'फोर्ट विलियम' खड़ा कर दिया। नतीजा यह हुआ कि बात बढ़ने पर जब उसने कंपनी से तीसरी टक्कर ली, तब उसका माथा चकनाचूर हो गया। अँगरेजों की धींगाधींगी इस हद तक बढ़ चुकी थी कि नाजिम की हैसियत से उन्हें दंड देना उसका धर्म था। पर साथ ही उसका यह भी धर्म था कि दंड देने के लिए जो कुछ करता, अपनी संघ-शक्ति बढ़ाकर, आवश्यक साधनों को जुटाकर, अपनी तलवार की धार तज कर। वास्तव में उसने किया यह कि अपनी दुर्नीति से अपने पुरान संगठन को भी तीन-तेरह कर दिया; जो सहायक हो सकते थे, उन्हें गरदनियां दे दी—और जो बख्तर पहनकर लड़ाई पर जाने वाला था, उसमें सैकड़ों नये छद पैदा कर लिये। पंद्रह दिनों या हफ्तों में

नहीं, तो पंद्रह महीनों में ऐसे निरंकुश और विवेक-भ्रष्ट शासक का विनिपात अवश्यंभावी था।

नवाजिश मुहम्मद खाँ के मरते ही उसकी स्त्री घसीटी बेगम से उसकी चखाचखी शुरू हो गई थी। वह बदचलन समझी जाती थी और उसके पास धन भी बहुत था। अलीवर्दी खाँ के जीवित रहते उसका बाल बाँका होना तो असंभव था, पर सिराजुद्दौला ने उसके दीवान राजा राजवल्लभ को गिरफ्तार करा लिया और उससे हिसाब-किताब तलब किया। राजवल्लभ ने जो कुछ देकर छुटकारा कराना चाहा, वह सिराजुद्दौला को मंजूर न हुआ और उसके घर पर सिपाही बैठा दिये गये। राजवल्लभ ने कासिमबाजार की फैक्टरी के प्रधान मि० वाट्स को कहलाया कि "मेरा पुत्र कृष्णदास* सस्त्रीक जगन्नाथपुरी जाना चाहता है। दोनों कलकत्ता होकर जायँगे। पर कृष्णदास की स्त्री गर्भवती है, इसलिए अभी दो महीने वे वहीं रहना चाहते हैं। आप कौंसिल को लिखकर जरूरी इजाजत मँगा दें।" इजाजत आ गई और कृष्णदास रवाना हो गया। वह अपनी स्त्री और बाल-बच्चों के अलावा बहुत-कुछ धन भी साथ लेता गया। वास्तव में वह शरणार्थी होकर ही कलकत्ते गया था। सिराजुद्दौला को इसकी खबर मिली तो वह आग-बबूला हो गया। अलीवर्दी खाँ उस समय बीमार था; उसने सिराजुद्दौला को समझाया-बुझाया और कहा कि चंगा होते ही मैं कृष्णदास को गिरफ्तार करा लूंगा, तब तक तुम धीरज धरो। इसी बीच उसकी मृत्यु हो गई। सिराजुद्दौला ने अपने दूत नारायण सिंह† की मार्फत कंपनी के

---

* "मुताखरीन" में इसका नाम कृष्णवल्लभ मिलता है।

† यह मेदिनीपुर के फौजदार राजाराम का भाई और हरकारा (जासूस) विभाग का प्रधान अधिकारी था।

गवर्नर के नाम एक परवाना भेजा कि कृष्णदास को सपरिवार गिरफ्तार कर और उसकी धन-सम्पत्ति जब्त कर फौरन मुर्शिदाबाद भेज दो। पर कलकत्ते में गवर्नर या कौंसिल ने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और नारायणसिंह के साथ बुरी तरह पेश भी आये।

इधर बीबी घसीटी मोतीझील में रहने और पैसा पानी की तरह बहाकर सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यंत्र करने-कराने लगी थी। तनातनी बढ़ने पर अलीवर्दी खाँ की बेगम और सिराजुद्दौला की ओर से महताब-राय ने पास जाकर उसे आश्वासन दिया। उसका विशेष कृपापात्र और विश्वासपात्र मीर नजरअली नामक एक अधिकारी था। उसको मुर्शिदाबाद छोड़ देना पड़ा। लोगों को लगा कि मनमुटाव का कारण दूर हो गया। पर सिराजुद्दौला ने उसके बाद ही बहुत से सिपाही भेज कर अपनी चाची को नजरबन्द और उसकी सारी धन-सम्पत्ति खालसा करा ली।

कलकत्ते से लौटकर नारायण सिंह ने आप-बीती तो सुनाई ही, इस खबर की भी तसदीक की कि वहाँ तो अँगरेज, और चन्दननगर में फरासीसी, जोरों से किलेबन्दी करते जा रहे थे। 'फोर्ट विलियम' में किले की मरम्मत के बहाने कुछ नये हिस्से जोड़ दिये गये थे। दो-एक बड़े मकान भी बनवा लिये गये थे, जहां से जरूरत पड़ने पर गोले बरसाये जा सकते थे। शहर के इर्द-गिर्द जो खाई थी, वह और गहरी कर दी गई थी। सिराजुद्दौला का हुक्मनामा कलकत्ते पहुँच चुका था कि कोई नई इमारत न बनने पावे; जो मकान इधर बन चुके हैं, वे तोड़-फोड़ दिये जायँ और खाई को भर दिया जाय। कंपनी ने यह सब तो किया नहीं, उलटे सिराजुद्दौला को ऐसा उत्तर भेजा जिससे उसकी क्रोधाग्नि और भी प्रज्वलित हो उठी।

जिस समय सिराजुद्दौला को कंपनी का असंतोषजनक उत्तर मिला, उस समय वह राजमहल में था। चला था पूनिया के फौजदार और अपन चचरे भाई शौकतजंग को सर करने, पर यह देखकर कि अँगरेजों ने कलकत्ते में उसकी आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया था, वह उन्हें दंड देने के विचार से लौट पड़ा और कासिमबाजार पहुँचकर उनकी कोठी पर कब्जा कर लिया। इसके बाद ही उसने कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया। उसकी माँ अमीना बेगम ने और अपने भाई के साथ जगत्सेठ ने बड़ी कोशिश की कि तकरार न बढ़े, सिराजुद्दौला का क्रोध शान्त हो जाय और वह कलकत्ते पर चढ़ाई करने का विचार त्याग दे। पर वे सफल न हो सक। सिराजुद्दौला का कहना था कि "अँगरेज न जाने कितनी बार मेरा अपमान कर चुके हैं। जब कभी कोई अपराधी कलकते भाग जाता है, तब उसे वहाँ शरण मिल जाती है और अँगरेज उसे सरकार के हवाले नहीं करते। एक बार इसी कासिमबाजार फैक्टरी में मैं अपनी अम्मा के साथ आया था। इसके प्रधान को कहलाया कि हम लोग तुम्हारी फैक्टरी देखना चाहते हैं। उसने जवाब दिया कि हम भीतर आने की इजाजत नहीं दे सकते। उसका यह अपमानजनक उत्तर मुझे आज तक नहीं भूला है।" जगत्सेठ ने बहुत कहा कि अँगरेज लड़ाई-झगड़े से दूर रहने वाले व्यापारी हैं, अगर उनसे कोई अपराध हो भी गया हो, तो उन्हें क्षमा कर देना चाहिए। सिराजुद्दौला पर उनकी बातों का कोई असर न हुआ। बल्कि उसने जगत्सेठ से शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करा ली कि मैं आगे कभी अँगरेजों की सिफारिश न करूँगा।

कंपनी के कुछ अंगरेज अधिकारी भी आरंभ से ही कृष्णदास को

कलकत्ते में शरण देने के विरोधी* थे। उनके मतानुसार वैसे भगोड़े को पनाह देना और फिर उसे मुर्शिदाबाद भेजने से इन्कार कर देना राजसत्ता का अपमान करना और सरकार को लड़ाई के लिए ललकारना था। कौंसिल ने सिराजुद्दौला को आपत्तिजनक पत्र लिखकर बात और भी बिगाड़ दी थी। पर ऐसे अंगरेज अल्पसंख्यक थे। जो बहुमत कहा जा सकता था वह झगड़ा-रगड़ा ही चाहता था। इसका कारण यही जान पड़ता है कि मुर्शिदाबाद की परिस्थिति से उसे प्रोत्साहन मिल चुका था और बंगाल के पानी में दाल गलने की पूरी आशा हो चली थी।

सिराजुद्दौला सिर्फ तीन बातें चाहता था :—

(१) जो अपराधी या अभियुक्त भागकर कंपनी के पास पहुँचें उन्हें वह शरण न दे।

(२) कंपनी के अधिकारी दस्तक बेच बेचकर सरकार को आर्थिक हानि न पहुँचावें।

(३) किलेबन्दी के सिलसिले में जो कुछ बन चुका था वह ढहवा दिया जाय।

कासिमबाजार का प्रधान विलियम वाट्स और उसके सहकारी गिरफ्तार हो चुके थे। उन लोगों ने एक मुचलका लिखकर दिया भी तो उससे नवाब को संतोष न हुआ। ९ जून १७५६ को सिराजुद्दौला कासिमबाजार से चला, १६ को कलकत्ते पहुँचा और पहुँचते ही

* इन्हीं विरोधियों में ढाके की कौंसिल के प्रधान रिचर्ड बेचर और अन्य सदस्य थे। बेचर अपने एक पत्र में लिखता है कि मानिकचन्द और जगत्सेठ ने भी मेजर किलपैट्रिक को लिखा था कि अँगरेज पर नवाब के क्रोध का कारण यही हुआ कि जो अपराधी भागकर कलकत्ते पहुँच जाते, उन्हें वहां शरण मिल जाती थी। हिल, भाग २, पृष्ठ १६०।

शहर पर कब्जा कर लिया। फिर 'फोर्ट विलियम' पर घेरा डाला। उस समय यह किला लालदीघी के पास हुगली-नदी के किनारे था। आत्मरक्षा का कोई उपाय न देखकर अधिकांश अंगरेज अधिकारी और व्यापारी नदी के रास्ते जहां-तहां भाग गये। इन भागने वालों में विलियम ड्रेक नामक गवर्नर तथा कमांडर-इन-चीफ साहब भी थे। जो अंगरेज किले में बच गये उन्हें कुछ समय तक लड़ने के बाद २० जून को आत्म-समर्पण कर देना पड़ा। इन्हीं का मुखिया हालवेल था जिसने ड्रेक और उसके साथियों पर बाद यह अभियोग लगाया कि वे औरों को मुसीबत में छोड़कर भाग गये थे और अपने को कायर ही नहीं, गैर-जिम्मेदार भी साबित कर चुके थे। उसी मुसीबत को बढ़ा-चढ़ाकर बताने के लिए, हालवेल ने वह कहानी गढ़ी जो "कालकोठरी-कांड" के नाम से ब्रिटिश शासन-काल में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है।

जहाजों और नावों पर सवार हो भाग जाने वाले कुछ समय तक तो मारे मारे फिरे। फिर उनके बेड़े ने फलता के पास पहुंचकर लंगर डाला। कुछ महीनों के लिए यही स्थान सभी अंगरेज शरणार्थियों का शिविर बन गया। पर वहां उन्हें नाना प्रकार के कष्ट भेलने पड़े। तंबू-डेरे तो थे ही नहीं, खाने-पीने का सामान मिलना भी मुश्किल था। खास कर बरसात में बौछाड़ों से बचने का कोई उपाय न होने के कारण, मर्द-औरतें-बच्चे बीमार पड़ने और मरने लगे। जुलाई के अंत में मद्रास से मेजर किलपैट्रिक कुछ आदमियों के साथ, उनकी खोज-खबर लेने आया भी तो परिस्थिति में किसी प्रकार का सुधार न हो सका और वह स्वयं जीवित भी रहा तो उसके अपने सैनिकों की वही दशा हुई जो दूसरे अंगरेजों की हो चुकी थी। जब बाकी लोग भूखों मरने लगे तब उसने अगस्त में सिराजुद्दौला के पास एक आवेदनपत्र भेजा कि बीती

हुई बातों को बिसारकर, अब अंगरेजों पर रहम कीजिए और ऐसा हुक्म दीजिए कि उन्हें दाना-पानी तो मिल सके। इस पत्र को वारेन हेस्टिंग्स ने नवाब तक पहुंचने न दिया।

सिराजुद्दौला कलकत्ते में राजा मानिकचन्द*को किलेदार के रूप में छोड़ कर मुर्शिदाबाद लौट गया था। उस से पहले 'फोर्ट विलियम' के भीतर और बाहर वे सारी वारदातें हो चुकी थीं जिनका ऐसे अवसर पर न होना ही आश्चर्यजनक हो सकता था। अर्थात् कुछ अंगरेज मारे जा चुके थे—कुछ यंत्रणायें भोगकर मर चुके थे—कुछ कैद हो चुके थे—और नवाब के सैनिकों ने कंपनी का ही नहीं, दूसरे व्यापारियों का भी बहुत कुछ माल-असबाब लूट लिया था। इतना निश्चित-सा जान पड़ता है कि जो ज्यादतियां हुईं उनके लिए सिराजुद्दौला जिम्मेवार न था। उसका कलेजा ठंढा करने के लिए इतना ही काफी था कि अंगरेजों के किले पर उसका झंडा फहराने लगा था।

पूर्निया में सईद अहमद खाँ (सौलतजंग) के मरने पर उसका बेटा शौकतजंग वहाँ का फौजदार हो चुका था। कई बातों में वह सिराजुद्दौला के ही समान था। मीर जाफर के उभाड़ने पर वह मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठने का मनसूबा बाँधने और साथ ही दून की हांकने लगा था। सिराजुद्दौला से ये बातें छिपी न रह सकीं। यही कारण है कि कलकत्ते पर चढ़ाई करने से पहले वह पूर्निया पर चढ़ाई करने चला था, पर जैसा कि हम देख चुके हैं, उसे राजमहल से ही लौट जाना पड़ा था। उसने राजा जानकी राम के बेटे (अर्थात् दुर्लभराम के भाई) राय रासबिहारी को शौकतजंग के पास भेजा और माल का बकाया

* राजा मानिकचन्द पहले बर्दवान में दीवान रह चुका था। "मुताखरीन" के लेखक ने उसे अयोग्य और अभिमानी बताया है।

तलब किया। शौकतजंग कुछ इलाके दबा बैठा था। उन्हें भी लौटा देने को लिखा। पर माँग पूरी न होने पर उसने कलकत्ते से लौटते ही मोहनलाल को फौज के साथ चढ़ाई पर उधर भेजा और आप भी चल पड़ा। पटने से राजा रामनारायण पूर्निया की ओर बढ़ा। मनिहारी और नवाबगंज के बीच दोनों दलों की भिड़ंत हुई। उसमें शौकतजंग की हार हुई और वह खुद भी मारा गया। सिराजुद्दौला ने मोहनलाल को पूर्निया का फौजदार नियुक्त किया। वह अपने बेटे को नायब मुकर्रर कर मुर्शिदाबाद लौट गया।

राजनीतिक परिस्थिति शौकतजंग के बहुत कुछ अनुकूल होते हुए भी वह उससे लाभ न उठा सका था। "मुताखरीन" का लेखक सैयद गुलाम हुसैन उस समय पूर्निया में उसका खास सलाहकार था। उसने राय दी थी कि बरसात बीतने पर अंगरेजों के और सिराजुद्दौला के बीच युद्ध हुए बिना न रहेगा—इसलिए जल्दबाजी न कीजिये, रासबिहारी को दम-दिलासा देते और चुपचाप अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाते जाइये। पर शौकतजंग को यह सलाह ठीक नहीं जँची थी और उसने सिराजुद्दौला को अपमानजनक पत्र भेजकर सारा गुड़ गोबर कर दिया था। मि० लिट्ल ने इस प्रसंग में लिखा है:— "मुताखरीन" में शौकतजंग का जो चरित्र-चित्रण है उससे तो यह संभव नहीं जान पड़ता कि जगत्सेठ उसे सिराजुद्दौला से अच्छा समझ सकते या उसका पक्ष ग्रहण कर सकते थे। पर लोकमत सिराजुद्दौला के इतना विरुद्ध था कि दोषों के होते हुए भी अगर शौकतजंग चेष्टा करता तो बहुत संभव है कि मुर्शिदाबाद की मसनद पर जा बैठता। उसने अपनी ही बेवकूफी से वह मौका खो दिया। मो० ला नामक फरासीसी ने इस बात पर अफसोस जाहिर किया है कि उसके देशवासी इस अवसर से

जो लाभ उठा सकते थे न उठा पाये। उसका कहना है कि, इसके लिए तीन-चार सौ फरासीसी और थोड़े-से हिन्दुस्तानी सिपाही ही काफी थे। अगर वे सिराजुद्दौला के शत्रुओं से मिलकर काम करते तो उसकी जगह ऐसे शख्स को नवाब नाजिम बना सकते थे जिसके पक्षपाती जगत्सेठ और दूसरे प्रभावशाली हिंदू-मुसलमान भी हो जाते। पर मेरे देशवासी ऐसा न कर सके, और पूर्निया के नवाब ने अपनी जल्दबाजी से हार खाकर बंगाल में यह स्पष्ट कर दिया कि अब क्रांति करने-कराने वाले वहाँ अंगरेज ही रह गये थे। पर अंगरेज उस समय स्वयं दुर्दशाग्रस्त थे, इसलिए जगत्सेठ को और ही अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ी।"

कलकत्ते में ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ अमीचन्द सेठ का घनिष्ठ संबंध चला आया था, यद्यपि यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि कंपनी के कुछ विशिष्ट अधिकारियों का उन पर पूरा विश्वास न था। गवर्नर ड्रेक ने तो 'फोर्ट विलियम' छोड़कर भागने से पहले उन्हें गिरफ़्तार भी करा लिया था। २२ अगस्त को अमीचंद ने मेजर किलपैट्रिक को लिखा कि आप जगत्सेठ से सहायता माँगिये। पर उस समय मुर्शिदाबाद में परिस्थिति कुछ ऐसी हो गई थी कि किलपैट्रिक के लिखने पर भी अमीचंद उसका पत्र जगत्सेठ के पास न भेज सके। एक ओर सिराजुद्दौला ने मीर जाफर को और दूसरे सरदारों को शौकतजंग से लड़ने को भेजा, दूसरी ओर उसने महताबराय से कहा कि व्यापारियों से तीन करोड़ रुपये चंदा उगाहकर दो। साथ ही इस बात की शिकायत की कि दिल्ली दरबार से उन्होंने अभी तक फरमान नहीं मँगा दिया था। जब जगत्सेठ ने चंदा उगाहने में अपनी असमर्थता प्रकट की तब सिराजुद्दौला ने उनके गाल पर एक तमाचा जड़ दिया* और उन्हें

* शायद यह भी कहा कि मैं तेरी सुन्नत कराके छोड़ूँगा।

गिरफ्तार भी करा लिया। यह सुनते ही मीर जाफर मुर्शिदाबाद लौट गया और जगत्सेठ की रिहाई पर जोर देने लगा। जब सिराजुद्दौला ने उसकी एक न सुनी तब उसने और कुछ दूसरे सरदारों ने उससे साफ कह दिया कि जब तक शाही फरमान* नहीं आता तब तक हम आपकी आज्ञा का पालन करने या आपकी ओर से लड़ने वाले नहीं।

जो अंगरेज फलता में जहाजों के तख्तों पर पड़े हुए सर्दी-गरमी झेल रहे थे उनका आखिर उद्देश क्या था? 'फोर्ट विलियम' छोड़कर भागने वालों को यों तो सीधे मद्रास जाना चाहिए था, फिर वे वैसे स्थान में किस आशा से अटके और हवा-पानी के झटके खाते रहे? रहस्य यह जान पड़ता है कि किला और शहर गँवा देने पर भी अंगरेज निराश नहीं हुए। उनका यह विश्वास बना ही रहा कि एक न एक दिन वे उन्हें फिर दखल किये बिना न रहेंगे। इसलिए वे कलकत्ते के ही पास ताक लगाये बैठे रहे और मौका पाते ही फिर अपने किले में जा बैठे। मेजर किलपैट्रिक को संभवत: आदेश मिल चुका था कि जब तक मद्रास से सेना नहीं आ जाती तब तक जहाँ के तहाँ बने रहो। उसने बड़ी ही खूबी से इसका पालन किया। एक ओर तो रोता-धोता रहा—जिससे लाभ यह हुआ कि कुछ समय बाद शरणार्थियों को अन्न-जल मिलने लगा और सिराजुद्दौला अंगरेजों से निश्चिंत-सा हो गया—दूसरी ओर वह मुर्शिदाबाद से पक्की खबर मँगाता और उसे मद्रास पहुंचाता रहा। उसने धीरे धीरे जगत्सेठ और खोजा वजीद से संपर्क

* विचुरा से डाक्टर वर्थ ११ दिसम्बर, १७५६ को लिखता है—"सिराजुद्दौला को बादशाह से फरमान मिल गया है। उसका सारा खर्च पड़ा है २,०२५,०००)। यहां भी फरमान की नकल पहुँच चुकी है।" हिल, भाग २, पृष्ठ ५३।

स्थापित कर लिया और उनसे जो कुछ भी सहायता ले सकता था लेता गया। वजीद सिराजुद्दौला के दरबार में विशेष प्रभाव रखने वाला एक अर्मनी व्यापारी था। जो काम उससे निकल सकता निकाल लिया जाता—बाकी कामों के लिए महताबराय का पल्ला पकड़ा जाता। नवम्बर में किलपैट्रिक उन्हें लिखता है कि, "आपके सिवाय हम लोगों का और कोई सहारा नहीं। हमें पूरी आशा है कि आपकी सहायता से हम कलकत्ते में फिर बस सकेंगे।" ११ दिसम्बर को चिंचुरा से समाचार मिलता है कि जगत्सेठ और अमीचंद इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि उलझन सुलझ जाय। साथ ही फलता से महताबराय के नाम जाने वाले दो पत्रों की प्राप्ति भी स्वीकार की जाती है। अंगरेजों के और जगत्सेठ के बीच पत्र-व्यवहार का रास्ता अब सीधा न रहकर टेढ़ा-मेढ़ा हो चला था।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा में इधर अंगरेजों की जो परिस्थिति हो चली थी उसका नकशा बदलने ही वाला था। इसके लिए मद्रास की कौंसिल ने पूरी तैयारी कर लेने के बाद, क्लाइव और वाट्सन को सदल-बल कलकत्ते भेजा। १५ दिसम्बर को दोनों फलता पहुंच गये। मद्रास से जो पत्र वहां के अधिकारियों के नाम आया उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि क्लाइव और वाट्सन को भेजने का उद्देश केवल कलकत्ते पर अधिकार जमा लेना न था। 'बादशाह फर्रुखसियर ने फरमान द्वारा हमें जो अधिकार दिये थे वे सब के सब प्राप्त हो जाने चाहिए और इधर हमारी जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति भी हो जानी चाहिए।' मद्रास की कौंसिल का आदेश था कि दोनों सेनापतियों के पहुंचते ही लड़ाई जोर-शोर से शुरू कर दी जाय; पर इसके साथ यह भी हिदायत थी कि 'तलवार से ही नहीं, कलम से भी काम लिया जाय और

दोनों का ऐसा सहयोग हो कि कम से कम समय और व्यय में कंपनी का अधिक से अधिक काम निकल जाय।'

उन दोनों सेनापतियों में क्लाइव का स्थल पर अधिकार था और वाट्सन का जल पर। क्लाइव कंपनी का नौकर था और वाट्सन इंगलैण्ड के बादशाह का। सात समुद्र पार भी इंगलैण्ड की सरकार बराबर अपने व्यापारियों को पूरी मदद पहुँचाती रही। इसका नतीजा यह हुआ कि सारा भारतवर्ष एक दिन इंगलैण्ड का उपनिवेश बन गया। अगर फ्रांस की सरकार इसी प्रकार फ्रेंच कंपनी की पीठ पर होती तो कहना चाहिए कि यहां फ्रांस का सितारा भी बुलंद हुए बिना न रहता।

यहीं पर एक और बात कह देने लायक है।

क्लाइव और वाट्सन में पूरा मेल-जोल रहा हो, यह नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक का अपना स्वभाव, अपना दृष्टिकोण, अपनी नीति-रीति थी। स्थानीय कौंसिल के सदस्य वाट्सन के तो नहीं, पर क्लाइव के घोर विरोधी थे—इसलिए कि क्लाइव को मद्रास की कौंसिल से विशेष अधिकार मिल चुके थे और वह अपने क्षेत्र में उनसे बिलकुल स्वतंत्र था। फिर भी अंगरेज अपने ऊपर वालों का अनुशासन यहाँ तक मानते थे कि ऐसे पारस्परिक मतभेद या विरोध के कारण कंपनी की नीति-धारा का कभी अवरोध न हो सका। उसके स्वच्छंद प्रवाह में सभी सहयोगी ही बने रहे।

कलकत्ते पहुँचने के दो ही दिन बाद वाट्सन और क्लाइव की ओर से सिराजुद्दौला के पास ऐसे पत्र भेजे गये जैसे अभी तक मुर्शिदाबाद तो क्या, हुगली भी नहीं भेजे गये थे। एक ने अपने पत्र में लिखा था कि ऐसे सम्राट् ने मुझे नौ-सेनापति बनाकर भेजा है जिसे संसार के सभी नरेश आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। दूसरे ने लिखा था कि

आप सुन ही चुके होंगे कि जितनी बड़ी फौज साथ लेकर मैं आया हूँ उतनी बड़ी बंगाल में आज तक आई ही नहीं। दोनों ही पत्रों में कंपनी की ओर से यह मांग पेश की गई थी कि हमारे मकान और कारखाने हमें लौटा दिये जायँ; हमें, हमारे कर्मचारियों को और हमारी रिआया को जो नुकसान पहुँचाया गया है वह पूरा कर दिया जाय और हमारे सारे अधिकार वही समझे जायँ जो बादशाह फर्रुखसियर ने हमें बख्शे थे। राजा मानिकचंद, जगत्सेठ महताबराय, खोजा वजीद इन सब से पत्र-व्यवहार होने लगा। पर कलम चल रही थी तो तलवार भी म्यान में बैठ रहने वाली न थी। दिसम्बर बीतने से पहले ही क्लाइव ने लड़ाई शुरू कर दी। मानिकचन्द बजबज जाकर उससे भिड़ा तो उसे मुंह की खानी पड़ी। २ जनवरी को वाट्सन ने उससे 'फोर्ट विलियम' भी छीन लिया। एक कदम और आगे बढ़कर अंगरेजों ने आठ ही दिन बाद हुगली से भी नवाब की फौज को मार भगाया और शहर पर कब्जा कर लिया। यह चढ़ाई भी जल-मार्ग से ही हुई थी।

इससे पहले क्लाइव जगत्सेठ को एक पत्र लिखा चुका था। और बहुत से पत्रों की तरह वह तो इस समय अप्राप्य है, पर जगत्सेठ ने १४ जनवरी को जो उत्तर दिया वह इस प्रकार था:—

"आपका पत्र मिला। उसे पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई।

"आपने लिखा कि मैं जो कुछ कहता हूँ नवाब उस पर ध्यान देते हैं। अगर यह सच है तो मुझे आशा है कि मैं आपकी और सूबे की थोड़ी-बहुत भलाई कर सकूंगा। कम से कम मैं जो कुछ कर सकता हूँ अवश्य करूँगा।

"मैं व्यापारी हूँ, संभव है कि मेरी सिफारिश का नवाब पर कुछ असर हो। पर मैं कुछ कहूँ भी तो कैसे? जरा अपने कार-

नामों को देखिए। कलकत्ते पर आपने जोर-जबर्दस्ती से कब्जा कर लिया। फिर वही बात हुगली में हुई। उस शहर को तो आपने मिटा भी डाला। स्पष्ट है कि आप सुलह या समझौता नहीं चाहते—आप सिर्फ लड़ाई चाहते हैं। फिर मैं आपकी ओर से क्या कहूँ और कैसे यह झगड़ा निबटाऊँ ?

"आपकी कार्रवाइयों से जान पड़ता है कि आपका अपनी तलवार पर भरोसा है। हां, अपने आवेदन-पत्र में आपने और राग जरूर अलापा है। अगर आप सचमुच चाहते हैं कि मैं आपके और नवाब के बीच में पड़कर झगड़ा निबटा दूं तो आप पहले अपना रंग-ढंग बदलें, फिर मुझे यह बतावें कि आपकी मांग क्या है। मैं मामला तै करा देने के लिए, कुछ भी उठा न रखूंगा। एक ओर तो आप इस सूबे के मालिक पर तलवार सौंतें और दूसरी ओर यह आशा करें कि वह इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखकर रह जायँगे—यह तो असंगत ही कहा जा सकता है। आप स्वयं विचार लें"*।

जगत्सेठ ने यह पत्र चन्दननगर में फ्रेंच कंपनी के प्रधान मो० रेनाल्ट की मार्फत भेजा था। खोजा वजीद ने भी रेनाल्ट को लिखा था कि आप मध्यस्थ होकर यह झगड़ा मिटा दें। कंपनी के अधिकारियों का अनुमान था कि जगत्सेठ ने क्लाइव को और खोजा वजीद ने रेनाल्ट को जो कुछ लिखा था वह सिराजुद्दौला के ही आज्ञानुसार। पर फ्रांस और इंगलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ चुका था, इसलिए—अथवा अन्य कारणों से—कंपनी को रेनाल्ट की मध्यस्थता स्वीकार नहीं हुई। २१ जनवरी को क्लाइव ने 'सेठ महताबराय और महाराज स्वरूपचंद' को लिखा:—

* हिल, भाग २, पृष्ठ १०४। और पत्र भी इसी संग्रह से लिये गये हैं।

"आपका कृपापत्र मिल गया। आपने जो कुछ लिखा उससे मैंने यहाँ के गवर्नर और कौंसिल के सदस्यों को भी अवगत कर दिया।

"मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि आप बीच में पड़कर इस सूबे को खून-खराबी से बचाने को तैयार हैं।

"आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इधर अंगरेजों पर क्या क्या जुल्म हो चुके हैं। नवाब नाजिम की ओर से होने वाली ज्यादतियों की दास्तान सुनाऊँ तो आपके रोंगटे खड़े हो जायँ। आज बंगाल इतना सम्पन्न है तो इसका अधिकांश श्रेय अंगरेजों को ही प्राप्त है। फिर भी उनके प्रति कैसे अत्याचार किये गये, नृशंसता और बर्बरता की चक्की में उन्हें किस तरह पीसा गया? एक ही रात को कम से कम १२० अंगरेज—जिनमें अधिकांश घरानेदार थे—बेरहमी से मौत के घाट उतार दिये गये। मैं बराबर सुनता आया हूँ कि नवाब नाजिम वीर हैं, दयावान् हैं। पर यह हत्याकांड तो ऐसी कायरता और क्रूरता का काम था कि मैं यही कहूँगा कि जो कुछ हुआ वह बिना उनकी जानकारी के ही।

"आज हमारा खून उबल रहा है, पर आप हमें दोषी नहीं ठहरा सकते। क्या हमने पत्र पर पत्र भेजकर नवाब के कानों तक अपनी फरियाद नहीं पहुंचाई—इस आशा से कि हमें कुछ तो उत्तर मिलेगा, हमारे साथ कुछ तो न्याय होगा? क्या हमने अरसे तक फलता में बैठ कर उनकी प्रतीक्षा नहीं की? क्या बजबज में उनके किलेदार ने ही हमारे जहाजों पर पहले गोली-गोले चलाकर लड़ाई नहीं छेड़ी? जब हमारे साथ ऐसा व्यवहार हुआ तब हम उत्तेजित हुए और जवाब दिये बिना कैसे रह सकते थे!

"पर यह सब गुजरने पर भी, हम ऐसी संधि के लिए तैयार हैं

जिस से दोनों की हितरक्षा हो सके। हमारी शर्तें क्या हैं, यह हम आपको अलग जता रहे हैं। आप समझदार हैं। आपको यह बताना अनावश्यक जान पड़ता है कि हम जो कुछ मांगते हैं वह न्याय के आधार पर ही। अगर आप समझा-बुझा कर नवाब नाजिम से हमारी शर्तें मंजूर करा दें तो आप इस सूबे को बरबाद होने से बचा लेंगे और इसके बहुत बड़े शुभचिन्तक समझे जायंगे।

"अंगरेज जाति महान् है। आपके दिल्लीश्वर से उसके अधीश्वर की शक्ति तनिक भी कम नहीं। जब इंगलैण्डाधीश को मालूम होगा कि यहां इतने अंगरेज मार डाले गये तब उन्हें कितना क्रोध आयेगा, यह आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं। ध्यान रहे कि उनका जल-सेनापति यहां अपने बेड़े के साथ आ गया है। स्थल-सेनापतिकी हैसियत से मेरा अपना दर्जा भी उसी के बराबर है। मैं डींग हांकना तो नहीं चाहता, पर इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि मद्रास की ओर बंगाल के नवाब नाजिम जैसे शक्तिशाली शत्रुओं से हमें कामपड़ चुका है और हम उन पर विजय प्राप्त कर चुके हैं। हो सकता है कि यहां भी वही बात हो। मुझे आशा है कि परिस्थिति हमें लड़ाई के लिए कटिबद्ध होने को विवश न करेगी। यों तो जीत ईश्वर की कृपा से होती है और ईश्वर अपनी कृपा का पात्र उन्हीं को समझता है जो पर-पीड़ित होते हैं।"

क्लाइव ने एक पत्र खोजा वजीद को भी लिखा जिसका सारांश यह था कि कंपनी को किसी फरासीसी की मध्यस्थता तो स्वीकार नहीं हो सकती, पर आप से और जगत्सेठ से उसका यह आग्रह है कि दोनों बीच में पड़ कर नवाब नाजिम से सुलह करा दें।

नवाब की अवस्था यह थी कि जहां वह अंगरेजों से चिढ़ा हुआ

था वहां, उनका दमखम—खास कर जहाजी ताकत—देख कर उनसे भयभीत भी हो रहा था। जनवरी के अन्तिम सप्ताह में उसने कलकत्ते की दूसरी यात्रा की और झगड़ा रफा-दफा कर लेने के विचार से ही एक ऐसे व्यक्ति को साथ लेता गया जो इस दृष्टि से विशेष उपयोगी हो सकता था। इसका नाम लाला रंजीतराय था। पुराने कागजात में यह जगत्सेठ का वकील बताया गया है। इधर कुछ समय से जगत्सेठ के इच्छानुसार यह कंपनी का भी वकील हो चला था और इसी की मार्फत संधि-संबंधी संदेसे भुगतने लगे थे।

कलकत्ते के पास पहुंचने पर सिराजुद्दौला ने क्लाइव को लिखा कि अगर कंपनी लूटमार करना छोड़ कर फिर वाणिज्य-व्यापार करने की इच्छुक हो तो अपने प्रतिनिधि को मेरे पास भेजे और कहलावे कि वह क्या चाहती है। कलकत्ते में और अन्यत्र उसे जो स्वतंत्रता पहले प्राप्त थी वह मैं उसे दे दूंगा और उसकी जो हानि हुई है उसकी भी कुछ पूर्ति कर दूंगा। ३ फरवरी को उसकी सेना कलकत्ते पहुंच चुकी थी और सेठ अमीचन्द के बगीचे में उसका पड़ाव पड़ चुका था। उसने क्लाइव को आश्वासन देते हुए लिखा कि 'कंपनी निश्चिंत रहे। मैं खुदा की और उनके पैगंबर की कसम खाकर कहता हूं कि उसकी ओर से संधि-विषयक बातचीत करने जो लोग आयेंगे वे सही-सलामत घर लौट सकेंगे।' कंपनी की ओर से वाल्श और स्क्राफ्टन दूत बना कर भेजे भी गये। पर क्लाइव के मन की बातें कुछ और ही थीं। वह सिराजुद्दौला को धोखा देकर उस पर प्रहार करना चाहता था। ४ फरवरी को दोनों दूत तो इधर-उधर की बात कर लौट गये और ५ फरवरी को क्लाइव ने नवाब की छावनी पर छापा मार दिया। उस समय इतना घनघोर कुहरा लगा हुआ था और सिराजुद्दौला के सैनिक इतनी निश्चिन्तता

से बिस्तरों पर पड़े हुए थे कि उनसे तो कुछ बन न पड़ा और क्लाइव हाथ की सफाई दिखाता हुआ, कुछ लाशें गिरा गया—सारी सेना को चकित तथा स्तंभित कर गया*।

सिराजुद्दौला ने अमीचन्द के बगीचे में ठहरना निरापद न समझ कर दमदम के पास जा डेरा डाला। संधि के संबंध में दूसरे दिन रंजीतराय ने क्लाइव को लिखा—

"मेरा तो खयाल था कि अंगरेज जबान के पक्के होते हैं और जो बात स्वीकार कर लेते हैं उससे कभी टलते नहीं। इसी खयाल से मैं उनके मामले में दिलचस्पी लेता और नवाब नाजिम से उनकी सिफारिश करता आ रहा था। आपकी ओर से जो व्यक्ति आये थे उनसे काम बनने वाला न था, इसीलिए मैंने ही उन्हें लौट जाने को कहा। आपको लिखा भी कि आप अपनी मांग पत्र-द्वारा सूचित करें तो मैं नवाब से उसे मंजूर करा दूं। वह इन बातों के लिए तैयार हैं कि फरमान में जिन अधिकारों का उल्लेख है उन्हें आपको दे दें, आपको कलकत्ता लौटा दें—कासिमबाजार या अन्यत्र आपकी जो हानि हुई हो उसकी पूर्ति कर दें—कलकत्ते (अलीनगर †) में आपको टकसाल खोलने की इजाजत दे दें—और वहाँ आप जैसी भी किलेबन्दी करना चाहें आपको करने दें। पर यह सब होते हुए भी आपने कल सुबह जो कुछ किया उससे मुझे आश्चर्य-चकित और नवाब के सामने लज्जित भी होना

---

* हेनरी डाडवेल ने लिखा है कि क्लाइव ने इस अवसर पर वही तरीका अख्तियार किया जो दाक्षिणात्य में फ्रेंच नासिरजंग के खिलाफ दो बाद अख्तियार कर चुके थे और जो कारगर भी साबित हो चुका था।

† यह नाम सिराजुद्दौला का रखा हुआ था।

पड़ा। खोजा पिट्रस (पिंदू) यह पत्र लेकर जा रहा है। उससे आप सुन लेंगे कि नवाब के और मेरे बीच क्या बातें हुईं।

"खैर, जो होना था हुआ। बात अभी तक बिगड़ी नहीं है। अगर आप सचमुच मामला तै करा लेना चाहते हैं तो अपने प्रस्ताव नवाब को लिख भेजिए। मैं उन्हें स्वीकृत करा दूंगा। नवाब से स्वीकृतिपत्र के साथ आपके लिये सिरोपा, हाथी और कोई आभूषण भी भिजवा दूंगा। नवाब यहां से शीघ्र मुर्शिदाबाद लौट जाने वाले हैं। अगर आप संधि नहीं करना चाहते और लड़ाई पर ही आमादा हैं तो मुझे साफ लिखिए, ताकि मुझे इस मामले में और हैरानी-परेशानी न उठानी पड़े।"

खेत में बीज बोया जा चुका था। रंजीतराय ने क्लाइव को कहलाया कि देर न कीजिए, ऐसा मौका फिर आसानी से न मिल सकेगा। क्लाइव क्यों देर करने लगा था? उसने झटपट अपनी शर्तें लिख भेजीं और बीज के उगने की राह देखने लगा। सिराजुद्दौला की आन्तरिक इच्छा वैसी संधि करने की तो थी ही नहीं। कुछ आनाकानी करने लगा। ज्योंही क्लाइव को इसकी सूचना मिली, उसने रंजीतराय को लिखा—

"आपका पत्र मिला। उसके साथ सुलहनामे का वह मसौदा भी, जो कंपनी की ओर से भेजा गया था।

"आश्चर्य है कि आप और आपके नवाब सारी बात को मजाक समझ रहे हैं। मालूम हो गया कि हमारी शर्तें आप लोगों को मंजूर नहीं। ईश्वर इस बात का साक्षी है कि मैं हृदय से शांति चाहता हूँ और छलछंद तो मुझे आता ही नहीं।

"खैर, मसौदा साफ कराके मैं इसके साथ भेज रहा हूँ। अगर नवाब नाजिम सुलह चाहते हैं तो हर शर्त के नीचे 'मंजूर' लिख कर

और सही भर कर कागज लौटा दें। उन्होंने यह कर दिया तो समझ लीजिए कि शांति हो चुकी। अगर ऐसा नहीं करते तो आप आगे कुछ न कीजिए। फिर तो युद्ध छिड़े बिना रहेगा ही नहीं।

"हमारे गवर्नर और कौंसिल की ओर से जो इकरारनामा होगा उसके बारे में मैं यकीन दिला सकता हूँ कि फरमान की और अपने इकरारनामे की शर्तों की वे बराबर पाबन्दी करेंगे। सरकार की प्रजा को न तो वे शरण देंगे और न अकारण किसी पर हाथ उठायेंगे।"

जिस दिन यह पत्र भेजा गया उसी दिन—अर्थात् ८ फरवरी को—संधि हो गई। अपने इकरारनामे पर दस्तखत करने वालों में सिराजुद्दौला तो था ही, उसके दीवान* राजा दुर्लभराम बहादुर और फौज के बख्शी† मीर जाफर खां बहादुर भी थे। पर सुलहनामा बिलकुल एक-तरफा था। सिराजुद्दौला को स्वीकार करना पड़ा कि—

१—फर्रुखसियर से कंपनी को जितने अधिकार मिल चुके थे वे उसे मान्य होंगे। विशेष कर जिन गांवों की जमींदारी कंपनी को मिल चुकी थी उन्हें वह बे-रोकटोक हासिल कर सकेगी।

२—कंपनी के दस्तक के साथ जाने वाले माल पर बंगाल, बिहार या उड़ीसा में किसी प्रकार की चुंगी वसूल न की जायगी।

३—कंपनी की सारी कोठियां सरो-सामान के साथ उसे लौटा दी जायंगी। कंपनी का जो नुकसान हुआ था उसके लिए उसे मुनासिब मुआवजा मिलेगा।

---

* संभवतः उस अधिकारी के भी दस्तखत थे, जो बंगाल में दीवानेकुल कहा जाता था।

† स्पष्ट है कि सिराजुद्दौला ने मुर्शिदाबाद लौटने पर मीर जाफर को इस पद से हटाया।

४—कंपनी को कलकत्ते में किलेबंदी का पूरा अधिकार होगा।

५—कंपनी अपनी टकसाल खोल सकेगी और उसके सिक्कों पर बट्टा न कटेगा।

जब कंपनी को इतने अधिकार मिल चुके, तब कुछ अँगरेजों की राय हुई कि नवाब को और दबा कर उससे कुछ और लिया जाय। पर क्लाइव, किलपैट्रिक आदि ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि नवाब को डराने-धमकाने का नतीजा यह हो सकता है कि जो हाथ लग चुका है हम उसे भी गंवा बैठें। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि रंजीतराय भी इसके विरुद्ध था।

"सेठों के वकील रंजीतराय की भी राय यही है। वह शुरू से ही हमारे मामले के पैरोकार रह चुके हैं। अपने अन्तिम पत्र में उन्होंने कर्नल क्लाइव को लिखा है कि नवाब नाजिम से जो कुछ मिल चुका है अगर कंपनी को उससे सन्तोष नहीं तो मैं इस धंधे से किनारा खींचता हूं। वह गोली-बारूद की आजमाइश कर देख ले।"

यद्यपि क्लाइव अभी गोली-बारूद से काम लेने के पक्ष में न था, तथापि वह भी इस प्रस्ताव से सहमत था कि कूटनीति का प्रयोग कर—अर्थ की खींचातानी कर—संधि-रूपी गागर को कंपनी के हक में सागर बना दिया जाय। १६ फरवरी को विलियम वाट्स दरबार में कंपनी का प्रतिनिधित्व करने के लिए कासिमबाजार भेजा गया और उसे जो आदेश * दिये गये उनसे स्पष्ट है कि कंपनी की नीयत कहां तक खराब थी। उनका अभिप्राय यही था कि हम म्यान से तलवार खींचने

---

* हिल, भाग २, पृष्ठ २२५-२२७।

का नाम तो अभी न लेंगे, पर कलम और जबान* से जो झगड़ा-रगड़ा किया जा सकता है करते जायंगे।

उसी दिन क्लाइव ने जगत्सेठ से मिलने वाली सहायता के लिए उन्हें धन्यवाद देते हुए लिखा——

"अमीचन्द सेठ मुझे बता चुके हैं कि नवाब के साथ लाला रंजीत-राय को आपने ही भेजा था। उनके आने का फल यह हुआ कि बंगाल में शांति-भंग की आशंका जाती रही और कंपनी को फिर अपना व्यवसाय करने की इजाजत मिल गई। मैंने रंजीतराय के परामर्श के विरुद्ध कभी कुछ नहीं किया है। सुलह हो गई——उसकी शर्तों की पाबन्दी के दोनों तरफ इकरार भी हो चुके। आपने इस अवसर पर कंपनी की अमूल्य सहायता की है। उसके कारबार का फिर पहले की ही तरह चलना संभव हो सका है तो उसी सहायता के फल-स्वरूप। इधर मैंने जो पत्र इंगलैण्ड भेजे हैं उनमें इस बात का विशेष रूप से उल्लेख कर चुका हूँ।"

पर उस सहायता का दूसरी ओर फल यह हुआ कि सिराजुद्दौला मन-ही-मन जगत्सेठ से और भी खिच गया। महताबराय का घराना बरसों से कंपनी का पृष्ठपोषक चला आया था। सिराजुद्दौला को यह अच्छी तरह मालूम था कि रंजीतराय का उस घराने से क्या संबंध था और वह किस की ओर से वकालत कर रहा था। अगर उसे वैसी संधि करना मंजूर न था तो रंजीतराय को साथ ले जाने की और

---

* "नवाब से यह इजाजत भी मांगना कि जब हमारे दस्तक हर प्रकार के कर, महसूल या चुंगी से बरी कर दिये गये, तब हमें यह अधिकार भी मिलना चाहिए कि जो कोई इस हुक्म को न माने उसे हम स्वयं दंड दे सकें, ताकि हमें अपनी फरियाद दरबार तक पहुँचा कर महीनों उसके फैसले की राह न देखनी पड़े।"

बात-बात में उससे सलाह करने की जरूरत ही क्या थी ? क्लाइव की धमकी में आकर उसने संधि-पत्र पर सही भरना स्वीकार किया हो—या अंगरेजों का लोहा मानकर—उसने जो कुछ किया उसका उत्तरदायित्व उस पर था—न कि महताबराय या रंजीतराय या मीर जाफर पर। असलियत यह थी कि उसने कलकत्ते की यह दूसरी यात्रा अंगरेजों से संधि कर लेने के ही विचार से की थी। इकरारनामे पर दस्तखत हुए ८ फरवरी को। ६ फरवरी को ही रंजीतराय क्लाइव को लिख चुका था कि कंपनी की ओर से वह जो कुछ मांग रहा था, सिराजुद्दौला उसे दे देने को तैयार था।

इसमें संदेह नहीं कि कंपनी की नब्ज की जैसी पहचान सिराजुद्दौला को थी वैसी महताबराय को नहीं। जगत्सेठ की और कितने ही दूसरे लोगों की दृष्टि में अंगरेज या फरासीसी व्यापारी-मात्र बने हुए थे। सिराजुद्दौला को मालूम था कि इधर दक्षिण में दोनों क्या खेल खेल चुके थे और दोनों की विचारधारा किस दिशा में प्रवाहित हो रही थी। वह इस नतीजे पर पहुंच चुका था कि अगर इन विदेशी व्यापारियों को—विशेषत: अंगरेजों को दबाया न गया तो बंगाल में कर्णाटक[५] के इतिहास की पुनरावृत्ति हुए बिना न रहेगी। कहा गया है कि कंपनी के कुछ अधिकारियों ने उसे छोटी-मोटी बातों में अपने व्यवहार से रुष्ट कर दिया था, इसीलिए वह कंपनी का शत्रु बन गया था। वास्तव में उसके कलेजे का घाव व्यक्तिगत अपमान से कहीं गहरा था। पर साथ ही उसमें योग्यता का ऐसा अभाव था कि रोग को पहचानते हुए भी वह उसका इलाज न कर सका। बल्कि फोड़े को नासूर बना लिया और परिस्थिति पर ग़ालिब होने के बजाय उसी का शिकार हो गया।

बहुरूपिया न होते हुए भी सिराजुद्दौला ने मुर्शिदाबाद लौटने

पर कुछ समय के लिए अपना रूप बदल दिया और जहां सेठों को पहले फूटी आंखों न देख सकता था वहां अब उन्हें सिर आंखों पर बैठाने लगा। पर व्यवहार में यह सौजन्य या नम्रता दिखाने को ही थी। उसके आंतरिक भाव में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ था। जगत्सेठ भी धोखे में आने वाले न थे। उन्हें पक्की खबर मिलती रहती थी कि सिराजुद्दौला प्रच्छन्न रीति से उनके विनाश का मार्ग ढूंढ़ रहा था। क्या आश्चर्य कि वे भी दूसरों से मिल कर उसके विनाश का उपाय ढूंढ़ते ? मो० ला* का विश्वास था कि अगर जगत्सेठ चाहते तो बिना अंगरेजों की या फरासीसियों की सहायता के ही एक दल खड़ा कर सिराजुद्दौला का नाश करा सकते थे। पर इसमें खर्च तो काफी पड़ता ही, समय भी बहुत लगता। और शर्त यह थी कि जगत्सेठ बगावत का बीड़ा उठाते तो !

उधर सिराजुद्दौला सेना-विभाग के पुराने पदाधिकारियों से भी शत्रुता मोल ले चुका था। मीर जाफर बरसों से बख्शी के पद पर था। उससे यह पद छीन कर मीर मदन† को दे दिया गया था। राजभक्त न होते हुए भी मीर जाफर काफी प्रभावशाली व्यक्ति था और सिराजुद्दौला ने अपनी इस कार्रवाई से उसे जख्मी शेर बना दिया था। मीर जाफर के अलावा रहीम खां, उमर खां, सलावत खां, दिलेर खां आदि और कई सरदार थे जो विभिन्न कारणों से भीतर ही भीतर राजद्रोही बन गये थे और उलट-फेर की घड़ी गिन रहे थे।

---

* कासिमबाजार में फ्रेंच फैक्टरी का प्रधान।

† यह बयान "मुताखरीन" का है। "रियाजुस्सलातीन" की बात मानी जाय तो मीर मदन तोपची था और बख्शी का पद ख्वाजा हादी अली खां को दे दिया गया था।

जो नये अधिकारी सिराजुद्दौला के द्वारा नियुक्त हुए वे प्रायः निकम्मे ही निकले। वे उसकी हां में हां मिलाने वाले और अपनी जेबें भरने वाले थे। अनुभव-हीन होने के कारण वे ऊंचा-नीचा बता भी न सकते थे। इनकी नियुक्तियों ने सिराजुद्दौला के मार्ग में कुछ ऐसे कांटे बिछा दिये जो तत्कालीन परिस्थिति में उसके लिए घातक ही सिद्ध हुए।

पुराने अधिकारियों को संभवतः सब से अधिक खलने वाली नियुक्ति प्रधान मंत्री के पद पर मोहनलाल की थी। यह पहले सिराजुद्दौला का खास दीवान था। गुलाम हुसैन ने लिखा है कि पदोन्नति होने पर उसका दर्जा पंजहजारी मनसबदार का कर दिया गया और महाराज के खिताब के साथ उसे पालकी, नगारा आदि भी मिले। "मुताखरीन" के अंगरेजी अनुवादक ने मोहनलाल की बहन से सिराजुद्दौला का अनुचित सम्बन्ध बताया है। "रियाजुस्सलातीन" में लिखा है कि "मोहनलाल सिराजद्दौला के तन और मन को इस प्रकार आवेष्टित कर चुका था कि प्रधान मंत्री होते ही वह अपने स्वरूप को भूल गया और यह समझ बैठा कि मेरे सिवाय और कोई गिनती में आने योग्य ही नहीं। उसने माल-विभाग में तमाम अपने रिश्तेदार भर दिये और पुराने अधिकारियों को धता बता दिया। एक दिन नवाब गुलाम हुसैन खां बहादुर को कहलाया कि अगर २००) माहवार पर रहना मंजूर हो तो रह सकते हो, वर्ना इस सूबे से हट जाओ। लाचार नवाब साहब, काबा जाने का बहाना कर, हुगली चले गये।" यही गुलाम हुसैन "मुताखरीन" का लेखक था। सताये जाने पर भी उसने दिल के फफोले नहीं फोड़े, यह उसकी शराफत ही कही जा सकती है।

दुश्चरित्र न होकर अलीवर्दी खां नियम के अपवाद-स्वरूप लंका में विभीषण हो चुका था पर इससे उसके घर के बाहर-भीतर के वातावरण में तनिक भी सुधार न हो सका। सिराजुद्दौला भी चरित्रहीन ही निकला। साथ ही वह हृदयहीन भी था। जहां तक दरबारियों का सम्बन्ध था, अगर उसमें बदतमीजी या बदजबानी न होती तो बात बहुत अधिक न बिगड़ती। "मुताखरीन" में लिखा है कि जगत्सेठ और राजा दुर्लभराम जैसे पुराने पार्षदों और अधिकारियों को उसने अपने दुर्व्यवहार या दुर्वाक्यों से यहां तक रुष्ट कर दिया कि वे भी उसके शत्रु-दल में सम्मिलित और उसके विनाश पर कटिबद्ध हो गये। इस दल का मुखिया मीर जाफर था। जगत्सेठ ने उससे गंठ-बंधन कर वादा किया कि मुझसे जहां तक सहायता बन पड़ेगी मैं करने से बाज न आऊंगा। इस प्रकार उस षड्यंत्र का सूत्रपात हुआ जिसका परिपाक सिराजुद्दौला को रसातल में पहुंचाने वाला था।

सिराजुद्दौला के साथ संधि हो जाने से पहले ही यूरोप में फ्रान्स और इंगलैण्ड के बीच फिर युद्ध छिड़ जाने का समाचार कलकत्ते पहुंच चुका था। अंगरेजों का विचार चंदननगर पर चढ़ाई कर, उसे ले लेने का हुआ पर परिस्थिति को अनुकूल न देख कर वे चुपचाप बैठ रहे। उन्हें डर था तो यह कि सिराजुद्दौला को यह मंजूर न होगा और वह दुश्मन की ओर हो गया तो वे दोनों का मुकाबला न कर सकेंगे। पर जब संधि हो चुकी तब वे यह कह कर सिराजुद्दौला पर दबाव डालने लगे कि 'आप पत्रों द्वारा हमें आश्वासन दे चुके हैं कि हमारे शत्रुओं को आप अपने शत्रु समझेंगे। हमारी ओर से भी आप को ऐसा ही आश्वासन मिल चुका है। ऐसी स्थिति

में आप हमें चन्दननगर पर चढ़ाई करने भी न दें तो ऐसी संधि का मूल्य ही क्या?' एक ओर अंगरेज सिराजुद्दौला को कोंच रहे थे, दूसरी ओर फरासीसियों से ऐसे समझौते की भी बात कर रहे थे जिससे बंगाल में दोनों कंपनियां तटस्थ बनी रहें और कोई किसी पर वार न करे।

मुर्शिदाबाद दरबार में दोनों ओर के प्रतिनिधि जाने-आने लगे। अंगरेजों का प्रतिनिधित्व करने के लिए वाट्स था ही, फरासीसियों ने यह काम अपने कासिमबाजार के प्रधान मो० ला को सौंपा। अंगरेज चाहते थे कि सिराजुद्दौला उन्हें अपने दुश्मनों से निबट लेने दे। फरासीसी चाहते थे कि वह अंगरेजों को वैसी इजाजत न दे और आवश्यकता पड़ने पर उनकी रक्षा भी करे। सिराजुद्दौला स्वयं उनकी रक्षा करना चाहता था। उसके दुश्मन उसे अंगरेजों से उलझाना चाहते थे। सिराजुद्दौला को डर था कि कहीं उसे अंगरेजों से चपत न खानी पड़े। जगत्सेठ को फिक्र थी कि फ्रेंच कंपनी के जिम्मे उनका जो पावना था उससे उन्हें कहीं हाथ न धोना पड़े।

वाट्स अपनी कूटनीति-निपुणता का परिचय देने लगा। १८ फरवरी १७५७ को उसने हुगली से 'दस कोस दूर' कहीं से क्लाइव को लिखा कि अमीचन्द की वहां के दीवान और कायम मुकाम फौजदार नन्दकुमार से बातें हो चुकी थीं और उससे यह तै हो चुका था कि दस-बारह हजार रुपये मिल जाने पर वह इस मामले में अंगरेजों के अनुकूल रहेगा और अगर नवाब ने फरासीसियों की मदद के लिए कुछ सैनिक चंदननगर भेजे भी तो उन्हें कम से कम दो हफ्ते वहां पहुंचने न देगा। अमीचन्द* ने सलाह दी थी कि कंपनी नन्दकुमार

---

*अमीचन्द के ही के वंश में भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र हुए। लिखा है कि

को उतने रुपये दे दे और चन्दननगर पर फौरन चढ़ाई कर दे। वाट्स लिखता है—

"अगर नन्दकुमार को यह रकम देना मंजूर हो तो आप इस चिट्ठीरसां की मार्फत उसे बस 'गुलाब का फूल' कहला दीजिए। इस संदेसे से ही उसे तसल्ली हो जायगी। अमीचन्द कहता है कि बात अच्छी तो नहीं, पर लाचारी है। सरकार ही ऐसी है कि कोई भी काम आप या तो डंडे के जोर से निकाल सकते हैं या किसी न किसी की मुट्ठी गरम कर। अमीचन्द का और मेरा अपना भी खयाल है कि नन्दकुमार को यह रकम देना व्यर्थ न होगा। हां, हम अपनी प्रतिज्ञा मतलब सध जाने पर ही पूरी करेंगे। अगर आपका विचार कुछ भी देने का न हो तो 'गुलाब के फूल' का नाम ही न लें।

"अमीचन्द ने एक बात और बताई। फरासीसियों के जिम्मे जगत्सेठ की कोठी के तेरह लाख से भी अधिक रुपये निकलते हैं। मैं समझता हूँ कि इस कारण वह इस मामले में हमारी मदद न करेंगे। अमीचन्द का कहना है कि खोजा वजीद और मानिकचन्द ने उसकी गैरहाजिरी में चाल चल कर परिस्थिति को फरासीसियों के कुछ अनुकूल बना दिया है, पर अंगरेजों के कूच बोलते ही वह उनकी चाल

"सुप्रसिद्ध सेठ अमीचंद के दोनों पुत्र राय रतनचन्द बहादुर और शाह फतहचन्द काशी में आ बसे थे। शाह फतहचंद के पौत्र बाबू हरखचन्द ने अपने ही सद्व्यवहार से असंख्य संपत्ति कमाई और उसे सत्कार्य में व्यय कर के बड़ी बड़ाई पाई। इनके पुत्र बाबू गोपालचन्द हुए जो हिन्दी भाषा के बड़े अच्छे कवि हो गए हैं। इन्होंने पौराणिक आधार पर ४० काव्य ग्रंथ रचे और संस्कृत में भी कुछ कविता की। इनके सुपुत्र बाबू हरिश्चन्द्र हुए। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म तारीख ९ सितम्बर सन् १८५० ई० को हुआ था।"
—बाबू श्यामसुन्दर दास कृत "हिन्दी के निर्माता" से।

का जवाब दे देगा। जो ब्राह्मण यह पत्र ले कर जा रहा है वही आपके और नन्दकुमार के बीच संदेसे भुगताया करेगा।"

अमीचन्द इस मामले में काफी दिलचस्पी लेने और कलकत्ते से मुर्शिदाबाद तक दौड़-धूप करने लगे थे। जब कभी वह सिराजुद्दौला से मिलते तब अंगरेजों की तारीफ और फरासीसियों की बुराई करते। २१ फरवरी को वाट्स लिखता है—"अमीचन्द ने नवाब से कहा कि मैं चालीस बरस से कलकत्ते में हूं और इतने लंबे समय में मैंने उन्हें कभी प्रतिज्ञा-भंग करते न देखा। किसी ब्राह्मण के पांव छू कर उसने शपथ-ग्रहण भी किया और कहा कि इंगलैण्ड में यह कायदा है कि झूठ बोलने वाले पर लोग थूकने लगते हैं और उसकी किसी बात का फिर विश्वास नहीं किया जाता। इसका नतीजा यह हुआ कि नवाब पहले तो मीर जाफर को फरासीसियों के सहायतार्थ जाने का हुक्म दे चुका था और खुद भी जाने वाला था, पर अमीचन्द की बात सुन कर उसने वह हुक्म रद्द कर दिया।"

क्लाइव के नाम ४ मार्च को एक पत्र भेजकर सिराजुद्दौला ने इस बात पर संतोष प्रकट किया कि अंगरेजों ने उसकी बात मान ली थी और फरासीसियों से झगड़ने वाले न थे। पर उसी दिन वाट्सन ने सिराजुद्दौला को कलकत्ते से लिखा कि "आप धन-जन से फरासीसियों की सहायता करते आ रहे हैं। यह आपकी उस प्रतिज्ञा का पालन नहीं कहा जा सकता कि मैं अंगरेजों के शत्रुओं को अपने ही शत्रु समझूंगा। अब स्पष्टवादिता का समय आ गया है। अगर दस दिन के भीतर आप अपनी प्रत्येक बात पूरी नहीं करते तो आप के लिए इसका नतीजा बुरा होगा और मैं बंगाल में ऐसी आग लगा दूंगा जो सारी गंगा के पानी से भी न बुझाई जा सकेगी।"

८ मार्च को क्लाइव नन्दकुमार को लिखता है कि नवाब के और मेरे बीच पूरी मित्रता और शान्ति है और उनके इच्छानुसार मैं अपनी सेना के साथ* मुर्शिदाबाद जा रहा हूं।

९ मार्च को क्लाइव चन्दननगर की फ्रेंच कौंसिल को विश्वास दिलाता है कि इस समय आपसे लड़ने-झगड़ने का मेरा तो कोई इरादा नहीं।

१३ मार्च को वह चन्दननगर के प्रधान मो० रेनाल्ट को सूचित करता है कि अगर आप वहां का किला हमारे हवाले नहीं कर देते तो लड़ाई रुकने की नहीं।

१४ मार्च को उसने चढ़ाई कर ही दी। २२ मार्च को क्लाइव ने सिराजुद्दौला को लिखा कि अब तक तो हमारी ओर से बंदूकें ही चली हैं, पर कल से तोपें भी चलने वाली हैं। तोपों की बाढ़ शुरू होने के दो ही एक घंटे बाद फरासीसियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और किले पर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

संक्षेप में फरासीसियों की पराजय की यही कहानी है। इसकी पृष्ठभूमि में दोनों ओर से जो पैंतराबाजी हो चुकी थी उसका भी कुछ वर्णन मिलता है और यहां दे देने लायक है।

फरासीसी प्रतिनिधि मो० ला लिखता है:—

"मैं प्रतिदिन दरबार में जाता और प्रतिदिन आश्वासन पाकर

---

* सिराजुद्दौला अहमदशाह अबदाली द्वारा बिहार-बंगाल पर आक्रमण की आशंका से पटने जाने वाला था और क्लाइव की फौज के लिए एक लाख रुपये माहवार देना स्वीकार कर उसे मुर्शिदाबाद बुला चुका था। पर १५ मार्च को ही उसने क्लाइव को लिखा कि उसे आश्वासनात्मक पत्र मिल चुका था और उसने पटने जाने का विचार त्याग दिया था।

वहां से लौटता। मेरे सामने नवाब ने ऐसे आदेश दिये जिनसे मुझे विश्वास हुआ कि सरकारी सेना फरासीसियों के सहायतार्थ चन्दननगर जाने ही वाली थी। उसकी ओर से वाट्सन और क्लाइव दोनों को कई पत्र भेजे गये। नवाब ने लिखवाया कि 'सम्राट् की इच्छा है कि इस देश में विदेशी व्यापारी झगड़ा-फसाद न करें। शान्ति-रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। अगर अंगरेजों ने चन्दननगर पर चढ़ाई कर दी तो मैं उनका विरोध किये बिना न रहूंगा।' उसे कंपनी की ओर से नाना प्रकार के उत्तर मिले। किसी में तो यह लिखा था कि आपकी आज्ञा हमारे लिए शिरोधार्य है। किसी से यह भाव प्रकट होता था कि हम अभी कुछ कह नहीं सकते। किसी की शैली ऐसी थी मानो अंगरेज मालिक हों और सिराजुद्दौला नौकर। अंगरेज सिराजुद्दौला को अपनी बात की याद दिला कर कहते जाते कि आप हमारे शत्रुओं को अपने शत्रु समझने के लिए वचनबद्ध हैं, आपको अब अपने उस वचन का पालन करना होगा। सिराजुद्दौला का यह हाल था कि जहां किसी ने उस प्रतिज्ञा-पत्र या संधि-पत्र का नाम लिया वहां वह आग-बबूला हुआ। साथ ही उसे यह बात भूली न थी कि अंगरेज उसे कुश्ती में पछाड़ चुके थे। इसलिए जहां क्रुद्ध होता वह मन ही मन भयभीत भी। अंगरेजों को उसकी इस कमजोरी का पता था और वे इससे जो लाभ उठा सकते थे उठाने लगे।

"फिर भी, मुर्शिदाबाद से फौज भेजने की तैयारी हो चुकी थी, सैनिकों को वेतन मिल चुका था, कूच का डंका भर बजने की देर थी। मैंने नवाब के पास जाकर कहा कि अगर आपकी सहायता से चन्दननगर सुरक्षित रहा तो मैं एक अच्छी रकम आपकी नजर

करूँगा। और अधिकारियों को भी इनाम-इकराम देने का वादा किया। मैंने कहा कि अगर सेना के पहुंचने में तनिक भी विलंब हुआ तो अंगरेज चन्दननगर पर घेरा डाले बिना न रहेंगे, और अनुरोध किया कि जो सेना के नायक की हैसियत से जाने वाला है उसे इसी दम कूच कर देने का हुक्म मिल जाय। पर इसके उत्तर में नवाब ने यही कहा कि 'सब कुछ तैयार है, पर मेरी राय है कि उस ओर कदम उठाने से पहले एक बार फिर कोशिश की जाय कि तकरार न बढ़े। अंगरेजों का अभी अभी एक खत मिला है जिसमें उन्होंने लिखा है कि हम आपका हुक्म मानने के लिए तैयार हैं। ऐसी हालत में मैं यह मुनासिब समझता हूं कि लड़ाई न होने देने के लिए अपनी ओर कोई भी दकीका बाकी न रखा जाय।'

"मैं फौरन ताड़ गया कि यह सेठों की करतूत थी। वे झूठीं बातें कह कह कर नवाब को भटका चुके थे। उन्होंने उससे कहा था कि अंगरेज फरासीसियों को डरा-धमकाकर उनसे केवल ऐसा समझौता कर लेना चाहते थे कि यूरोप में दोनों देशों के बीच लड़ाई होते हुए भी यहां बंगाल में दोनों तटस्थ बने रहें और आपस में लड़ाई-झगड़ा न करें। इसके साथ ही उन्होंने यह दलील भी पेश की थी कि 'आप जानते ही हैं कि अंगरेज कितने बलवान् हैं। फरासीसियों की सहायता करना अपने लिए खतरनाक है। अगर अंगरेज चन्दननगर ले लेने का निश्चय कर चुके हैं तो आप तो सेना भेज कर भी उन्हें रोक नहीं सकते और बहुत संभव है कि अंगरेजों को आप पर भी चढ़ाई कर देने का एक बहाना मिल जाय।' सेठों ने नवाब को भटकाने का काम इस खूबी से किया था कि जो बात मैं सुबह को बना आया था उस पर शाम होते होते वे हरताल लगा चुके थे।

"मैं सेठों से जा मिला। मिलते ही उन्होंने अपने रुपये की बात शुरू कर दी। बोले कि इधर आपके जिम्मे पावना बढ़ चला है और आपकी ओर से सूद भी नियत समय पर नहीं मिल रहा है। मैंने कहा कि मैं आज उसके बारे में बातचीत करने नहीं आया हूं, मैं और ही विषय में कुछ कहने आया हूं। यह विषय जितना ही हम लोगों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है उतना ही आप लोगों की दृष्टि से भी, कारण कि उस कर्ज का चुकना भी उसी पर निर्भर है। मैंने पूछा कि आप हमारे विरुद्ध अंगरेजों के सहायक क्यों हो रहे हैं? जगत्सेठ ने कहा कि बात गलत है, आप नवाब को कुछ कहलाना चाहें तो मैं कहने को तैयार हूं। अपनी सफाई देकर बोले कि मेरा तो विश्वास है कि अंगरेज चढ़ाई न करेंगे, आप निश्चिन्त रहें। मैंने कहा कि हम दोनों को अच्छी तरह मालूम है कि अंगरेजों का इरादा क्या है। चन्दननगर की रक्षा का एक ही उपाय है और वह यह कि नवाब प्रतिज्ञानुसार अपनी पलटन वहां जाने दें। जब आप हमारी मदद करने को तैयार हैं तो नवाब से कह कर उस पलटन को फौरन रवाना करा दें।' उन्होंने उत्तर दिया कि नवाब अंगरेजों से उलझना नहीं चाहते। फिर कुछ और बातें कहीं जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि सहानुभूति रखते हुए भी वे हम लोगों के हक में कुछ भी करने वाले न थे।

"रंजीतराय—जो उनका विशिष्ट कर्मचारी और अंगरेजों का वकील था—पास ही बैठा था। उसने मुझसे व्यंग्यपूर्वक कहा कि 'आप तो फरासीसी हैं, फिर आप अंगरेजों से क्यों डरते हैं? अगर अंगरेज चढ़ाई कर बैठें तो आप इसका जवाब दीजिए और अपने आपको बचाइए। दक्षिण की ओर आपके देशवासी जो वीरता दिखा

चुके हैं उसे कौन नहीं जानता ? अपनी वही वीरता यहां भी दिखा-इए।' मैंने कहा कि, 'किसी बंगाली से तो मुझे आशा न थी कि वह लड़ाई के मैदान में वीरता देखने को इतना उत्सुक होगा। पर कभी कभी ऐसी उत्सुकता रखने वाले को पछताना ही हाथ लगता है।' वैसे शख्स के लिए यही काफी था, पर मैंने देखा कि उस मजलिस में कोई भी मुझे दाद देने वाला न था। फिर भी सेठों ने बातचीत में सौजन्य ही दिखाया। अन्त में उनसे छुट्टी मांग कर मैं चला गया।

"सेठों की बातचीत में कृत्रिमता न थी। कम से कम उस समय तक स्थिति ऐसी ही थी। वे चाहते थे क्रांति। और क्रांति फरासी-सियों को नष्ट किये या उन्हें पंगु बनाये बिना सफल नहीं हो सकती थी। दूसरी ओर यह बात भी थी कि हम उनके बहुत बड़े देनदार थे। अंगरेजों की चन्दननगर पर चढ़ाई से उनका चिंतित होना स्वाभाविक ही था। मेरा तो खयाल है कि शुरू में जगत्सेठ इतना ही चाहते थे कि हमें डरा-धमका कर अंगरेजों के और हमारे बीच वह संधि या समझौता करा दें जिसका अंगरेजों की ओर से प्रस्ताव किया जा चुका था। इस अनुमान की पुष्टि करनेवाली एक बात मुझे याद आती है। सिराजुद्दौला की उग्र प्रकृति की चर्चा चली। उन्होंने कहा कि उस उग्रता का जैसा कटु अनुभव हमें है वैसा ही आपकी कंपनी को भी हो चुका है। मैंने कहा कि मैं आपका मतलब समझ गया—आप किसी और को ही यहां की मसनद पर बैठाना चाहते हैं। उन्होंने मेरी बात का खंडन न कर बहुत ही धीमे स्वर में कहा कि यह बात खुले आम कहने की नहीं। अमीचन्द भी मौजूद था, वही अमीचन्द जो अंगरेजों का पिट्ठू होते हुए भी जहां जाता वहां यही कहता कि 'कम्बख्त चले जाते तो अच्छा होता'। अगर मेरा

कहना गलत होता तो सेठ-बन्धु उसका खंडन किये बिना न रहते। बल्कि मुझे भला-बुरा भी कहते। अगर वे मुझे अपना विरोधी समझते तो भी वही बात होती। पर सेठों की दृष्टि में हमारी स्थिति भिन्न थी। नवाब हमें भी तंग कर चुका था; हम भी उसकी मदद करने से बारबार इनकार कर चुके थे—इसलिए सेठों की धारणा थी कि अगर अंगरेजों ने लड़ाई नहीं की तो फरासीसी क्रांति के ही पक्षपाती निकलेंगे। उस समय तक सेठ हमें अपने शत्रु नहीं समझते थे। हो सकता है कि उनका यह सच्चा विश्वास रहा हो कि अंगरेज़ हम पर आक्रमण न करेंगे। पर जब अंगरेजों की ओर से लड़ाई शुरू हो गई तब वे करते ही क्या? जगत्सेठ के लिए उनका विरोध करने का अर्थ आत्मघात करना होता। अंगरेजों के लिए उन्हें इतना समझा देना कुछ कठिन काम न था कि हमारे चंदननगर ले लेने में आपकी भी भलाई है, क्योंकि उसके बाद ही हम सिराजुद्दौला पर प्रहार कर सकेंगे। संभव है अंगरेजों ने यह भी कहा हो कि नये नवाब के मसनद पर बैठ जाने के बाद फरासीसियों को व्यापार करने की स्वतंत्रता फिर दे दी जायगी। आवश्यकता पड़ने पर अंगरेज हमारे कर्ज की जिम्मेवारी भी अपने ऊपर ले ही सकते थे।"

मों० ला की जीवन-स्मृति में यह उल्लिखित होने पर भी, आज यह जानना कठिन क्या असंभव है कि उस दिन महिमापुर में सेठों से सचमुच उसकी क्या बातें हुई थीं। न जगत्सेठ का ही कोई बयान मिलता है न और किसी उपस्थित व्यक्ति का ही। हो सकता है कि ला ने कुछ बातें घटा-बढ़ा कर लिखी हों। मि० लिट्ल का कहना है कि सिराजुद्दौला पर प्रहार करने-कराने के सम्बन्ध में जो कुछ निश्चित हुआ वह चंदननगर पर अंगरेजों का अधिकार हो जाने के

बाद। पर उनका कयास है कि मो० ला की मुलाकात से पहले ही जगत्सेठ कर्ज की रकम को बट्टाखाते में डाल चुके थे। अर्थात् उन्हें मालूम था कि अंगरेज चंदननगर ले लेने वाले थे और इसके फलस्वरूप उनकी रकम डूब जाने वाली थी। "मो० ला से वास्तविक स्थिति छिपा कर वह उसके साथ वैसा ही कपट-व्यवहार कर रहे थे जैसा कि आवश्यकतानुसार वह स्वयं नवाब* के और अंगरेजों के—और अंगरेज दूसरों के साथ कर रहे थे या करने वाले थे।" बात चाहे जो रही हो, जगत्सेठ ऐसे मूर्ख न थे कि एक ओर अंगरेजों की मदद करते और दूसरी ओर अपने ही तेरह लाख रुपये से बाज आते। ऐसा होता तो वह व्यवसायी न कहे जाते। वास्तव में उन्होंने फरासीसियों के कासिमबाजार से प्रस्थान करने से पहले उनका माल बंधक रखा लिया। पीछे उस माल के लिए जब गोदामों की जरूरत पड़ी तब उन्होंने कासिमबाजार के डच प्रधान वर्नेट को कहलाया, पर इसने गोदाम नहीं दिये। हुगली से डच कंपनी के डाइरेक्टर ने ९ अप्रैल को उसे लिखा कि "फतहचन्द के उत्तराधिकारी फरासीसियों से जो माल गिरवी करा चुके हैं उसके लिए तुमसे गोदाम मांग रहे हैं और तुमने देने से इन्कार कर दिया है, यह बात मालूम हुई। तुमने ठीक काम किया, वर्ना अंगरेज यह कह सकते थे कि हम लोगों ने फरासीसियों का माल अपने गोदामों में छिपा दिया था। हर्गिज जगत्सेठ को गोदाम न देना। उनके अनुरोध की रक्षा न कर सकने

* कम्पनी और सिराजुद्दौला के बीच संधि हो जाने पर, रंजीत राय नवाब की ओर से कुछ उपहार के साथ कलकत्ते भेजा गया था। वहां क्लाइव ने उससे कहा कि नवाब से हमें चन्दननगर पर चढ़ाई करने की इजाजत दिला दीजिए। पर रंजीतराय ने हाँ नहीं किया। इससे तो यही जान पड़ता है कि जगत्सेठ क्लाइव के प्रस्ताव के विरोधी नहीं तो समर्थक भी नहीं थे।

का कारण यह बता देना कि गोदाम खाली ही नहीं या और कोई बहाना कर देना।" हम आगे देखेंगे कि उस माल से ही जगत्सेठ का रुपया न पटा और बाकी रुपये की जिम्मेवारी अंगरेजों को ही अपने ऊपर लेनी पड़ी।

महताबराय और स्वरूपचंद से मिलने के दूसरे ही दिन सुबह ला सिराजुद्दौला से मिला और उसे यह बताना चाहा कि क्या क्या चालें चली जा रही थीं और उन चालों का वास्तविक उद्देश क्या था। पर सिराजुद्दौला ने उसकी बात हंस कर ही उड़ा दी। फिर शाम को वह दरबार में गया और नवाब से मिला। वाट्स भी वहीं था। नवाब के सामने दोनों के बीच सुलह की बातचीत होने लगी। उसके पास वाट्सन का पत्र पहुंच चुका था और वह उसका उत्तर भेजना चाहता था। मो० ला के मुंह से निकल गया कि आप चाहे जो लिखें, वाट्सन उस पर कुछ भी ध्यान न देगा। सिराजुद्दौला तमतमा गया। बोला कि तो मैं तुम लोगों की निगाह में कुछ भी नहीं! उसी दम अपने मुंशी को बुलवाया और कहा कि जवाब लिखो। इस मुंशी को वाट्स चटाता आ रहा था। फौरन मसौदा बना कर ले आया और नवाब ने उसे मंजूर कर खत भिजवा दिया। उसके अखीर में लिखा था कि, "आप समझदार हैं, और उदार भी। अगर आपका शत्रु शुद्ध हृदय से प्राण-भिक्षा माँगता है तो आपको उसकी जान नहीं लेनी चाहिए। पर वह भिक्षा उसे तभी मिल सकती है जब वह निश्छल हो। अगर वह आपको इसका विश्वास नहीं दिला सकता तब आप जो कुछ उचित समझें कर सकते हैं"। इन अन्तिम शब्दों का अर्थ कलकत्ते में यह लगाया गया कि नवाब ने आक्रमण करने की अनुमति दे दी थी। १४ मार्च को क्लाइव ने

चन्दननगर पर घेरा डाला और २३ मार्च को शहर पर कब्जा कर लिया।

अब कासिमबाजार की बारी आई। वहां थोड़े से फरासीसी फरासडांगा में रहते थे। मो० ला ही उनका मुखिया था। वाट्सन और क्लाइव इस बात पर ज़ोर देने लगे कि या तो फरासीसी उनके हवाले कर दिये जायँ या अंगरेजों को उन्हें कैद कर लेने दिया जाय। सिराजुद्दौला को फिर दबना पड़ा। ला ने उसकी नौकरी* कर ली थी। उसने नवाब से कहा कि आप मुझे यहां से न हटावें, जब तक मैं यहां हूँ कोई आपका कुछ कर नहीं सकता, पर मेरे हटते ही आपके दुश्मन आप पर टूट पड़ेंगे। सिराजुद्दौला भी मन-ही-मन समझता था कि उसकी बातों में बहुत कुछ सचाई थी, पर वह लाचार था। अंगरेज तो धमका ही रहे थे, जगत्सेठ और दूसरे सलाहकारों ने भी कहा होगा कि ला को रहने देने में खतरा है। अन्त में उसने ला से मुर्शिदाबाद छोड़ देने को कहा। ला ने न तो चन्दननगर जाना स्वीकार किया, न चिचुरा (चिंसुरा), न कलकत्ते, यद्यपि वाट्स का आग्रह था कि उसे अन्यत्र जाने न दिया जाय। सिराजुद्दौला ने उसे पटने जाकर रहने को कहा और जब वह १६ अप्रैल को चलने लगा तब उसे यह आश्वासन दिया कि परिस्थिति बदलते ही मैं तुम्हें बुलवा लूंगा। ला ने कहा कि "मुझे बुलवाने की बात तो मन से निकाल ही दीजिए। यही हम दोनों की आखिरी मुलाकात है। मेरे ये शब्द

---

* "मुताखरीन"। १८ अप्रैल को वाट्स क्लाइव को लिखता है कि 'मैं कह नहीं सकता कि ला और इसके साथी नवाब से कुछ वेतन पाते हैं या नहीं। जगत्सेठ और मानिकचन्द कहते हैं कि नहीं पाते। पर मुझे खबर मिली है कि पाते हैं।'

याद रखिएगा कि हमारा फिर मिलना असंभव* है।" ला ने लिखा है, "अंगरेजों के बारबार धमकाने और जगत्सेठ के समझाने-बुझाने का फल यह हुआ कि मुझे मुर्शिदाबाद छोड़ना पड़ा। मेरे आश्चर्य की तब सीमा न रही जब नवाब ने मुझे बुलवा कर अपने वादों के खिलाफ यह कहा कि अगर तुम्हें आत्मसमर्पण कर देना स्वीकार नहीं तो फौरन बंगाल छोड़ दो।"

वाट्स अपने १६ अप्रैल के खत में क्लाइव को लिखता है कि, "आज फरासीसी शहर होते हुए चले गये। उनके दल में १०० फिरंगी, ९० तिलंगे, ९० छकड़े और ४ हाथी थे। मैंने उसके साथ दो जासूस लगा दिये हैं कि जितने सिपाहियों को फोड़ सकते हों फोड़ कर ले आवें।"

वाट्स को ऐसे काम खूब ही आते थे। उसकी कूटनीति-निपुणता का एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। कुछ और उदाहरण देने लायक हैं। अमीचन्द और नन्दकुमार दोनों से ही उसकी बड़ी घनिष्ठता हो चली थी और वह दोनों का ही यथेष्ट उपयोग करने लगा था। २६ मार्च को वह लिखता है कि, "अमीचन्द जी-जान से कंपनी की खिदमत करता रहा है। हम लोगों से पुरस्कार पाने योग्य ऐसा व्यक्ति दूसरा नहीं। बराबर मेरे साथ रहता है और उसकी सूझ-बूझ का मैं ऐसा कायल हूँ कि हर काम में उसकी सलाह लेता हूँ।" नन्दकुमार को भी पुरस्कार-योग्य बताता हुआ वह ५ अप्रैल को क्लाइव से सिफारिश करता है कि, "अगर नन्दकुमार आपसे फिर मिले और आप मुनासिब समझें तो उससे इतना कह दें कि 'गुलाब का फूल' ताजा बना हुआ है। पर अमीचन्द की और मेरी अपनी भी

* "मुताखरोन।"

राय यह है कि अभी उसे गुलाब सूंघने न दें। केवल यह आशा दिला दें कि अमीचन्द के साथ उसका जो समझौता हुआ था अगर वह उसके अनुसार काम करता रहा तो हम यथासमय अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर देंगे।" अपने उसी पत्र में वह क्लाइव को सलाह देता है कि आप जगत्सेठ के गुमाश्ते को कलकत्ते और उनके दूसरे गुमाश्ते बैजनाथ को हुगली बुलवा लें और जो शिकायत करनी है कर दें। उसका विश्वास है कि जगत्सेठ का ध्यान उन बातों की ओर आकर्षित होते ही वह सब कुछ ठीक करा देंगे। वाट्स को खबर मिल चुकी थी कि जिस समय सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर घेरा डाला था उस समय बैजनाथ ने कंपनी का कुछ माल आधे दाम पर खरीद लिया था। वह उससे बाकी आधा दाम वसूल कराना चाहता था।

क्लाइव और दूसरे अधिकारियों को वाट्स बराबर सिराजुद्दौला के विरुद्ध उभाड़ता रहता था। १४ अप्रैल को वह वाल्श को लिखता है कि, "चन्दननगर पर हम लोगों का अधिकार हो जाने से पहले रंजीतराय और दूसरों के सामने नवाब ने मुझे यह धमकी दी थी कि तुम्हारा सिर कटवा दूंगा। कल भी वही बात हुई। जगत्सेठ, मानिक-चन्द, खोजा वजीद, मीर अब्दुल कासिम, रंजीतराय और अमीचन्द के सामने उसने फिर वही धमकी दी। मैं इस बात का ढिंढोरा पीटना नहीं चाहता। जो कुछ लिख रहा हूँ सिर्फ आपकी और कर्नल क्लाइव की जानकारी के लिए। नवाब की धमकी की मुझे जरा भी परवा नहीं। मेरी रक्षा के लिए आप जो भी कार्रवाई करना मुनासिब समझें जोरों से करें।"

वाट्स के सहायक के रूप में एक अंगरेज ढाके से कासिमबाजार भेजा गया जिसका नाम ल्यूक स्क्राफ्टन था। वह भी प्रपंची था,

साथ ही वाट्स से कहीं अधिक धृष्ट था। वाट्स से उसकी बनती भी कम थी।

सिराजुद्दौला अपनी प्रत्येक प्रतिज्ञा पूरी कर चुका था—प्रतिज्ञा-पत्र में जो सीमा निर्धारित थी उससे भी कहीं आगे जा चुका था। उदाहरणार्थ, १७ मार्च को वाट्स कलकत्ते की सेलेक्ट कमिटी को लिखता* है कि "नवाब ने जगत्सेठको आज्ञा दी है कि हर्जाने की मद में मुझे बीस हजार मोहरें† दे दें। जगत्सेठ खजाने से रुपये मिलने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, मिलते ही मुझे दे देंगे। जो रुपया बाकी रहेगा वह कल मिल जायगा। नवाब ने मुत्सद्दियों को भी आज्ञा दी है कि कासिमबाजार फैक्टरी का जो माल जब्त है वह मुझे लौटा दें। संधि-पत्र के अनुसार जहां-तहां परवाने भेज देने की आज्ञा भी मुंशियों को मिल चुकी है। नवाब ने यह भी कहा है कि फर्रुखसियर के फरमान के अनुसार हम लोगों को जो ३८ गांव मिलने वाले थे उन्हें

---

* अपने इसी पत्र में वाट्स लिखता है—

"रंजोतराय ने गवर्नर, कर्नल क्लाइव और मुझसे कहा था कि वकील की हैसियत से उसने कंपनी को जो तीन लाख रुपये दिलाये हैं उस पर उसे दस फी सदी कमीशन मिलना चाहिए, क्योंकि यहां दस्तूर है कि, "ये लोग" नवाब को जो कुछ देते-दिलाते हैं उसपर इन्हें यही कमीशन मिलता है। अगर मैं भूलता न तो रंजोतराय को इतना देना आपने मंजूर कर लिया था। मेरी भूल हो तो आप मुझे सूचित करें। हर हालत में उसे दस फी सदी कमीशन तो दे ही देना चाहिए। आदमी समझदार है। साथ ही प्रभावशाली है। नवाब की उस पर बड़ी कृपा रहती है। उससे हम लोगों का बहुत कुछ काम निकल सकता है। उसकी सहायता से बहुत सी विघ्न-बाधाएं दूर हो जायंगी—नवाब के मंत्री हमारे मार्ग में रोड़े न अटकायंगे।"

† उस समय एक मोहर की कीमत १५ या १६ रुपये थी।

भी आप लोग जमींदारों से खरीद लें। अगर जमींदारों को डर हो कि इस में नवाब को किसी प्रकार की आपत्ति होगी तो आप मुझे लिखें, मैं यहां से परवाना भिजवा दूंगा। नवाब ने यह भी कहा कि आप जब चाहें टकसाल खोल सकते और सिक्कों की ढलाई करा सकते हैं।"

सिराजुद्दौला फरासीसियों को हटाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध न था। उसके राज्य में जैसे अंगरेज, डच या डेन रह सकते और व्यापार कर सकते थे वैसे ही फरासीसी भी। फिर भी उसने अंग्रेजों से डर कर और जगत्सेठ जैसे मुसाहबों की बात मानकर फरासीसियों को सेवक तक रहने नहीं दिया था। जब मो० ला मुर्शिदाबाद से चला गया तब उनकी ओर से कहा जाने लगा कि आखिर तो वह बिहार में ही कहीं है और नवाब से तनखाह भी पा रहा है।

एक ओर यह सब हो रहा था, दूसरी ओर षड्यंत्र की खिचड़ी पक रही थी। पकानेवालों में प्रमुख थे जगत्सेठ, मीर जाफर, राजा दुर्लभराम, अमीचन्द, वाट्स, और क्लाइव*। इनमें जगत्सेठ का नाम सबसे पहले लेने लायक था। मो० ला लिख गया है कि मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि "जो क्रांति हुई उसे कराने वाले जगत्-सेठ ही थे। अगर वह सहायक न होते तो अंग्रेजों को जो सफलता प्राप्त हुई है वह न हो पाती।" ला के कथनानुसार जगत्सेठ दुरंगी चाल चलने लगे थे। नवाब से कुछ कहते, अंग्रेजों को कुछ और कहलाते। नवाब से अंग्रेजों की बुराई करते और कहते कि उनकी बात हर्गिज नहीं माननी चाहिए। अंगरेजों को कहलाते कि

---

* वाट्सन क्लाइव की तरह फरेबी या फितूरी न था। उसे षड्यंत्र का फल मालूम भी हुआ तो कुछ समय बाद। स्क्राफ्टन को वाट्स पेट की बात तो न बताता था, पर सुन-गुन से ही वह बहुत कुछ जान लेता था।

नवाब की नीयत खराब है, उसे मौक़ा मिका कि उसने आप लोगों पर वार किया। ला ने लिखा है कि, "एक बार ऐसा हुआ कि जगत्सेठ ने कोई कागज दिखा कर नवाब से कहा कि अंगरेजों की फलां फलां बात तो आप स्वीकार कर चुके हैं। नवाब बोला कि हर्गिज नहीं, आपने जो कुछ लिखा है गलत है। उस कागज़ पर जगत्सेठ की मोहर थी। जब उन्होंने नवाब का रंग-ढंग खराब देखा तब मुकर कर यह कह दिया कि कागज पर मोहर रंजीतराय ने लगा दी। नतीज़ा यह हुआ कि रंजीतराय दरबार से ही नहीं, मुर्शिदाबाद से भी निकाल दिया गया और रास्ते ही में मार डाला गया। उस समय लोग कहते थे कि अंगरेजों से दो लाख रुपये लेकर उसने उस कागज पर जगत्सेठ की मोहर लगा दी थी। मुझे यह विश्वास नहीं होता। रंजीतराय अंगरेजों की सहायता करता था तो इसीलिए कि उसके मालिक अंगरेजों के तरफदार थे।"

ला की कहानी में रंजीतराय के मारे जाने की बात कपोल-कल्पित ही थी, कारण कि वह पलासी के युद्ध के बाद भी जीवित था। इतना अवश्य था कि महिमापुर में और दरबार में महताबराय का रूप या नीति एक न होने के कारण उन्हें बराबर असलियत और बनावट के बीच की अवघट घाटी से गुजरना पड़ता था। अगर सिराजुद्दौला बारूद के ढेर पर बैठा न होता तो वैसे वैभवशाली व्यक्ति को कभी यह काम करने का साहस न होता।

मो० ला के कूच करने से पहले ही अंगरेजों की सहायता से उस ढेर में आग लगा देने की बात चली, पर वाट्स सहमत न हो सका। अपने ११ अप्रैल के पत्र में उसने क्लाइव को लिखा:—

"एक विषय ऐसा है जिस पर अमीचन्द से मेरी कई बार बातें हो चुकी हैं, पर समझ में ही नहीं आता था कि आपको कुछ लिखूं तो कैसे। स्क्राफ्टन से सारी बात बताई तो उसने यही कहा कि अमीचन्द और तुम मिल कर कंपनी के लिए जो कुछ कर रहे हो वह कर्नल को और मेजर को पसन्द ही पड़ेगा।

"मुझे इस बात का आभास मिला है कि कमिटी से यह प्रस्ताव किया जावेगा कि वह अपनी फौज इधर भेज दे। मुझे आशा है कि कंपनी ऐसा कोई प्रस्ताव स्वीकार न करेगी। फौज भेजने का अर्थ होगा संधि-भंग करना। नवाब ने अभी तक कोई काम ऐसा नहीं किया है जो संधि के प्रतिकूल कहा जा सके। आलोचना हो सकती है तो यही कि उसकी रफ्तार उतनी तेज नहीं जितनी हम चाहते हैं। पर अगर हमारी ओर से वैसी कार्रवाई हुई तो मुल्क में बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। और हम एक साल तक कुछ भी माल न खरीद सकेंगे, जिसका नतीजा कंपनी के लिए बहुत ही बुरा होगा। जब तक नवाब निर्विवाद रूप से संधि-भंग नहीं करता तब तक हमें इस प्रान्त में समराग्नि प्रज्ज्वलित नहीं करनी चाहिए। पर उसे प्रज्ज्वलित करने में ही अपनी भलाई हो तो मेरी राय यह होगी कि पहले मुफस्सल से अपना माल-असबाब हटा लिया जाय।"

१६ अप्रैल तक वाट्स हाथ धोकर फरासीसियों के पीछे पड़ा रहा। जब उन्हें भगाने में सफलता प्राप्त हो चुकी तब उसने और ही काम की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। परिस्थिति के साथ उसका अपना विचार भी बदल चला और कंपनी की ओर से वह भी षड्यंत्र में भाग लेने लगा। १८ अप्रैल को स्क्राफ्टन कासिमबाजार से लिखता है कि :—

"दो-तीन दिन से अमीचन्द बहुत बीमार है। मैं कल रात मिजाज पूछने गया था। प्रायः एक घंटा उसके पास बैठा रहा। उसके कहने के अनुसार वर्तमान परिस्थिति यह है।

"नवाब का खयाल है कि उसने हमारी जो क्षति की है उसे हम कभी भूल नहीं सकते। वह हमें विश्वास के योग्य नहीं समझता। जब तक उसे डर है तब तक कहने के लिए हमारा दोस्त बना हुआ है। इस आशंका से कि हमारे जहाज ढाका होकर उधर पहुँच जायेंगे, वह मूर्च्छी नदी का मुंह बंधवाने जा रहा है। फरासीसियों से उसका मेल है और उसकी फौज तैयार बैठी है। जगत्सेठ, रंजीतराय और कई दूसरे व्यक्ति वाट्स से कह चुके हैं कि, 'जब जब वह दरबार से चलने लगा है, तब तब नवाब ने उसकी ओर नजर कर कहा है कि तेरा सिर तो मुझे कटवाना ही है।' ज्योंही फरासीसी अपनी सेना तैयार कर लेंगे त्योंही नवाब उनकी ओर हो चलेगा। इस समय अफगानों के आक्रमण की आशंका है। बनारस से लोग भाग भाग कर पटने आ रहे हैं और पटने के लोग यहां भाग आने के लिए नावों का प्रबन्ध करा रहे हैं। जब तक अफगानों के आने का डर बना है तभी तक नवाब का यह रुख है। अगर अफगान आ गये तो वह हम पर और भी निर्भर करने लगेगा और अपना माल-खजाना भी हमें सौंप देगा। पर अगर अफगान न आये तो वह रंग बदले बिना न रहेगा।

"अमीचन्द की सलाह है कि उस हालत में हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि जहां नवाब किसी शर्त के जरा भी खिलाफ कुछ करे वहां हम उससे लड़ाई-झगड़ा कर और ही किसी को मसनद पर बैठा दें। इसके लिए यार लुत्फ खां विशेष उपयुक्त

होगा। एतबार करने लायक है और जगत्सेठ भी उसकी पीठ पर हैं। दो हजार अच्छे सवारों के साथ वह हमारी ओर हो जायगा। मानिकचन्द भी सहायक होगा। वास्तव में यहां के सभी प्रभावशाली व्यक्ति सिराजुद्दौला के विरुद्ध हो रहे हैं और उसकी हस्ती मिटने की राह देख रहे हैं। अमीचन्द की एक योजना है जिससे मानिकचन्द और नन्दकुमार के जरिए, हमें उन ३८ गांवों के बदले और बहुत-कुछ जमीन हाथ लग सकती है। एक पखवारे में ही यह मालूम हो जायगा कि अफगानों का रंग-ढंग क्या है। अमीचन्द के व्यवहार की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। काम में इतना चुस्त आदमी तो मैंने देखा ही नहीं। वाट्स भोला-भाला है। नन्दकुमार जहां है वहां बना रहेगा।"*

जान पड़ता है कि आरंभ में मीर जाफर ने किसी कारणवश स्वयं नवाब बनने की अनिच्छा प्रकट की थी, इसलिए जगत्सेठ ने खुदायार (खुदा दाद ?) लुत्फ† खां नामक सरदार को मसनद पर बिठाना निश्चित किया था। वह और उसके सवार जगत्सेठ के रक्षक थे और उनसे वेतन पाया करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह विद्रोह करने के लिए कमर कस चुका था।

२० अप्रैल को स्क्राफ्टन लिखता है:—

"अभी समय नहीं हुआ है, इसलिए सिराजुद्दौला को प्रसन्न रखना ही अच्छा है। अमीचन्द जगत्सेठ के पास गया हुआ है। मैं जानता हूँ कि जगत्सेठ ने उसे किस मतलब से बुलवाया है। वह उसे

---

* स्क्राफ्टन वाल्श को अपने पत्र संकेत-भाषा में लिख कर भेजा करता था। वाल्श उसका अंगरेजी में रूपान्तर कर क्लाइव को दे दिया करता था। स्क्राफ्टन के लिए संकेत था "२०"।

† अंगरेज इसे "लती" कहते थे।

"लत्ती" को नवाब बनाने की बात बताना चाहते हैं। कंपनी के हित के उद्देश से मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगर आप मुझे अधिकार दें तो मैं दस दिन में ही यह निश्चित करा दूँ कि आपके कलकत्ते से रवाना होने के दो ही दिन बाद यहां से बहुत बड़ी फौज आपके पास पहुँच जायगी। आप अपनी शर्तें लिख भेजिए, मैं जी-जान से कोशिश कर उन्हें मंजूर करा लूंगा। मैं आज ही रात "लत्ती" से मिलने वाला था, पर उसने मनाही करा दी है।"

इससे पहले यह हो चुका था कि अंगरेजों का वकील कोई अर्जदाश्त ले कर सिराजुद्दौला के पास गया तो उसने उसको दरबार से निकलवा दिया और कहा कि आये दिन अंगरेज फरासीसियों के बारे में कुछ न कुछ लिखते ही रहते हैं, मैं उनका कोई आवेदन-पत्र पढ़ना नहीं चाहता। फिर भी उसने क्लाइव को लिखवा दिया कि अगर फरासीसी फौज ले कर चढ़ आये तो मैं अंगरेजों की मदद जरूर करूँगा। इसलिए स्क्राफ्टन क्लाइब को सलाह देता है कि 'नवाब को धन्यवाद भेज दीजिए और धीरज धरिये। कुछ ही दिनों में काम का अंजाम हो जायगा।'

दूसरे ही दिन स्क्राफ्टन ने क्लाइव को लिखा कि सिराजुद्दौला अपनी फौज बढ़ाता जा रहा था और दो रोज पहले मीर जाफर को अंगरेजों पर धावा बोलने का हुक्म भी दे चुका था। फिर जब उसको इसमें खतरा नजर आया तो उस हुक्म को रद्द कर दिया और अंगरेजों के वकील को बुलवा कर उसे पान-सुपारी भी दी। स्क्राफ्टन ने यह सूचना भी दी कि पलासी में जो अमराई थी वह सिराजुद्दौला की आज्ञा से काटी जा रही थी और अंगरेजों के जहाजों को भागीरथी में न आने देने के लिए उसके उद्गम के पास नदी बालू से भरी जा रही

थी। फिर भी स्क्राफ्टन का विश्वास था कि इन सब बातों का अन्त 'हमारे हक में अच्छा ही होने वाला है।'

२३ अप्रैल को वाट्स ने क्लाइव को लिखा कि अफगान बंगाल की ओर बढ़ते आ रहे थे और बिहार में मई का राजा* बगावत का झंडा उठा चुका था। अमीचन्द को पक्की खबर मिल चुकी थी कि बागियों के और नवाब की फौज के बीच पटने के पास लड़ाई होने ही वाली थी।

"अमीचन्द मेरी सलाह से मीर खुदायार लुत्फ खां के पास गया था। "लत्ती" ने कहा कि अगर नवाब के और कंपनी के बीच लड़ाई हुई तो मैं कंपनी का साथ दूंगा, बशर्ते कि वह मुझे नवाब बनने दे। उसने स्वीकार किया कि उस हालत में वह हमें कलकत्ते के पास बहुत कुछ जमीन दे देगा और सैनिक व्यय के लिए बहुत कुछ धन भी।"

अमीचन्द का प्रस्ताव था कि क्लाइव सिराजुद्दौला को ऐसा पत्र लिख दे जिससे वह निश्चिन्त हो जाय और लड़ाई पर बिहार चला जाय। उनका और खुदायार खां का यह भी कहना था कि फरासीसी उससे वेतन पा ही रहे थे, और बिहार छोड़ कर जाने वाले न थे। अपने पत्र के अंत में वाट्स ने लिखा था कि, 'इस समय फरासीसियों के दल में मेरे पांच जासूस हैं। एक और विश्वासी आदमी को भेजने जा रहा हूँ जो पटने तक उनके साथ रहे और वे क्या करते-धरते हैं इसकी खबर, मुझे रोज देता रहे।'

२४ अप्रैल को स्क्राफ्टन ने संकेत-भाषा का प्रयोग न कर सीधे क्लाइव को अंगरेजी में लिखा कि, "अमीचन्द के मस्तिष्क में कोई

---

* नरहत समाई का जमींदार कामगार खां मई।

बड़ी योजना है । कल उसने मुझसे कहा कि मैं अभी भेद न खोलूंगा, कारण कि मैं शपथ-बद्ध हूँ । मेरा अनुमान है कि अमीचन्द की योजना जगत्सेठ के "लत्ती" को नवाब बनाने के विचार से संबंध रखती है । संभवतः योजना यह है कि कासिमबाजार में एक सौ सिपाही तैयार रहें और हुक्म होते ही "लत्ती" की ओर से नवाब पर टूट पड़ें । उधर आप उसी समय अपनी फौज के साथ कूच कर दें । ज्यों ही आप बागी फौज के पास पहुँचेंगे त्यों ही बहुत से जमींदार आपके साथ हो जायेंगे ।"

स्क्राफ्टन ने अपने अनुमान से क्लाइव को अवगत कर यह अनुरोध किया कि आप अमीचन्द को लिख दें कि वह मुझे सारी बात बता दे और ऐसा प्रबंध करें कि आपका खत कासिदों की मार्फत यहां 'पांच पहर' में ही पहुँच जाय ।

अगर वाट्स स्क्राफ्टन की तरह उतावलापन न दिखा रहा था तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह चुपचाप बैठा हुआ था । दरबार में कंपनी का प्रतिनिधि* वह था न कि स्क्राफ्टन और उस हैसियत से उसकी जिम्मेदारी कहीं बड़ी थी । स्क्राफ्टन की दौड़ थी तो अमीचन्द तक, पर वाट्स का सीधा सम्पर्क जगत्सेठ और मीर जाफर जैसे और भी प्रभावशाली व्यक्तियों से था । उसके सामने सब से महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि बिना किसी कारण के ही कंपनी सिराजुद्दौला पर प्रहार करे तो कैसे ? पर वह भी जानता था कि कंपनी प्रहार करने के लिए कटिबद्ध थी, इसलिए नैतिक आधार का होना न होना बराबर था । सामने जो परिस्थिति थी उसके सम्बन्ध में, जगत्सेठ,

---

* मि० लिट्ल ।

मीर जाफर आदि से विचार-विनिमय पर वह जिस नतीजे पर पहुँचा उसे क्लाइव को जताता हुआ वह २६ अप्रैल को लिखता है :—

"खबर है कि पठान उत्तर चले गये और अब नवाब मुर्शिदाबाद से कहीं जाने का विचार नहीं करता। मैंने जिस पत्र के विषय में आपको लिखा था वह अब अनावश्यक जान पड़ता है। दरबार की स्थिति को ध्यान में रखते हुए आप आगे नवाब को जो खत भेजें वह मेरी ही मार्फत भेजें। और किसी के हाथ में खत पड़ने से बात बिगड़ सकती है।

"जैसा कि आपने लिखा है—नवाब का व्यवहार ऐसा है कि उसके प्रति हमें क्या करना चाहिए यह निश्चित करना कठिन हो रहा है। जगत्सेठ, रंजीतराय, अमीचन्द और दूसरे व्यक्तियों का भी कहना है कि वह संधिपत्र पर कायम नहीं रह सकता। जहां उसे और कामों से फुरसत मिली—या आपके या अपने जहाजों के चले जाने के बाद हम लोग कमजोर पड़े—या फरासीसी उसके फिर मददगार हो गये वहां उसने हम लोगों पर वार किया। पर साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसने अभी तक संधि-भंग नहीं किया है। संधि के अनुसार हमें जो कुछ मिलना है, उसे परवाने जारी कर देता जा रहा है। हम लोगों ने चन्दननगर पर जो आक्रमण किया उससे तो उस संधिपत्र का कोई सरोकार ही नहीं। फरासीसियों को हमारे हवाले कर देने के लिए नवाब बाध्य भी नहीं। उसने आपको यह जरूर लिखा था कि हम लोग एक दूसरे के दुश्मन को अपना ही दुश्मन समझेंगे। पर यह बात संधिपत्र में नहीं, एक निजी पत्र में थी। संधि के अनुसार तो जब तक वह प्रतिज्ञा-भंग नहीं करता तब तक हम लोग भी शांति-भंग नहीं कर सकते।

"पर जब हम यह देखते हैं कि हम उस पर निर्भर नहीं कर सकते और वह भीतर-ही-भीतर हमारा शत्रु है—जब हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि वह फरासीसियों से हिला-मिला है और हमारा विश्वास है कि मौका पाते ही वह उनकी सहायता से हमें नष्ट कर देगा तब अक्लमंदी तो इसी में है कि हम भी अपनी रक्षा का उपाय करें।

"दो दिन हुए मीर जाफर ने खोजा पिट्स (अरमनी) को बुलवा कर कहा कि नवाब से सभी असंतुष्ट हैं—वह सब के साथ दुर्व्यवहार और सब का अपमान करता रहता है—मैं जब दरबार में जाता हूँ तब मुझे डर बना रहता है कि कहीं मेरी हत्या न करा दे और यही कारण है कि अपने लड़के और सैनिकों को साथ लेकर ही वहां जाता हूँ। मीर जाफर ने यह भी कहा कि नवाब संधिपत्र से आबद्ध रहने वाला नहीं—मोहनलाल इस समय बीमार है, उसके चंगा होते ही और जो सैनिक पटने गये हैं, उनके आठ-नौ दिन बाद यहां लौटते ही वह अंगरेजों पर चढ़ाई किये बिना न रहेगा।

"इसलिए, मीर जाफर ने मुझे कहलाया कि अगर आपको मंजूर हो तो वह, रहीम खां, दुर्लभराम, बहादुर अली खां आदि मिल कर नवाब को कैद कर लें और आपस में सलाह कर किसी दूसरे शख्स को गद्दी पर बिठा दें। मीर जाफर जानना चाहता है कि उस हालत में आपको कितना रुपया चाहिए—कितनी जमीन चाहिए। मेरा अपना विचार यह है कि जिस योजना की सूचना मैं पहले भेज चुका हूँ उससे यह योजना अधिक व्यावहारिक है।"

यह नई योजना अधिक व्यावहारिक इसलिए थी कि मीर जाफर के पक्ष में जितने आदमी हो सकते थे उतने खुदायार खां के

पक्ष में नहीं। जगत्सेठ उसे नवाब बनाना चाहते थे तो इसीलिए कि मीर जाफर ने अभी तक अपना नाम प्रकट होने नहीं दिया था। जब उसने देख लिया कि दाल गलने में संदेह बहुत कम रह गया है तब उसने हां कर दिया और जगत्सेठ से ले कर घसीटी बेगम तक सभी प्रधान षड्यंत्रकारी उसके पक्षपाती हो गये। "लत्ती" ने भी जगत्सेठ के कहने पर मीर जाफर की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और खुद उम्मीदवार न रह कर उसका तरफदार हो गया।

परिस्थिति में जो परिवर्तन हुआ वह यों तो अमीचन्द से गुप्त रखा गया, पर उन्हें इसकी भनक मिल ही गई। फिर स्क्राफ्टन को उसका आभास मिले बिना कैसे रह सकता था? २८ अप्रैल को वह क्लाइव को लिखता है :—

"मैंने अमीचन्द को आपका पत्र दिखाया। उसने कहा कि हम दोनों पर कुछ अधिकारियों की संदेह-दृष्टि है, अतः हमारा एकत्र न रहना ही अच्छा है। मैंने कहा कि मुझे डर है कि वाट्स की कमजोरी—

अमीचन्द—डरने की कोई बात नहीं। तीन चार दिन में ही मैं हजारीमल के साथ अपने कुटुम्ब को (कलकत्ते) भेज दूंगा। वहां वे मेरी नेकनीयती के जामिन के तौर रहेंगे। हजारीमल को मैं संकेत-भाषा में सब कुछ लिखता रहूंगा और वह तुम्हें सारी खबर देता रहेगा।

स्क्राफ्टन—कृपा कर यह तो बताइए कि बात है क्या?

अमी—नहीं, मैं शपथ ले चुका हूँ, इसलिए अभी बता नहीं सकता। पर इतना कह सकता हूं कि "लत्ती" होने वाला नहीं। और ही कोई होगा जिसके समर्थक जगत्सेठ भी हैं।

स्क्राफ्टन—आप भी समर्थन करेंगे ?

अमी—हां ।

स्क्राफ्टन—तो मैं यहां से चला जाऊँ ?

अमी—यक-ब-यक नहीं, कुछ लोग चौंक उठेंगे । ढाके तो जाओ ही मत । एक दिन और रहो ।

स्क्राफ्टन—जगत्सेठ तो दृढ़ रहेंगे ?

अमी०—अवश्य । वह भी अपने घर की स्त्रियों को दूसरी जगह भेज रहे हैं । उनके अपने सैनिक भी तो तुम्हारी ही ओर से लड़ेंगे । जो शर्तें हों, उन्हें हजारीमल को बता देना । नवाब के सैनिकों की संख्या कम-से-कम पचास हजार है ।

"मैं यह कह सकता हूं कि अगर आपसे चौबीस घंटे भी मेरी बातचीत होती तो मैं इससे अधिक कुछ भी बता न सकता । मेरा यहां अब और रहना ठीक नहीं । वाट्स मुझसे जलता है और जैसे बिल्ली चूहे की घात में रहती है वैसे ही जासूस मेरी ताक में रहते हैं ।"

वाट्स या स्क्राफ्टन के पत्रों से तत्कालीन परिस्थिति पर जो प्रकाश पड़ता है वह "मुताखरीन" जैसे इतिहास-ग्रंथ से भी पड़ना असंभव है । कारण कि उसका लेखक गुलाम हुसैन उस समय मुर्शिदाबाद से दूर था और अगर वहां होता भी तो वह यह न जान सकता कि कुल्हिया में गुड़ फोड़ने वाले रोज क्या कर रहे थे । पर उस समय की घटनाओं को एक समसामयिक इतिहासकार के दृष्टि-कोण से देखने वाले इस गवाह का बयान भी सुनने लायक है । वह लिखता है :—

"मो० ला (लास) के मुर्शिदाबाद से हटते ही सिराजुद्दौला के विरोधी पापड़ बेलने लगे। मीर जाफर और दुर्लभराम जगत्सेठ तथा अन्य विद्रोहियों से मिल गये और सब के सब सिराजुद्दौला को चित कर देने की तरकीब सोचने लगे। पर जहां वे ऐसी मंत्रणा करते वहां सिराजुद्दौला के स्वभाव की अस्थिरता और क्रूरता से बेहद डरते भी थे।

"ठीक उसी समय बीबी घसीटी भी रंगमंच पर आ गई। सिराजुद्दौला उसे मोतीझील से निकाल कर और उसकी धन-संपत्ति छीन कर उसके कलेजे में घाव कर चुका था। वह भी मीर जाफर की ओर हो गई और उसे मदद देने-दिलाने लगी। आखिर वह अलीवर्दी खां की बेटी और नवाजिश मुहम्मद खां की बेगम थी। मुर्शिदाबाद में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो उनके कृपापात्र रह चुके थे--जो बीबी घसीटी के भी कृतज्ञ बने हुए थे और उसकी विपत्ति में उससे सहानुभूति रखते थे। ऐसे सब लोगों को वह यह कहलाने लगी कि मीर जाफर और दुर्लभराम का पक्ष ग्रहण कर आप मेरे प्रति अपने कर्तव्य का पालन कीजिए। उसके पास कुछ धन भी था। मोतीझील से बहिष्कृत होने से पहले उसने कुछ सोना दास-दासियों के द्वारा और कहीं हटवा दिया था। अब वह उस धन का उपयोग मीर जाफर की सफलता के लिए करने लगी। इस सहायता से मीर जाफर षड्यन्त्र का जाल फैलाने और अपना सैनिक बल बढ़ाने लगा। जो कोई भी आदमी सिराजुद्दौला की सेना से बरखास्त होकर नौकरी करने या अपनी तकदीर की आजमाइश करने की गरज से उसके पास पहुँचता था उसे वह भरती कर लेता था। धीरे-धीरे उसने गुप्त रूप से काफी सैनिक भरती कर लिये।

दूसरे सरदार भी उसके पक्ष में हो गये और सब का यही ध्येय हो चला कि किसी प्रकार सिराजुद्दौला को गद्दी से हटाया जाय। पर यह काम अंगरेजों की सहायता के बिना न हो सकता था। इसलिए विद्रोहियों की ओर से अंगरेजों के पास संदेसे जाने लगे कि खुले मैदान आकर सिराजुद्दौला पर वार कीजिए। ऐसे लोगों में प्रमुख जगत्सेठ थे। यह काम जिस खूबी से वह करा सकते थे उससे दूसरे नहीं। कलकत्ते के बड़े व्यापारी और अपने सरोकारी अमीचन्द की मार्फत वह अंगरेजों को बराबर उकसाते रहे। राजा दुर्लभराम और मीर जाफर ने भी अपने दूत कलकत्ते भेजे। मीर जाफर की ओर से जाने वाला उसका विश्वासी मित्र मिर्जा अमीर बेग था। जिस समय अंगरेज 'फोर्ट विलियम' छोड़ कर भागे जा रहे थे उस समय उसने कुछ औरतों को नावों पर सही-सलामत पहुंचा कर बड़े साहस और उदारता का परिचय दिया था। इस कारण अंगरेज उसकी बड़ी इज्जत करने लगे थे। उसकी मार्फत मीर जाफर ने उन्हें कहलाया कि सरदार और अमीर-उमरा सिराजुद्दौला से नाकों आकर और एक होकर उससे छुटकारा पाने का निश्चय कर चुके थे।"

जब बिल्ली का भाग्योदय होता है तब छीका टूट कर गिर पड़ता है और उसे माल-मलाई अनायास ही मिल जाती है। अंगरेज भी ऐसे ही भाग्यवान् निकले। मीर जाफर के सम्बन्ध में वाट्स अपने २६ अप्रैल के पत्र में लिख ही चुका था। २८ अप्रैल को उसने फिर लिखा कि 'अगर मीर जाफर से संधि हो जाती है तो समझ लीजिए कि सब से शक्तिशाली सहायक हमें मिल गया। उसकी बराबरी करने वाला यहां कोई नहीं।' १ मई को कलकत्ते की सेलेक्ट कमिटी ने यह निर्णय किया कि 'हम सहायता दें या न दें,

मुर्शिदाबाद में क्रांति सफल हुए बिना नहीं रह सकती। हम तटस्थ हो कर तमाशा देखते रहे तो राजनीतिक दृष्टि से यह हमारी भयंकर भूल होगी।' गरज यह कि कंपनी ने मीर जाफर को सहायता देना स्वीकार कर लिया। दूसरे ही दिन क्लाइव ने वाट्स को लिखा कि 'कल सुबह हमारी सेना यहां से कूच करेगी। मीर जाफर से जो कुछ तै-तमाम करना है कर लो और कह दो कि मैं ५,००० ऐसे जवानों के साथ चला आ रहा हूँ, जिन्होंने आजतक पीठ नहीं दिखाई। उसी खत के साथ क्लाइव ने मीर जाफर के साथ होने वाली शर्तों का मसौदा भी भेजा। पर ४ मई के पत्र में उसने सिराजुद्दौला को आश्वासन देते हुए लिखा कि, 'वहां लगाने-बुझाने वालों की कमी नहीं। अगर कोई घरानेदार आदमी यहां मेरे साथ होता तो मैं आपको विश्वास दिला सकता कि अंगरेज सत्य और न्याय के कैसे भक्त होते हैं।'

ज्यों ही मीर जाफर और अंगरेजों के बीच संधि की बातचीत शुरू हुई, अमीचन्द दोनों के मार्ग में बाधक बन गये और अपने सहयोग की कीमत मांगने लगे। शुरू में मीर जाफर और शायद जगत्सेठ के भी इच्छानुसार उनसे सारी बात छिपाने की कोशिश की गई, पर वैसे चुस्त-चालाक आदमी से कुछ भी छिपाया न जा सकता था। ६ मई को वाट्स लिखता है कि, 'मैंने सारी बात अमीचन्द को बता दी है। मुझे डर है कि जब मीर जाफर यह सुनेगा तब वह झुंझलाये बिना न रहेगा, कारण कि वह हिन्दुओं को उतना विश्वसनीय नहीं समझता। जो हो, मैं अब जो कुछ करूंगा अमीचन्द की सलाह लेकर ही करूंगा। जल्द ही मैं मीर जाफर से मुलाकात कर सब कुछ तै कर लेने वाला हूं।'

पर अमीचन्द सलाह देकर ही सन्तुष्ट होने वाले न थे। उन्होंने कहा कि पहले यह तै हो जाय कि मुझे क्या मिलेगा। वाट्स से उनकी खटपट हो गई और इस झगड़े के कारण प्रायः एक महीने तक न तो संधिपत्र पर दस्तखत हो सके, न अंगरेज कलकत्ते से "सत्य और न्याय" के पथ पर आगे बढ़ सके। अमीचन्द की मांग थी कि क्रांति हो जाने पर मीर जाफर को जो धन-संपत्ति हाथ लगे उसके एक हिस्से के वह भी हकदार समझे जायं। उनका अंदाज था कि खजाने में दो करोड़* नकद थे—उसके अलावा जवाहरात। स्क्राफटन ने कलकत्ते से वाट्स को लिखा कि क्लाइव ने अमीचन्द को मिलनेवाली रकम पर पांच प्रतिशत देना मंजूर कर लिया है। वाट्स ने यह बात अमीचन्द से छिपा ली और १४ मई को उन पर कुछ अभियोग लगा कर एक पत्र क्लाइव के पास भेजा। उसमें खास बात यह कही गई थी कि जब कंपनी से संधि हो जाने पर सिराजुद्दौला ने उसे प्रायः तीन लाख रुपये हर्जाने के रूप में देना स्वीकार किया था तब उसने रंजीतराय और अमीचन्द के साथ यह भी तै किया था कि वह उतनी ही रकम कलकत्ते के व्यापारियों की क्षति-पूर्त्ति के लिए और दो लाख रुपये उन दोनों के लिए देगा। जब बाद को नवाब रंजीतराय को एक लाख देने में टालमटूल करने लगा तब उसने उस रकम की बात छेड़ी जो व्यापारियों को मिलने वाली थी। उधर अमीचन्द ने नवाब से कह दिया कि अगर आप इस फितूरी को यहां रहने देंगे तो आपको वह सारी रकम देनी पड़ेगी। इस पर नवाब ने रंजीतराय को दरबार से निकलवा दिया और उसे काफी

* वाट्स का अपना अंदाज ४० करोड़ का था।

नुकसान भी पहुंचाया। जब वाट्स को सारी बात 'विश्वसनीय सूत्र' से मालूम हुई तब उसने नवाब से उस रकम के बारे में पूछताछ करना चाहा, पर अमीचन्द ने कहा कि बात हम तीनों के ही बीच तै हुई थी, कुछ भी पूछना ठीक न होगा; पर मैं नवाब से वह रकम दिलाने की चेष्टा करूंगा। यह दास्तान सुना कर वाट्स ने लिखा कि, "आपने जो शर्तें लिख भेजीं थीं वह अमीचन्द को मंजूर नहीं हुईं। वह अपने लिए पांच प्रतिशत तो नवाब के खजाने की रकम पर चाहता है। यह रकम दो करोड़ रुपये होगी। इसके अलावा यह चाहता है बाकी संपत्ति का चौथाई भाग। राजा दुर्लभराम को अपना पक्षपाती बनाने के लिए वह उससे वादा करा चुका है कि मीर जाफर से हम लोग जो कुछ ऐंठ लेंगे उसका एक चौथाई भाग आपका होगा।"

क्लाइव की और अमीचन्द की ठठेरे ठठेरे बदलाई थी। जब क्लाइव ने देखा कि बिना अमीचन्द का मुंह सीये बात नहीं बनती तब उसने उनकी मांग तो स्वीकार कर ली, पर मन ही मन उन्हें धोखा देने का निश्चय कर दो संधि-पत्र लिखवाये जिनमें एक असली था, दूसरा नकली। असली का कागज सफेद था, नकली का लाल। कंपनी की ओर से क्लाइव, वाट्स, ड्रेक आदि ने दोनों पर ही दस्तखत किये। एक वाट्सन ने जाली संधिपत्र पर दस्तखत नहीं किये, पर क्लाइव ने उसके दस्तखत दूसरे से बनवा दिये। अमीचन्द का मुह मनमोदक से भर कर क्लाइव ने कंपनी की और अपनी पांचों उंगलियां घी में कर लीं। कलकत्ते से जो शर्तें मुर्शिदाबाद भेजी गईं उनमें कुछ ये थीं:—

१—कंपनी की क्षति-पूर्त्ति के लिए उसे एक करोड़ रुपये* मिलेंगे।

---

* 'सिक्कों' से मतलब था।

२—व्यापारियों की जो क्षति हुई थी उसकी पूर्त्ति के लिए अंगरेज व्यापारियों को पचास लाख, हिंदू व्यापारियों को बीस लाख और अरमनी व्यापारियों को सात लाख रुपये मिलेंगे।

३—मराठा खाई में और उसके इर्द-गिर्द ६०० गज के भीतर जमींदारों की जितनी जमीन है वह कंपनी को दिला दी जायगी।

४—मुर्शिदाबाद सरकार को हुगली से दक्खिन किसी तरह की किलेबन्दी करने का अधिकार न होगा।

मीर जाफर ने सादे कागज पर ही दस्तखत करके वाट्स को दे दिया था कि क्लाइव को जो शर्तें ठीक जंचें लिख लें। क्लाइव ने और सब बातें तो लिखा दीं, सिर्फ कंपनी को मिलने वाली रकम की तादाद मीर जाफर की मर्जी पर ही छोड़ दी। वह स्वयं पचास लाख से ही संतुष्ट हो जाता, पर मीर जाफर ही क्या जो पचास लाख और न दे देता! कंपनी को और व्यापारियों को संधिपत्र द्वारा जो कुछ मिलना निश्चित हुआ उसके अलावा मीर जाफर ने क्लाइव और वाट्सन की फौज के लिए चालीस लाख और कौंसिल के सदस्यों के लिए बारह लाख रुपये देना स्वीकार किया। १९ मई को क्लाइव ने प्रस्तावित संधि के सम्बन्ध में एक पत्र वाट्स को भेजा। उसमें जाली संधिपत्र का जिक्र करते हुए उसने एक ओर यह लिखा कि अमीचन्द जैसा 'दुष्ट दुनिया के परदे पर न होगा' और दूसरी ओर वाट्स को आदेश दिया कि 'उसकी खूब खुशामद करना, हमारे धन्यवाद उसके पास पहुँचा देना और कह देना कि आपका नाम हिन्दुस्तान से भी बढ़ कर इंग्लिस्तान में होने वाला है।'

संधि के मार्ग में अमीचन्द की तरह कुछ हद तक दूसरा बाधक दुर्लभराम हुआ। इसका मीर जाफर से घनिष्ठ सम्बन्ध था और

सैनिक दृष्टि से मीर जाफर के बाद महत्व था तो उसी का। उसने यह कर आपत्ति की कि खजाने में इतना रुपया ही नहीं तो मीर जाफर नवाब हो जाने के एक महीने के भीतर ही प्रायः ढाई करोड़ रुपये कहां से ला कर दे सकेगा? उसका प्रस्ताव था कि जो कुछ खजाने में मिले उसका आधा अंगरेज ले लें। वाट्स इससे सहमत था, कारण कि वह राजकोष में चालीस करोड़ का अनुमान किये बैठा था। अन्त में मीर जाफर और दुर्लभराम ने उसी बात को मंजूर कर लिया, जो पहले तै हो चुकी थी। ५ जून की रात को वाट्स ओहार वाली डोली में बैठ, मीर जाफर के घर गया और वहीं मीर जाफर ने कुरान और अपने बेटे के सिर की कसम खा कर, संधिपत्र पर दस्तखत कर दिये और उसकी शर्तों से अपने आपको जकड़बन्द कर लिया।

१३ जून को क्लाइव ने सिराजुद्दौला को एक पत्र भेजा। उसमें उस पर कुछ झूठे-मूठे दोषारोप किये गये थे, कुछ बे-सिर-पैर की बातें लिखी गई थीं।

एक आरोप यह था—"आपकी मित्रता ऐसे लोगों से है जो हमारे शत्रु हैं। मुझे दक्खिन से पक्की खबर मिली है कि आप वहां मो० बुशी* से पत्र-व्यवहार करते रहे हैं।"

दूसरा यह—"आप मुझसे बार बार कह चुके हैं कि मो० ला और उसके साथियों को कर्म्मनाशा पार भाग जाने को कह दिया गया था पर वे तो आपके आज्ञानुसार भागलपुर में ही बैठे हुए हैं और उन्हें आपसे १०,०००) माहवार भी मिल रहा है। इसका एक प्रमाण यह है कि जगत्सेठ की जो कोठी राजमहल में है उसने हाल में ही उन्हें १०,०००) की एक हुंडी का भुगतान दिया है।"

* दक्खिन हैदराबाद में फ्रेंच सेनापति।

तीसरा आरोप यह था:—

"आपके और हमारे बीच संधि हुए चार महीने बीत चले। आपने आज तक उसकी शर्तों का पूरा पालन नहीं किया। वादे होते और टलते आये हैं। कलकत्ते में हमारी जो रकम* आपको हाथ लगी थी उसका आप हमें पंचमांश से अधिक लौटाना नहीं चाहते, फिर भी हमसे फारखती मांगते हैं। उसके अलावा आपने हर्जाना देने को कहा था। पर जहां आपने सोने की मोहरों का वादा किया वहां जगत्सेठ से चांदी के सिक्के दिलवाये। वह रकम भी हमें तब मिली जब हमारे जहाज यहां से रवाना हो चुके थे।"

अन्त में यह धमकी थी:—

"मैं नुकसान कहां तक बरदाश्त कर सकता हूं? यहां सब की यही राय है कि मैं कासिमबाजार जाऊं और वहां इस मामले की पंचायत कराऊं। मैं पंच बदूंगा जगत्सेठ, राजा मोहनलाल, मीर जाफर खां, राजा दुर्लभराम, मीर मदन को—और वहां के अन्य विशिष्ट व्यक्तियों को। बरसात का जोर बढ़ता जा रहा है, आपका उतर मिलेगा भी तो देर से, यह सोच कर मैं आपकी सेवा में उपस्थित होने के लिए रवाना हो रहा हूं।" उसी दिन क्लाइव रवाना हुआ, और उसी दिन वाट्स भी शिकार पर जाने का बहाना कर कासिम-बाजार से चंपत हो गया। क्लाइव के रवाना होने से पहले ही मुर्शिदाबाद में यह अफवाह उड़ने लगी थी कि बादल उमड़ते-घुमड़ते

---

* ड्रेक अपनी सफाई में लिख चुका था कि "जहां तक मुझे याद है, उस समय कंपनी के खजाने में सब मिलाकर ८०,०००) से अधिक न था।" हिल, भाग २, पृष्ठ १४१।

चले आ रहे हैं। अब सिराजुद्दौला को भी निश्चय हो गया कि रक्त-वृष्टि होने ही वाली थी।

उन दिनों कासिमबाजार में डच कंपनी का प्रधान वर्नेट था। उसने १५ जून को लिखा कि, "वाट्स, कालेट, साइक्स और उनका डाक्टर परसों यहां से भाग गये। दरबार में इससे खलबली मच गई हैं। नवाब ने कल एक अंतरंग सभा की और यह आज्ञा दी कि पेशखेमा भेज दिया जाय। फौज भी इकट्ठी हो रही है। पर कुछ घुड़सवारों ने लड़ाई पर जाने से इन्कार कर दिया है। इससे जान पड़ता है कि कोई साजिश हो चुकी है और उसमें अंगरेज शामिल हैं।"

१६ जून को उसने लिखा कि, "नवाब अपनी फौज के साथ रवाना हो चुका है। हमें पक्की खबर मिली है कि फतहचंद के पोते, राजा दुर्लभराम, मीर जाफर, खुदा दाद खां "लत्ती" और अमीर बेग--अंगरेजों से मिल कर नवाब के साथ विश्वासघात करना चाहते हैं।" वार्नेट को यह समाचार बड़ी देर से मिला था।

इससे पहले ही क्लाइव की सेना कटवा पहुंच चुकी थी। वहीं वाट्स भी उसके साथ हो लिया। कटवा के किलेदार ने कहलाया कि मैं आपका शत्रु नहीं, मित्र हूं। और १९ जून को क्लाइव ने 'फोर्ट विलियम' की सेलेक्ट कमिटी को लिखा कि यहां के किले पर तो कब्जा हो गया, अब नदी पार कर पलासी पहुंचना है। २३ जून को प्रातःकाल वह पलासी पहुंचा और उसके पहुंचते ही लड़ाई शुरू हो गई। तीन-चार बजते-बजते लड़ाई का फैसला भी हो गया। सच पूछा जाय तो वह फैसला सिराजुद्दौला के लड़ाई पर चलने से पहले ही हो चुका था।

हरावल के साथ राजा दुर्लभराम वहां पहुंच चुका था, पर

पहुंचकर उसने काम यही किया था कि क्लाइव के साथ कुछ और सम-झौता कर लिया था—जो मोरचा बांधा भी था वह अंगरेजों की हार नहीं, जीत की ही दृष्टि से। दूसरा सेनापति हो कर स्वयं मीर जाफर आया था। इधर क्लाइव से कई पत्र उसके पास पहुंच चुके थे और वह साबुत जंग बहादुर* को बता भी चुका था कि वह कहां रहेगा और क्या करेगा। लड़ाई से एक दिन पहले क्लाइव को उसका जो पत्र मिला था उसमें लिखा था कि, "आप मैदान के पास पहुँचे कि मैं आपकी ओर आ गया। आप मुझे इतना सूचित कर देंगे कि आपकी ओर से कब लड़ाई शुरू होगी।" पलासी पहुंचने पर मीर जाफर ने अपने खेमे मैदान से कुछ दूर खड़े कराये और लड़ाई शुरू होने पर उसमें कोई भाग नहीं लिया, "मानो वह तमाशा† देखने के लिए ही वहां गया हो।" फिर भी सिराजुद्दौला की ओर से मीर मदन और मोहनलाल ऐसी वीरता दिखाने लगे कि थोड़े समय के लिए क्लाइव कुछ चिन्ता में पड़ गया। मीर जाफर का कहीं पता न था। नवाब के लशकर में कुछ फरासीसी और पुर्तगीज भी मौजूद थे और मीर मदन पीठ दिखाने के बजाय आगे बढ़ता आ रहा था। पर क्लाइव का सौभाग्य कहिए या सिराजुद्दौला का दुर्भाग्य, तीन बजे के करीब मीर मदन के पास तोप का ऐसा गोला जा गिरा जिससे उसकी एक जांघ ही जाती रही।

मीर मदन के मरते ही सिराजुद्दौला इतना घबरा गया कि बहुत बुलाने पर जब मीर जाफर उसके पास आया तब उसने अपनी

---

* यह क्लाइव का खिताब था जो दक्षिण में उसे मुहम्मद अली से मिल चुका था।

† "मुताखरीन।"

पगड़ी उतार कर उसके सामने रख दी और अपने दोषों के लिए पश्चात्ताप प्रकट कर उससे क्षमा-भिक्षा मांगने लगा। मीर जाफर अंतःकरण से क्षमा-प्रदान करने वाला न था। दुश्मन को दांव पर चढ़ा देख उसने इतना ही कहा कि "आज और लड़ने से लाभ के बदले अपनी हानि होगी। कल की लड़ाई का भार मैं अपने ऊपर लेता हूं और यह भी वादा करता हूं कि अगर अंगरेजों ने रात को छापा मारा तो उसका जवाब मैं दे दूंगा।" मोहनलाल उस समय भी वीरतापूर्वक लड़ रहा था। उसने सिराजुद्दौला को कहलाया कि लड़ाई मुलतवी मत कराइये, अपने लिए इसका नतीजा बहुत ही बुरा होगा। संदेह और भय के बीच सिराजुद्दौला दुविधा में पड़ गया, पर अन्त में उसने मीर जाफर की ही सलाह मान ली और लड़ाई बंद कर देने की आज्ञा दे दी। सैनिकों ने इसका अर्थ यह लगाया कि अपनी हार हो चुकी और मैदान छोड़कर भाग पड़े। ऐसी भगदड़ मची कि कोई किसी के रोके न रुक सका और सिराजुद्दौला स्वयं साँडनी पर सवार हो मुर्शिदाबाद भाग गया।

पलासी की लड़ाई को लड़ाई कहना उपहासात्मक अत्युक्ति है। मीर जाफर, दुर्लभराम और खुदादाद लुत्फ खां जैसे लोगों को सेनापतित्व प्रदान कर वहां भेजना या अपने साथ ले जाना सिराजुद्दौला का ही काम हो सकता था। उसकी सेना में १५,००० घुड़सवार और ३५,००० पैदल थे। इनमें कई हजार सैनिक ऐसे थे जो मोहनलाल, मीर ,मदन ख्वाजा हादी अली खां आदि सरदारों के इशारे पर सिर से खेल जाने वाले थे। उसके साथ चालीस-पचास तोपें थीं और पुर्तगीजों के अलावा पचास-साठ फरासीसी तोपची थे। अगर क्लाइव की बात मान भी ली जाय कि तीन बजे तक नवाब के

५०० जवान खेत आ चुके थे तो भी यह स्वीकार नहीं हो सकता कि उसकी स्थिति निराशाजनक हो चली थी। उस दिन लड़ाई जीतने की आशा किसी ने त्याग दी थी तो क्लाइव ने। वह रात को छापा मारने का विचार करने लगा था। फिर भी एक मीर मदन के मरते ही सिराजुद्दौला इतना बदहवास हुआ कि जो परिस्थिति अनुकूल थी उसे प्रतिकूल बना कर अपनी हार करा ली। यह काम भी उसी का हो सकता था।

दूसरे ही दिन सुबह आठ बजे मुर्शिदाबाद पहुंचकर सिराजुद्दौला ने मंसूरगंज महल में बचे-खुचे सरदारों को बुलवाया और कहा कि मेरी जान बचाने वाले अब आप ही लोग रह गये हैं। पर कोई तरफदार या मददगार न निकला। उसके ससुर तक ने उसके रोने-धोने पर ध्यान न दिया। इस आशा से कि जो काम उसके आंसू नहीं कर सके थे वह काम उसके रुपये कर सकें, सिराजुद्दौला ने अब अपना खजाना खुलवा दिया और धन लुटाने लगा। पर इससे उसको कुछ सहानुभूति मिली भी तो गाढ़े के संगी न मिले। सब से निराश हो कर उसने रात को भगवानगोला में नाव पर सवार हो, 'पटने की राह ली। साथ जाने वालों में उसकी बेगम लुत्फुन्निसा और कुछ नौकर-चाकर थे। थोड़ा धन भी पास था। "मुताखरीन" में लिखा है कि यहां भी उसने बड़ी गलती की। पहले उसका विचार खुश्की की राह राजमहल भाग जाने का हुआ था। अगर उसके अनुसार कार्य किया होता और जो सरदार मीर जाफर से मिले हुए न थे उन सब को कहला दिया होता तो कुछ घंटों के भीतर ही कई हजार आदमी उसके साथ हो जाते और कम से कम तनहाई में उसे गिरफ्तार होना न पड़ता।

सिराजुद्दौला ने पलासी जाने से पहले ही मो० ला को बुलावा भेज दिया था। भूल उसने यह की थी कि बुलावे के साथ ला को कोई हुंडी न भेज कर पटने के दीवान पर एक परवाना भेज दिया था जिससे ला को राहखर्च के लिए रुपये कुछ देर से मिल सके थे। ला धावा मार कर राजमहल पहुंचा भी तो सिराजुद्दौला के गिरफ्तार हो जाने के कुछ घंटे बाद*।

सिराजुद्दौला को मालदह के पास पहुंचने पर मालूम हुआ कि नाव नजीरपुर से आगे नहीं जा सकती थी, इसलिए वहीं उतर पड़ा। घाट से दानाशाह पीरजादे के घर गया। "रियाजुस्सलातीन" में लिखा है कि सिराजुद्दौला किसी समय दानाशाह को कुछ नुकसान पहुंचा चुका था और बदला लेने के विचार से उसने इसके पहुंचने की खबर राजमहल के फौजदार के पास भेज दी। इसने अपने सिपाही भेजे और सिराजुद्दौला को सस्त्रीक गिरफ्तार करा लिया। लत्फुन्निसा का जर-जेवर मीर कासिम ने छीन लिया। दोनों हिरासत में मुर्शिदाबाद भेज दिये गये और वहीं २ जुलाई को, मीर जाफर के बेटे मीरन के हुक्म से सिराजुद्दौला मार डाला गया†। कहना चाहिए कि वह अपनी भयंकर भूलों का शिकार हो गया।

---

* मेजर कूट ने ला का पीछा किया, पर उसे पकड़ न सका। ला बक्सर होता हुआ कर्म्मनाशा पार भाग गया।

† मीर जाफर उस समय नशा खाकर सो रहा था। "रियाजुस्सलातीन" में लिखा है कि सिराजुद्दौला को मार डालने की सलाह अँगरेजों ने तो दी ही थी, जगत्सेठ ने भी इस पर जोर दिया था।

(३)

मीर जाफर लड़ाई के दिन अंगरेजों की ओर से खुले मैदान न लड़ सका था, इसलिए सिराजुद्दौला के भागते ही उसे क्लाइव से चार आंखें करने का साहस न हो सका। दूसरे दिन जाकर उससे मिला। इससे पहले ही क्लाइव उसे लिख चुका था कि "जीत आपकी हुई है, मेरी नहीं। मेरी ओर से आपको बधाई है। जितना शीघ्र हो सके आप आ जायं तो अच्छा। कल ही हम लोग यहां से रवाना होंगे। आशा करता हूँ कि आपको नवाब घोषित करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा।" फिर भी मीर जाफर डरते डरते उसके पास गया। क्लाइव के आलिंगन करने पर ही उसके दिल की धड़कन बन्द हुई, सूखा हुआ चेहरा फिर हरा हुआ। उसी दिन पलासी से चलकर वह मुर्शिदाबाद पहुंच गया। सिराजुद्दौला उस समय अपने महल में ही था, पर मीर जाफर से यह न बन पड़ा कि मंसूरगंज जाकर उसे गिरफ्तार करा ले। इसका कारण यह था कि उस रामय क्लाइव साथ न था। कुछ इन्तजाम करने के लिए वह पीछे ही रह गया था।

पर क्लाइव से पहले ही वाट्स और वाल्श रुपया वसूल करने के लिए मुर्शिदाबाद पहुंच गये थे और खजाने की तलाशी कराने लगे थे मीर जाफर, दुर्लभराम को कर्ता-धर्ता बना चुका था और दुर्लभराम को खजाने में कुल एक करोड़ चालीस लाख रुपये मिले थे। वाट्स और वाल्श को विश्वास न हुआ कि सिराजुद्दौला उतना ही छोड़ गया था और दुर्लभराम सच बोल रहा था। २६ जून को उन दोनों ने क्लाइव को लिखा कि :—

"आज सुबह हमने नवाब से मुलाकात की। पूरे दो घंटे तो

दरबार की रसम खतम होने में लगे । उसके बाद नवाब और दुर्लभराम हमें अलग ले गये । बजाय इसके कि दुर्लभराम हमें जगत्सेठ से रुपये दिला देता, वह बातें बना कर हमें यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करने लगा कि खजांची से पूछ-ताछ कर चुका था, खजाने में बस एक करोड़ चालीस लाख रुपये मौजूद थे और जगत्सेठ ढाई-तीन करोड़ दे नहीं सकते थे । वस्तुस्थिति न जानने के कारण, हम उसकी बातों का खंडन करने में असमर्थ थे। हमने यह प्रस्ताव किया कि हम मोहनलाल से बातें कर लें और फिर उसे साबुतजंग* के पास ले जायं। पहले तो दुर्लभराम ने कुछ आना-कानी की, पर अन्त में हमारा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। हमने उससे पूछा कि आप और मानिकचन्द कर्नल के पड़ाव पर जाने वाले हैं या नहीं ? उसने कहा कि जब तक यह मामला तै नहीं हो जाता, मैं तो कहीं नहीं जा सकता ।

"थोड़े से शब्दों में हम कहें तो कह सकते हैं कि दुर्लभराम की नीति इधर-उधर करने और धोखा देने की है। हमारा विश्वास है कि जब तक वह प्रधान मन्त्री रहेगा, एक हिन्दू की स्वभावज कुटिलता से हमारे मार्ग में रोड़े ही अटकाता रहेगा। अच्छा होगा कि आप अमीचन्द से पूछें कि नवाब के धन के सम्बन्ध में उसका अपना अनुमान क्या है । उसने मि० वाट्स से कहा था कि, 'मुझे मालूम है कि नवाब का धन महल में कहां कहां छिपा पड़ा है।' इसमें तो संदेह की गुंजाइश ही नहीं कि धन छिपाया हुआ है और वह भी कई जगह। अगर अमीचन्द वैसा स्वार्थी न होता तो इस मौके पर यहां बहुत ही उपयोगी हो सकता था।

---

* क्लाइव।

"आज जोरों की वर्षा हो रही है, इसलिए मोहनलाल को साथ लेकर हम दोनों रवाना नहीं हो सकते । कल सुबह रवाना होंगे। मानिकचन्द और जगत्सेठ के भाई आने वाले हैं। उनसे बहुत सी बातें मालूम हो सकेंगी। महाराज स्वरूपचन्द आ ही तो गये। इसलिए हम इस पत्र को यहीं समाप्त करते हैं।"

उस समय तक क्लाइव कासिमबाजार पहुंच चुका था। उसने २८ जून को मुर्शिदाबाद जाकर मीर जाफर और जगत्सेठ से मिलने और कई विषयों के संबंध में निर्णय करने का विचार किया। पर २७ जून को ही जगत्सेठ ने उसे रंजीतराय के द्वारा यह कहलाया कि "दुर्लभराम और कासिम हुसैन खां ने रात यह मंत्रणा की कि जब आप नवाब से मिलने आवें तब आपको मार डाला जाय। अगर आप रवाना हो चुके हों तो बीमारी का बहाना कर लौट जायं। मैं कल सुबह आकर मिलूंगा। आप इस मंत्रणा के सम्बन्ध में किसी से एक भी शब्द न कहें। नवाब ने रुपये-जवाहरात चुपचाप गोदागारी भिजवा दिये हैं। और कोई बात मालूम होगी तो मैं आपको उसकी सूचना भेज दूंगा।"

यह संदेश मिलने पर क्लाइव ने अपनी यात्रा स्थगित कर दी और २८ जून के बजाय २९ को मुर्शिदाबाद गया। ३० जून को उसने लिखा :—

"कल प्रातःकाल मैंने नगर में प्रवेश किया और नवाब के महल के पास ही मुरादबाग में जाकर डेरा डाला। मेरे साथ २०० यूरोप के और ३०० इस देश के सिपाही थे। तीसरे पहर मीर जाफर का बेटा मुझे दरबार में ले गया। मैंने देखा कि मीर

जाफर संकोचवश अभी मसनद पर बैठे न थे । मैंने उन्हें बैठाया और नवाब नाजिम को सलाम किया। फिर दरबारी बधाइयां और नजर देने लगे । काम-काज की बातें करने का अवसर न था। मैंने उन लोगों से इतना ही कहा कि 'सरकार से लड़ना अंगरेजों का उसूल न होते हुए भी हमें सिराजुद्दौला से इसलिए लड़ना पड़ा कि वह अपनी बात पर कायम न रह कर संधि-भंग करने और फरासीसियों के द्वारा हमारी हस्ती मिटवाने की बंदिश बांधने लगा था। ईश्वर की इच्छा से वह पराजित हो चुका । अब उसकी जगह जो नवाब हुए हैं उनके गुणों को देख कर यह आशा होती है कि उनकी छत्रच्छाया में सर्वत्र शान्ति बनी रहेगी और प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न होगा । हम लोग राज-काज में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना नहीं चाहते। जो कुछ होगा नवाब के ही इच्छानुसार। जब तक उन्हें हमारी आवश्यकता है, हम आज्ञापालन के लिए यहां रहेंगे; आवश्यकता पूरी होते ही हम कलकत्ते लौट जायँगे और वाणिज्य-व्यपार करने लगेंगे। आखिर हम व्यापारी हैं और एकमात्र व्यापार के उद्देश से यहां आये हुए हैं।"

इसके बाद क्लाइव लिखता है :—

"कल ही मेरे मुरादबाग लौटने पर जगत्सेठ मिलने आये। देर तक उनसे बातें होती रहीं। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में, धन और प्रभाव की दृष्टि से, उनका स्थान सब से ऊंचा है। दिल्ली-दरबार में भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। उनसे बातें कर मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि इस मामले को निबटाने वाला उनसे योग्य व्यक्ति कोई हो नहीं सकता था। लेहाजा जब आज सुबह नवाब

मुझसे मिलने आये तब मैंने उनसे कहा कि आप बराबर जगत्सेठ की सलाह से काम किया करें। उन्होंने फौरन यह बात मान ली और कहा कि 'खजाने में जो रुपया है वह मेरी आशा से इतना कम है कि आपका पावना अदा करना और सरकार के जरूरी खर्च के लिए भी कुछ रखना संभव नहीं; अगर जगत्सेठ हम दोनों के बीच के मामले का तस्फिया कर दें तो अच्छा हो।' मैंने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। नवाब के मन्त्री काफी रुपये पर हाथ मार चुके हैं, इसमें तो मुझे संदेह न था, पर मेरे लिए ऐसे मामले की तहकीकात करना बहुत मुश्किल था। मैंने कहा कि इससे अच्छा रास्ता और हो ही नहीं सकता।"

मीर जाफर और क्लाइव जगत्सेठ के घर गये। उनके साथ दुर्लभराम, मीरन, अमीचन्द, वाट्स और स्क्राफ्टन भी गये। जिस कमरे में जगत्सेठ से बातें होने वाली थीं उसमें अमीचन्द न जा सके। उन्हें कहीं बाहर ही बैठने को कहा गया। मीर जाफर और क्लाइव की बातें सुन कर जगत्सेठ ने जो फैसला किया उसके बारे में क्लाइव ने लिखा कि :—

"जगत्सेठ के निर्णय के अनुसार अंगरेजों का जो कुछ पावना है उसका आधा तो उन्हें इसी समय मिल जायगा और बाकी आधे को तीन साल में चुकाने के लिए तीन ही किस्तें होंगी। जो रकम हमें इस समय मिलेगी उसका दो-तिहाई तो नकद होगा और एक-तिहाई जवाहरात और माल-असबाब में। खजाने की हालत देखते हुए और यह जानते हुए कि सैनिकों का वेतन चुकाने के लिए नवाब के पास भी कुछ बचना आवश्यक ही है, मुझे तो लगता है कि जगत्सेठ ने जो फैसला किया वह मेरी अपनी आशा से भी परे था।

"पर दीवान दुर्लभराम को भी सन्तुष्ट करना था। आगे इससे बात बात में काम पड़ने वाला है। मैंने उसे पांच फी सदी कमीशन* देना मंजूर कर लिया और इसे गैर-मुनासिब न समझा। रह गई जगत्सेठ की अपनी बात। उन्होंने कहा कि फरासीसियों को हमारी कोठी ने जो कर्ज दिया था उसमें से हमारे सात लाख रुपये वसूल न हो सके; अब हम उनके सर्वनाश में सहयोग देने जा रहे हैं, इसलिए हमारी अपनी रकम डूब जाने का डर है। मैंने उनसे यह तै किया कि अगर कमिटी को कोई आपत्ति न हुई तो फरासीसियों का मुफस्सल में जो कुछ माल-असबाब होगा आपको दे दिया जावेगा और अगर उससे भी कर्ज न पट सका और फरासीसियों से वसूल न हो सका तो बाकी रकम चुकाने की जिम्मेवारी कंपनी पर रहेगी। इस पर उन्होंने अपनी ओर से यह आश्वासन दिया कि 'मुझसे जो मदद या सिफारिश हो सकेगी करने को बराबर तैयार रहूँगा। नवाब मीर जाफर के लिए दिल्ली से सनद मंगवा दूंगा; कंपनी के पक्ष में वहां जो कुछ भी कहना आवश्यक होगा कहला दूंगा और अगर उसे कभी किसी फरमान की जरूरत पड़ी तो दिला दूंगा। नवाब को जगत्सेठ ने यह सलाह दी कि अलीवर्दी खां के समय के अधिकारियों को आप फिर अपनी अपनी पुरानी जगह दे दें।"

जब जगत्सेठ अपना निर्णय सुना चुके और उसे सुन कर क्लाइव गद्गद् हो चुका—जब क्लाइव दुर्लभराम को कमीशन देने और जगत्सेठ का पावना चुकाने का वादा कर चुका—जब जगतसेठ

---

* जो रकम कंपनी को और व्यापारियों को हर्जाने के रूप में मिलने वाली थी उस पर।

क्लाइव को आश्वासन और मीर जाफर को सदुपदेश दे चुके तब क्लाइव का ध्यान अमीचन्द की ओर गया और उसने स्क्राफटन से यह कहला कर उनकी मोहनिद्रा दूर करा दी कि 'लाल संधि-पत्र नकली था और आपको एक भी पैसा मिलने वाला नहीं'। यह सुनते ही अमीचन्द बेहोश हो गये। अगर किसी नौकर ने उस समय उन्हें न संभाला होता तो जहां कलेजा दो टूक हो चुका था, वहां सिर भी फूटे बिना न रहता। पालकी पर वह अपने घर तो पहुंचा दिये गये, पर उस दिन के बाद जब तक जीवित रहे, विक्षिप्त-से बने रहे *। क्लाइव की प्रशंसा के पुल बांधने वाले अंगरेज इतिहास-कारों को भी स्वीकार करना पड़ा है कि उसने अमीचन्द के साथ जो कुछ किया उससे उसका नाम सदा के लिए कलंकित हो गया।

२ जुलाई को क्लाइव ने मद्रास की सेलेक्ट कमिटी को एक पत्र लिखा जिसमें मीर जाफर से होने वाली संधि से ले कर सिरा-जुद्दौला के मारे जाने तक सारी घटनाओं का उल्लेख था और यह भी सूचना थी कि "अब तक नवाब के जासूस कटक होकर पत्र भेजने में विघ्न-बाधा पहुंचाते रहे हैं, पर अब यह कठिनाई हल हो जायगी। इस पत्र को आप तक पहुँचवाने का भार जगत्सेठ अपने ऊपर ले चुके हैं।"

---

* फिर भी ७ अगस्त १७५७ को क्लाइव मुर्शिदाबाद से लंदन की सेलेक्ट कमिटी को लिखता है—"अमीचंद ने वाट्स से हिलमिल कर अच्छा काम किया था, पर बाद मुझे इस बात का पता चला कि वह बड़ा ही स्वार्थी और कुचक्री था। इसलिए मैंने उसे तीर्थयात्रा कर आने की सलाह दी। अगर नियंत्रण में रखा जा सके तो वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उसकी बिलकुल उपेक्षा करना ठीक नहीं"।

१ जुलाई को ही नावों पर रुपयों का लदाव शुरू हो गया। २ जुलाई को क्लाइव ने फोर्ट विलियम की सेलेक्ट कमिटी को लिखा कि 'दो दिन में यहां से ७५ नावें रवाना होने वाली हैं। प्रत्येक नाव पर एक लाख रुपये एक बड़े संदूक में होंगे।' इस ७५ लाख* का ब्यौरा उसने यह भेजा था :—

कंपनी को ३३ १/३ लाख

फौजों† को और कौंसिल के सदस्यों को १६ १/३ लाख

गोरे व्यापारियों को १६ १/३ लाख

'काले' व्यापारियों को ९ लाख

जोड़ ७५ लाख

कलकत्ते जाने वाले रुपये ७५ संदूकों की जगह ७०० पेटियों में भरे गये और इनके लिए ७५ की जगह १०० नावों का बेड़ा बनाया गया। ७ जुलाई तक ये रुपये कलकत्ते पहुंच भी चुके थे। नदिया (नवद्वीप) तक पहुंचाने के लिए इनके साथ मुर्शिदाबाद से सिपाही भेजे गये थे। आगे की मंजिल कंपनी की नौ-सेना की देख-रेख में तै हुई। "नावों पर झंडे फहरा रहे थे, विजय-दुंदुभी

---

* मीर जाफर के साथ जो संधि और समझौता हुआ था उसके अनुसार अंगरेजों को सब मिला कर २ करोड़ २९ लाख मिलने वाले थे। इसका आधा हुआ प्राय: १ करोड़ १४ लाख और जगत्सेठ के निर्णय के अनुसार इसका दो-तिहाई (नक़द) हुआ प्राय: ७५ लाख।

† पलासी के युद्ध में क्लाइव के साथ प्राय: १००० गोरे और २००० 'काले' सैनिक थे जिनमें प्राय: २२ मारे गये थे और ५० घायल हुए थे। पर मीर जाफ़र से मिलने वाली रकम का एक हिस्सा उन सैनिकों को भी मिला जो कलकत्ते में ही रह गये थे।

बज रही थी।" क्लाइव के मित्र और समसामयिक इतिहासकार ओर्मी ने लिखा है कि इससे पहले इतनी बड़ी रकम अंगरेजों को कहीं हाथ न लगी थी।

समाचारपत्र न होते हुए भी, पलासी की लड़ाई का नतीजा २५ जून को ही कलकत्ते के अंगरेज नागरिकों को मालूम हो चुका था, और यह भी मालूम हो चुका था कि संधिपत्र के अनुसार कंपनी को, उसके अधिकारियों को, सैनिकों को और व्यापारियों को नये नवाब से क्या मिलने वाला था। यह समाचार मिलते ही अंगरेज जाति का कलेजा बल्लियों उछलने लगा था ; आनन्द के अतिरेक से लोग खुले आम नाचने-गाने लगे थे ; बूढ़ों में भी बचपन-सा और परहेजगारों में भी बदमस्ती-सी आ गई थी। जब लूट के धन के साथ नावें कलकत्ते पहुंचीं और सुख-स्वप्न सत्य में परिणत हो गया तब तो वहां लोगों के हर्ष का पारावार न रहा और वे आपे से और भी बाहर हो गये । जो रकम सोना-चांदी और जवाहरात के रूप में मिलने वाली थी, ३० अगस्त तक वह भी प्रायः मिल गई और अंगरेजों का हिसाब चुकता होने में कुल ५८४,९०५ रुपये बाकी रह गये। ओर्मी लिखता है कि दुर्लभराम का कमीशन भी उसे मिल गया।

पर मीर जाफर संधिपत्र के अनुसार कंपनी को जो कुछ देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था, उसके अलावा भी उसे क्लाइव को और दूसरों को बहुत कुछ देना पड़ा। इस सम्बन्ध में मतभेद है कि किसको कितना मिला। पर क्लाइव के अपने बयान के आधार पर ही हम यह कह सकते हैं कि पुरस्कार के रूप में उसको १६ लाख, वाट्स को ८ लाख और मेजर किलपैट्रिक को ३ लाख

रुपये मिले। कौंसिल के सदस्य, सेनापति या सेना-नायक की हैसियत से उन्होंने जो जो कुछ पाया वह इसके अतिरिक्त था। कंपनी के प्रमुख अधिकारियों में सब मिला कर किसको कितना मिला इसकी तफसील यह थी :—

नाम	रुपये
क्लाइव	२,०८०,०००
वाट्स	१,०४०,०००
किलपैट्रिक	५४०,०००
ड्रेक (क)	२८०,०००
मैनिंगहम (ख)	२४०,०००
बेचर	२४०,०००
वाल्श (ग)	५००,०००
स्क्राफ्टन	२००,०००
लुशिंग्टन (घ)	५०,०००
ग्रांट	१००,०००
रिचार्ड पर्क्स	१००,०००
विलियम फ्रैंकलैंड	१००,०००
विलियम मैकेट	१००,०००
पीटर ऐमियट	१००,०००
टाम्स बोडम	१००,०००
	५,७७०,०२० रुपये

(क) यह उस समय गवर्नर था।

(ख) अंगरेजों के फोर्ट विलियम छोड़ कर भाग जाने पर, उनकी विपत्ति का समाचार इसी ने मद्रास पहुँचाया था। अब इसे ऊँचा पद भी मिला।

(ग) क्लाइव का सेक्रेटरी।

(घ) जाली संधिपत्र पर वाट्स के दस्तखत बनाने वाला।

वाट्सन नौ-सेनापति तो था ही, सेलेक्ट कमेटी के सदस्य की हैसियत से भी कुछ पाने का हकदार था, पर उसे अपने हिस्से के लिए और सदस्यों से लड़ना-झगड़ना पड़ा। मीर जाफर ने उसके लिए उपहार के रूप में एक हाथी, दो घोड़े, खिलअत और विविध रत्नों से जटित कलगी आदि भेज कर उसे विशेष रूप से सम्मानित किया, जिस पर वाट्सन* ने उसे धन्यवाद देते हुए लिखा कि आपने अपनी उदारता से मेरी जाति का जो उपकार किया है उसके लिए वह चिर-कृतज्ञ रहेगी। वाट्सन ने नकली संधिपत्र पर स्वयं तो दस्तखत नहीं किये थे, पर सब कुछ जानते हुए भी उसने क्लाइब की जालसाजी पर कोई आपत्ति नहीं की थी।

कुछ समय बाद जब क्लाइव को मीर जाफर से पुरस्कार लेने के लिए पार्लमेन्ट की एक कमिटी के सामने कैफियत देनी पड़ी तब उसने अपनी सफाई में यही कहा "कि उस समय मैं चाहता तो नवाब से और दूसरों से कई लाख-करोड़ ले सकता था और कंपनी के संचालक मुझसे वह धन छीन भी न सकते थे। मैं हैरान हूँ तो इस बात पर कि जहां मैं इतना अधिक ले सकता था वहां मैंने इतना कम क्यों लिया।"

दुर्लभराम ने जो धन बताया था उसके अलावा भी कुछ धन खजाने में नहीं, तो और कहीं जरूर था। कुछ तो मीर जाफर और मीरन दबा कर बैठ गये थे, कुछ राजकोष विभाग के अधिकारी हड़प चुके थे। इस सम्बन्ध में "मुताखरीन" के अनुवादक ने जो बातें लिखी हैं वे बिलकुल निराधार नहीं जान पड़तीं। यह फरासीसी होते हुए भी मुसलमान बन चुका था और फारसी-

* १६ अगस्त को वाट्सन की मृत्यु हो गई।

अंगरेजी का ज्ञाता होने के कारण एक ही साल बाद क्लाइव का दुभाषिया* हो गया था। सुनी सुनाई बातों के आधार पर वह लिखता है :—

"जिस समय वाल्श खजाने में गया उस समय उसके साथ वाट्स, लुशिंग्टन, दीवान रामचन्द और मुंशी लवकिशन भी थे। खजाने में १ करोड़ ७६ लाख रुपये चांदी के सिक्कों में और ३२ लाख रुपये अशर्फियों में थे । इनके अलावा दो पेटियों में सोने की सिल्लियां थीं, चार में रत्नजटित आभूषण थे और दो में कुछ छट्टे नगीने थे । पर यह खजाना बाहर वाला था। उसके अलावा एक खजाना अंतःपुर में भी था, जिसमें कहा जाता था कि आठ करोड़ रुपये थे । यह रकम मीर जाफर, अमीर बेग खां, रामचन्द और लवकिशन (नवकृष्ण) ने आपस में बांट ली थी। रामचन्द और लवकिशन को जो कुछ दिया गया वह उनका मुंह सी देने के लिए । जनश्रुति यह थी कि क्लाइव को जो हिस्सा मिलता उस पर इन दोनों ने हाथ मार लिया। १७५८ में रामचन्द को कुल साठ रुपये माहवार मिलते थे । पर दस बरस बाद वही नकद और हुण्डियों को मिला कर ७२ लाख रुपये छोड़ कर मरा। इसके अलावा कुछ संपत्ति भी थी। सोने के ८० और चांदी के ३२० बड़े कलश थे । १८ लाख रुपये की जमीन थी और २० लाख रुपये के जवाहरात । सब मिला कर उसकी हैसियत सवा करोड़ रुपये की बताई गई थी। यह सच है कि रामचन्द बाद को वान्सीटार्ट का दीवान हुआ था, पर वान्सीटार्ट स्वयं नौ-दस लाख रुपये से ज्यादा न कमा सका था। वारेन हेस्टिङ्गस वान्सीटार्ट का

* क्लाइव, हेस्टिग्स आदि का खुशामदी टट्टू भी।

सहकारी था, पर उसे भी इंगलैण्ड में गुजर-बसर करने के लिए दस हजार रुपये आगा बेद्रास (खोजा पिट्रस) से उधार लेने पड़े थे। यह कर्ज उसने पदोन्नति होने और मद्रास लौटने पर दस बरस बाद चुकाया। जहां वान्सीटार्ट और हेस्टिंग्स सर्व-अधिकार-संपन्न होते हुए भी इतना कम कमा सके थे वहां रामचन्द के पास सवा करोड़ की धन-संपत्ति कहां से आ गई थी? वास्तव में यह क्लाइव का हिस्सा था जिसे उसने अपनी जेब में डाल लिया था। लवकिशन भी क्लाइव के समय में रामचन्द की ही तरह साठ रुपये माहवार पर नौकरी करता था, पर अपनी माता के श्राद्ध पर उसने नौ लाख रुपये खर्च किये थे। मीर जाफर की बीबी मुन्नी बेगम के पास तो आज भी करोड़ों रुपये हैं। यह रकम भी उसे उसी अवसर पर मिली होगी।"

मुर्शिदाबाद का खजाना खाली हो जाने के दो पहलू थे। जो धन मीर जाफर और मुन्नी बेगम या रामचन्द जैसे कारिन्दे दबा कर बैठ गये वह आखिर इसी देश में रहने वाला था, पर जो धन क्लाइव, वाट्स या दूसरे अंगरेज उठा कर कलकत्ते ले गये वह इस देश में न रह कर सात समुद्र पार पहुंचने वाला और बंगाल को कंगाल कर इंगलैण्ड की सुख-समृद्धि बढ़ाने वाला था। १७५७ से वह घटनाचक्र[१] चलने लगा जिसका नाम एक ओर तो "बंगाल की लूट" है और दूसरी ओर इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रांति को सहायता। पर वह औद्योगिक क्रांति कुछ साल बाद होने वाली थी। बंगाल में जो क्रांति अभी अभी हो चुकी थी उसका यह फल तो लोगों ने तत्काल ही देख लिया कि कम से कम डेढ़ करोड़ की धन-संपत्ति अंगरेज मुर्शिदाबाद से दिन दहाड़े

उठा कर ले गये और जो दरबार में नाक रगड़ते रहते थे वे ही नवाब को नाच नचाने वाले बन गये।

कहने को क्लाइव ने दरबार में कह दिया था कि अंगरेज तो व्यापारी हैं और व्यापार ही उनका एकमात्र उद्देश है, पर यथार्थ बात और ही थी।

मुगल राजसत्ता जरा-जीर्ण हो कर कब्र में पांव लटकाये बैठी थी; प्रान्तीय शासक प्रायः स्वतंत्र हो चुके थे। पर इस स्वतंत्रता के पीछे कोई ठोस एकता न थी। वैर-फूट बनी ही रहती--आपस में लड़ाई-झगड़े होते ही रहते। विदेशियों ने देखा कि अपना मतलब निकालने का यह अच्छा संयोग है और सहायक के रूप में किसी न किसी की ओर होकर स्थिति से पूरा लाभ उठाने लगे।

इस नये अध्याय का आरंभ दक्खिन में हुआ जहां फरासीसी और अंगरेज प्रतिद्वंद्वी थे। वहां ड्यूप्ले के नेतृत्व में विशेष सफलता फरासीसियों ने ही प्राप्त की, पर आड़कट में और अन्यत्र अंगरेजों ने दिखा दिया कि इस प्रतिद्वन्द्विता में वे भी महत्वाकांक्षी थे और फरासीसियों के लिए मैदान साफ छोड़ देना उन्हें स्वीकार न हो सकता था।

बंगाल जाने से पहले क्लाइव मद्रास प्रान्त के अखाड़े में लड़ाई के साथ कूटनीति के भी दाँव-पेच सीख चुका था। ड्यूप्ले कितनी ही बातों का आविष्कारक कहा जा सकता था--जिनमें एक यह थी कि देशी सिपाहियों को विदेशी ढंग से शिक्षित और सुसज्जित कर उन्हीं के उपयोग से इस देश को आसानी से गुलाम बनाया जा सकता था। उसकी नीति-रीति से चल कर उसके

देशवासियों ने दक्खिन में कुछ समय के लिए अपना सिक्का जमा लिया। पर गुरु गुड़ और चेला चीनी—इस कहावत के अनुसार अंगरेज उनसे भी बाजी मार ले गये और एक दिन देशमात्र के भाग्य-विधाता बन बैठे। पलासी के युद्ध के बाद अंगरेजों के लिये व्यापार से ही संतुष्ट रहना असंभव था। क्लाइव ने जो कुछ कहा था वह उसके मन की बात से सर्वथा भिन्न था।

जब १७५० में निजामुल्मुल्क का दूसरा बेटा नासिर जंग मैदान में मारा गया तब उसका माल-खजाना लूट कर फरासीसी पुद्दुचेरी ले गये। सोना-चांदी और जवाहरात के अलावा उन्हें एक करोड़ नकद हाथ लगा। पुद्दुचेरी में "रुपये उछलने लगे"। द्यूप्ले को नासिर जंग के भतीजे मुजफ्फर जंग ने कृष्णा नदी के दक्षिण के इलाके में अपना नायब नियुक्त किया। फ्रेंच कंपनी को उससे जो जागीर मिली उसकी आय प्रायः साढ़े तीन लाख रुपये थी। पर मुजफ्फर जंग को इतना भी विश्वास न था कि वह सही सलामत हैदराबाद पहुंच सकेगा। इसलिए उसने फ्रेंच सेनापति बुशी को साथ चलने को कहा और इसके लिए उसे चार लाख रुपये इनाम के तौर पर दिये, हालांकि वह रास्ते में ही मार डाला गया। इसके बाद फरासीसियों ने नासिर जंग के भाई सलाबत जंग को गद्दी पर बिठाया और उससे प्रायः३१ लाख की आय के कई इलाके हासिल किये। सब मिला कर उनकी आय अब ४२ लाख के करीब हो चली। दक्षिण में फरासीसी जो कुछ कर चुके थे वह पथ-प्रदर्शन-मात्र था। अंगरेज उस पथ पर चलते हुए और भी दूर पहुंचने वाले थे।

जैसे सलाबत जंग फरासीसियों के हाथ में कठपुतली बन चुका

था, वैसे ही मीर जाफर को अंगरेजों के हाथ में बनना पड़ा। सलाबत जंग ड्यूप्ले को "चचा गवर्नर बहादुर" कहा करता था। मीर जाफर क्लाइव को "नूरचश्म" और "बेटा" कहने लगा। पर आलोचक उसे "क्लाइव का गधा" कहा करते थे। उस पर यह व्यंग्यबाण पहले पहल उसी के मुंहफट मुसाहब मिर्जा शमशेरुद्दीन ने छोड़ा था। दौरे पर कहीं मीर जाफर और क्लाइव के पड़ाव आस ही पास थे। उस मुसाहब के नौकरों से क्लाइव के नौकरों की कहा सुनी हो गई, जिस पर क्लाइव ने मीर जाफर से उसकी शिकायत की। मीर जाफर ने उसे बुलवा कर कहा कि मिर्जा, तुम्हें मालूम भी है कि कर्नल क्लाइव कौन हैं और खुदा ने उन्हें कहां बैठा रखा है? मिर्जा ने जवाब दिया कि "गरीब निवाज! मैं तो रोज सुबह उठ कर क्लाइव साहब के गधे को तीन बार सलाम करता हूँ, फिर मुझसे यह कब हो सकता है कि मैं सवार की ही शान के खिलाफ कुछ कर बैठूं?"

गद्दी पा जाने पर भी मीर जाफर निश्चिन्त न हो सका। अंगरेज उसे सुख-शान्तिपूर्वक राज्य करने देने वाले न थे। उनके लोभ और उनकी भेदनीति के कारण नित नयी समस्याएं खड़ी होने लगीं और मीर जाफर की अयोग्यता उसकी विवशता को अधिकाधिक बढ़ाने लगी। जिन लोगों ने षड्यंत्र में एक होकर भाग लिया था उनकी एकता उसके सफल होते ही छू-मंतर हो गई और किसी का किसी के प्रति सद्भाव न रहा।

मीर जाफर के अपने स्वभाव में ही कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ कि दरबार के दायरे के भीतर भी वह लोकप्रिय न रह सका। इसका विशेष कारण यह हुआ कि जो कभी उदार समझा जाता

था वह अब कृपण बन गया। जो सैनिक पुरस्कार पाने की आशा करते थे उन्हें वेतन मिलना भी कठिन हो गया। किसी मित्र के आक्षेप करने पर, मीर जाफर ने अपनी सफाई में यही कहा "कि जो नदी किसी और की थी वह अब मेरी अपनी हो चली है। पहले जहां मैं खुले हाथों पानी उलीच दिया करता था वहां अब किसी दोस्त को भी कुछ देते मेरी छाती फटने लगती है।" पुराने अधिकारियों में अब कोई भी मीर जाफर का विश्वासपात्र न रहा। पारस्परिक अविश्वास, आशंका, संदेह—यही उत्तरोत्तर बढ़ने लगे।

मीर जाफर को क्लाइव का हर बात में हस्तक्षेप करना अखरता था, पर उसमें इतना बल नहीं था कि वह दबी जबान से भी इसका प्रतिवाद कर सकता। मीरन अपने पिता को निरन्तर कोसता और उभाड़ने की चेष्टा करता रहता, पर "क्लाइव के गधे" से कभी दुलत्ती तो क्या, रेंकना भी न बन पड़ा।

जगत्सेठ का स्वार्थ कंपनी के स्वार्थ से टकराये बिना कब रह सकता था? फिर महताबराय ने उसके बलविस्तार में सहयोग क्यों दिया? उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। मनुष्य जो कुछ करता है सदा स्वार्थरक्षा की ही दृष्टि से नहीं करता। जगत्सेठ के लिए आत्म-सम्मान भी कोई चीज थी और वह सिराजुद्दौला के रहते सुरक्षित नहीं रह सकता था। सिराजुद्दौला को हटाने के लिए कंपनी से सहयोग लेना और उस सहायता का मूल्य चुकाना आवश्यक था। पर यह सब होते हुए भी जगत्सेठ के लिए भविष्य की बातें जान लेना असम्भव था। षड्यंत्र में भाग लेने वालों में कौन जान सकता था कि पलासी के मैदान में ब्रिटिश

राज्य की नींव पड़ने जा रही थी और इसके फलस्वरूप एक दिन जगत्‌सेठ का अपना भी सर्वग्रास होने जा रहा था।

कंपनी ने पहले सिराजुद्दौला और फिर मीर जाफर पर दबाव डाल कर कलकत्ते में अपनी टकसाल खोल ली। पर इससे महताबराय को अभी कुछ बरसों तक विशेष हानि होने वाली न थी, इसलिए यह उनके स्वार्थ पर कोई प्रबल आघात नहीं कहा जा सकता था। कंपनी को बंगाल–बिहार की दीवानी मिलने में भी देर थी। पर महताबराय का माथा ठनकाने वाली कार्रवाइयां कंपनी की ओर से १७५७ में ही शुरू हो गईं। पहले जगत्‌सेठ सरकार को जो कुछ कर्ज देते उसे जमींदारों के नाम परवाने लिखा कर उनसे वसूल कर लेते। अब परवाने जारी होने लगे तो जगत्‌सेठ नहीं, ईस्ट इंडिया कंपनी के हक में। क्लाइव ने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि नवाब को जो कुछ देना है उसे कंपनी को बर्दवान, नदिया और हुगली के जमींदारों से दिला दे। इसके लिए उसका प्रस्ताव था कि नवाब उनके नाम परवाने भेज दे और वे मुचलके लिख कर यह जिम्मेदारी अपने ऊपर लें। जगत्‌सेठ को इस पर आपत्ति हुई, विशेष कर इस कारण कि उन जमींदारों से उन्हें स्वयं बहुत कुछ पाना था। इस पर क्लाइव ने धमकी दी कि अगर आपको हमारा प्रस्ताव स्वीकार न हुआ तो अंगरेज आपके दोस्त न रह सकेंगे। जगत्‌सेठ ने फिर चूं भी न की।

राज्यक्रान्ति का एक फल यह भी हुआ कि अपने व्यापार के लिए कंपनी को पहले की तरह रुपया उधार लेने की कोई आवश्यकता न रही। फोर्ट विलियम की सेलेक्ट कमिटी ने अपने संचालकों को लिखा था:—

"कंपनी को यहां माल खरीदने में जितना रुपया लगाना पड़ता है उससे जगत्सेठ के निर्णय के अनुसार ही रुपया मिले तो यह कहीं अधिक होगा। हम यह विज्ञप्ति निकालने जा रहे हैं कि कंपनी के जिम्मे जिसका जो कुछ पावना हो वह १ अक्टूबर से पहले कागज लौटा कर ले ले ; अगर न लेगा तो हम उस तारीख के बाद सूद के देनदार न रहेंगे । इससे यह लाभ होगा कि कंपनी पर इस समय जो बहुत ही भारी बोझ है वह हट जायगा। हमें आशा है कि आपको इस समाचार से प्रसन्नता होगी। हम यह बता देना चाहते हैं कि जगत्सेठ के निर्णय के अनुसार कंपनी को तीन साल तक हर साल १६$\frac{3}{4}$ लाख रुपये मिलते रहेंगे। फिर जो माल आप वहां से भेजते जायंगे उसकी बिक्री और हुंडी-पुरजों से भी अतिरिक्त आय होती रहेगी । हमारा खयाल है कि तीन साल तक तो इस सूबे के माल का दाम चुकाने के लिए आपको चांदी भेजने की जरूरत न पड़ेगी।"

जगत्सेठ ने अपने निर्णय-द्वारा कंपनी को जो कुछ दिलाया वह प्रकारान्तर से स्वयं उन्हें हानि पहुंचाने वाला था।

गद्दी पर बैठने के प्रायः पांच ही महीने बाद मीर जाफर ने पूर्निया में विद्रोह का दमन करने के बहाने बिहार की यात्रा की ; यह बहाना इसलिए था कि इस यात्रा का वास्तविक उद्देश पटने पहुंच कर राजा रामनारायण को पदच्युत करना था।

पर दुर्लभराम की राजभक्ति के संबंध में भी उसे संदेह होने लगा था। उस पर एक अभियोग यह था कि वह सिराजुद्दौला के छोटे भाई मिर्जा मेहदी के पक्ष में होकर उसे गद्दी दिलाने की फिक्र में था । वास्तव में यह नौजवान कैदखाने में सिर से कफन

बांधे हुए सड़ रहा था। मीर जाफर के प्रस्थान करते ही मीरन ने, बाप के हुक्म से, दो तख्तों के बीच दबवा कर, इसे संसार से विदा करा दिया।

पूर्निया में मोहनलाल को कैद कर हाजिर अली अपनी हुकूमत चलाने लगा था। इसका दीवान अचल या अच्छल सिंह था। पर मीर जाफर ने अपनी ओर से पूर्निया का शासक खादिम हुसैन खां को नियुक्त किया और इसे हाजिर अली खां को भगाते देर न लगी। यह मीर जाफर को 'मामू' कहा करता था, यद्यपि यह उसकी बहन का सौतेला बेटा था और 'मामा-भांजा' के घनिष्ठ सम्बन्ध का आधार बहुत ही घृणित बताया जाता था। इससे मीरन की शत्रुता होने ही वाली थी।

पूर्निया से निश्चिन्त होकर मीर जाफर राजमहल से पटने की ओर बढ़ा। क्लाइव भी उसके साथ था। राजा रामनारायण को बड़ी घबराहट हुई। उसकी ओर से जगत्सेठ का "दोस्त और गुमाश्ता" गोविन्दमल क्लाइव के पास जाने-आने लगा। उससे कहा कि जब तक आप अभय-वचन नहीं दे देते तब तक रामनारायण यहां आने का साहस नहीं कर सकते। क्लाइव से आश्वासन मिल जाने पर, गोविन्दमल मीर जाफर से मिला और उससे भी वह वचन ले लिया। फिर उसने मीर जाफर के मुंशी से बातचीत की और उसे रामनारायण के अनुकूल कर लिया। मुंशी ने मीर जाफर से रामनारायण को पत्र-द्वारा अभय-दान दे देने की स्वीकृति ले ली। वास्तव में उस समय मीर जाफर अपनी दिनचर्य्या के अनुसार भंग की तरंग में था और मुंशी ने उसे पूरे खत का मजमून पढ़ कर सुनाया भी नहीं। गोविन्दमल खत लिखा कर क्लाइव के पास गया।

संधिपत्र पर हस्ताक्षर करके मीर जाफर उसे वाट्स को दे रहा है। मीरन बीच में खड़ा है—(प्राचीन चित्र से)

क्लाइव ने खत की नकल अपने पास रख ली और असल पर दस्तखत करके उसे मीर जाफर के पास भेज दिया। इसके द्वारा रामनारायण को यही वचन नहीं दिया गया था कि आप निश्चिन्त हो कर हम लोगों के पास आ सकते हैं, बल्कि यह भी कि "आप जिस पद पर हैं उस पर आजन्म बने रहेंगे । आपकी न तो किसी प्रकार की अप्रतिष्ठा की जायगी, न आपसे राज-सम्बन्धी या और तरह की कोई कैफियत तलब की जायगी।" क्लाइव ने नवाब की ओर से भेजे हुए मसौदे पर दस्तखत करके यह सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली थी और रामनारायण को अंगरेजी पड़ाव पर बुलाया था । गोविन्दमल मुंशी से वह खत लेकर, बिना फिर नवाब से मुलाकात किये, सीधे रामनारायण के पास पहुंचा और उसे खुशखबरी सुनाई। इसके बाद रामनारायण जाकर क्लाइव से मिला और गोविन्दमल के सलाह देने पर, उसके बाद मीर जाफर से। पर मीर जाफर के पास वह क्लाइव का एक अंगरेज अफसर साथ लेकर ही गया। बात मीर जाफर को अच्छी नहीं लगी, पर वह रामनारायण का अब कर ही क्या सकता था?

इधर मेदिनीपुर से राजाराम के विद्रोही हो जाने का समाचार मिला था, पर वहां भी शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गई थी। दुर्लभराम की भी बांह क्लाइव ने गह ली थी । राजा रामनारायण से वह पहले ही पत्र-व्यवहार करने लगा था। जब मुर्शिदाबाद से उसके एजेन्ट स्क्राफ्टन ने नवम्बर में मीर जाफर की बुराई करते हुए यह लिखा था कि हर ओर बगावत हो रही है, अफवाह है कि रामनारायण विद्रोही हो कर अवध के नवाब का पक्ष ग्रहण करने जा ही रहा है, तभी क्लाइव ने उसे जवाब दिया था कि "धीरज से काम लो,

घबराओ मत । मैं नवाब और रामनारायण दोनों को पत्र लिख चुका हूँ और मैं पूरी फौज ले कर रवाना होने ही वाला हूँ।" पटने पहुंचने से पहले, क्लाइव मीर जाफर से पच्चीस लाख वसूल कर चुका था और उससे और दस लाख देने का वादा भी करा चुका था। १८ फरवरी १७५८ को क्लाइव ने लिखा कि "सारे उपद्रवों से नवाब को शान्ति मिल गई और वह सुरक्षित हो गया । हमारा यह बड़ा लाभ हुआ है कि राज्य में जो सब से अधिक प्रभावशाली हैं वे हमारे मित्र और सहायक बन चुके हैं। राजाराम, दुर्लभराम और रामनारायण का हमने जिस तरह बारी बारी से साथ दिया है उससे लोगों का हम पर भरोसा हो चला है और सब हमारी मैत्री—हमारे सद्भाव के इच्छुक तथा प्रार्थी हो रहे हैं।"

इन बातों से एक नतीजा यह निकाला गया है कि जहां सिराजुद्दौला हिन्दुओं से द्वेष रखने वाला न था, वहां मीर जाफर का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक था और वह हिन्दुओं पर विश्वास करने वाला न था। पर यहां यह ध्यान में रखने की बात है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अंगरेज आ गये थे और उनका हित इसी में था कि बंगाल-बिहार में साम्प्रदायिक एकता न रहने पावे। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि मीर जाफर के विरुद्ध लड़ने वाले कामगार खाँ, दिलेर खाँ, कादिर दाद खाँ, गुलाम हुसैन खाँ आदि मुसलमान थे और मीरन का अपना दीवान राजवल्लभ हिन्दू था।

जब मई सन् १७५८ में क्लाइव मुर्शिदाबाद गया तब दुर्लभराम को भी अपने साथ लेता गया । इस पर मीरन को घोर आपत्ति हुई और उसने नगर का परित्याग कर विद्रोह भी कर दिया।

बाजार में हड़ताल मनाई जाने लगी और सेठों ने भी काम-काज बन्द कर दिया। पर यह गड़बड़ी दो ही एक दिन रही और अन्त में मीरन को क्लाइव से माफी मांगनी पड़ी। हां, यह तै हुआ कि दुर्लभराम को दीवान का पद फिर न दिया जाय।

महीनों (बरसों ?) से वेतन न चुकने के कारण सैनिक अधीर हो गये थे और अगर अंगरेज न होते तो वे बगावत किये बिना न रहते। इसके लिए दोषी दुर्लभराम ही बताया गया। इधर उसके और जगत्सेठ के भी बीच मनोमालिन्य हो चला। कारण यह कि नन्दकुमार अब हुगली से मुर्शिदाबाद पहुंच गया था और स्वार्थपरता से दुर्लभराम के विरुद्ध प्रचार करने लगा था। नवाब से जाकर कहता कि अगर दुर्लभराम अपने कर्तव्य का पालन करता तो आपको अर्थाभाव के कारण संकटापन्न होना न पड़ता। जगत्सेठ से जा कर कहता कि दुर्लभराम अपनी जगह बना रहा तो यह विश्वास रखिए कि आप पर आंच आये बिना न रहेगी—नवाब चाहे जैसा होगा आपसे रुपया लेकर ही रहेगा। अगस्त में एक ओर मीर जाफर जगत्सेठ को साथ लेकर कलकत्ते के लिए रवाना हुआ, दूसरी ओर सरकार के कहने या इशारे पर कुछ लोगों ने दुर्लभराम का घर घेर कर उस पर वार करना चाहा। अगर स्क्राफटन उसे कलकत्ते न भिजवा देता तो उसकी जान न बचती।

जगत्सेठ मीर जाफर के लिए दिल्ली से फरमान मंगा देने का वादा कर चुके थे। पर कुछ महीनों तक वह फरमान न आ सका। दिल्ली में मोलचाल होती रही। जनवरी १७५८ में खबर मिली कि फरमान जारी हो चुका था और मीर जाफर, मीरन* आदि को

* मीरन का खिताब था नवाब नसीरुलमुल्क सदीक अली खां सहामत जंग।

खिताब भी मिल चुके थे। जगत्सेठ ने क्लाइव को इसकी सूचना भेजते हुए लिखा कि आपको भी उमरा का दर्जा मिला है और उसके साथ बड़ा खिताब भी। पर क्लाइव को इतने से ही संतोष न हो सकता था। एक साल बाद उसने जगत्सेठ को लिखा:—

"जब आपकी सिफारिश पर मुझे जब्दितुल मुल्क नजीरुद्दौला के खिताब के साथ ६,००० का मनसब मिला था तब मुझे आशा हुई थी कि नवाब से मुझे अपने दर्जे के लायक कोई जागीर भी मिलेगी। पर अबतक मुझे उनकी ओर से इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिली है। आप उनके घनिष्ठ मित्र हैं, इस लिए मैं आपको कष्ट दे रहा हूँ कि आप उन्हें सनद की याद दिला कर मुझे कोई अच्छी जागीर दिला दें।"

इसका क्लाइव को सेठों से फरवरी १७५९ में यह उत्तर मिला—

"आपके कृपापत्र मिले। हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपका स्वास्थ्य अच्छा है और हम इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद देते हैं। आपके आज्ञानुसार हमने नवाब से जागीर का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि बंगाल में तो जागीर देना सरकार ने बन्द कर दिया है, उड़ीसा में इस लायक जमीन ही नहीं। पर आप चाहें तो आप को बिहार में जागीर मिल सकती है। आपका जैसा विचार हो सूचित करें।"

पर कुछ समय बाद जगत्सेठ की सिफारिश पर मीर जाफर ने बंगाल में ही जागीर देना मंजूर कर लिया।

कंपनी को कलकत्ते के पास जिन गांवों की जमींदारी मिल चुकी थी उनका खिराज सरकार को देना पड़ता था। जगत्सेठ ने यह व्यवस्था कराई कि उस रकम का अधिकारी क्लाइव समझा जाय।

४ जून १७५९ को सेठों की ओर से क्लाइव को लिखा गया कि "हमारे कहने पर नवाब ने आपको इसी प्रान्त के भीतर जागीर देना स्वीकार कर लिया है। आप जब फिर यहां आयेंगे तब आपको इसका पूरा ब्योरा मिलेगा । आप अपने स्वास्थ्य का समाचार भेज कर हमें कृतार्थ करेंगे।"

जब क्लाइव कुछ दिन बाद मुर्शिदाबाद लौटा तब उसकी अगवानी के लिए मीर जाफर, जगत्सेठ और कुछ दरबारी शहर से दो मील आगे गये और जगत्सेठ ने क्लाइव को जागीर-सम्बन्धी खरीता समर्पित किया।

अपने जिस पत्रद्वारा जगत्सेठ ने क्लाइव को जागीर मिल जाने की सूचना दी थी उसी में यह भी लिखा था कि हम सपरिवार तीर्थयात्रा करने बाहर जा रहे हैं और छः सप्ताह बाद मुर्शिदाबाद लौटेंगे। उनके प्रस्थान से पहले ही शाहजादा अली गौहर बिहार-बंगाल पर आधिपत्य जमाने के उद्देश से कर्म्मनाशा नदी को पार कर चुका था। राजा रामनारायण पर यह आरोप पहले ही लग चुका था कि वह अवध के नवाब से मिल कर कोई षड्यन्त्र कर रहा था। अब यह कहा जाने लगा कि उस षड्यन्त्र में जगत्सेठ भी शामिल थे और उन्होंने शाहजादे की आर्थिक सहायता की थी। जब फरवरी १७५९ में महताबराय और स्वरूपचन्द पारसनाथ तीर्थ[७] जाने लगे तब उन्हें छुट्टी के अलावा अपने साथ दो हजार सिपाही ले जाने की इजाजत मिल जाने पर भी, नवाब ने आज्ञा दी कि न तो वे खुद जायँ और न इन सिपाहियों को ही साथ ले जायँ। पर किसी ने इस आदेश पर ध्यान नहीं दिया। सिपाहियों को सेठों की ओर से यह आश्वासन मिल चुका था कि सरकार के

जिम्मे उनका जो कुछ वेतन बाकी था उसे वह दे देंगे और ऐसी हालत में उन्होंने आदेश सुना भी तो उसे अनसुना कर दिया। तीर्थ-यात्रा कर जून तक जगत्सेठ मुर्शिदाबाद लौट आये और उनके लौटने पर ही नवाव से क्लाइव को वह जागीर मिली। इस बीच में शाहजादा बिहार पर आक्रमण कर चुका था, जिसकी पृष्ठभूमि यह थी:—

१७४८ में मुहम्मद शाह रंगीले के मरने पर उसका बेटा अहमद शाह दिल्ली के तख्त पर बैठा था। यह १७५५ में तख्त से उतार दिया गया और अंधा कर दिया गया। उसके बाद जहांदार शाह का दूसरा बेटा अजीजुद्दीन, आलमगीर सानी के नाम से तख्त पर बैठा। इसकी १७५९ के अन्त में हत्या हुई और कामबख्श का पोता शाहजहां तृतीय* सम्राट् घोषित किया गया। पर एक वर्ष के भीतर ही यह गद्दी से हटा दिया गया। १७६१ में पानीपत की तीसरी लड़ाई हुई और मराठों को परास्त कर काबुल लौटने से पहले अहमद शाह अबदाली, आलमगीर सानी के लड़के अली गौहर को शाहआलम सानी† के नाम से सम्राट् मनोनीत कर गया।

प्रभुता के लिहाज से, दिल्ली अपने अतीत की छाया-मात्र रह गई थी। नर्मदा के दक्खिन में ही नहीं, उत्तर में भी प्रान्तीय शासक प्रायः स्वतंत्र हो चले थे। दिल्ली की जो कुछ चलती थी

* शाहजहां सानी (या द्वितीय) रफीउद्दौला की उपाधि थी।

† १७८८ में एक अफगान ने इसे अंधा कर दिया। इसका बेटा अकबर सानी था जो १८०९ से १८३७ तक सम्राट् रहा, और पोता बहादुर शाह सानी जिसे सन् १८५७ के विद्रोह के बाद निर्वासित होना पड़ा।

वह उसी के इर्द-गिर्द के इलाके में—जिसमें पूरा दोआबा भी शामिल नहीं था। राजपूत तो तटस्थ रहने लगे थे, पर पड़ोसी जाट दिल्ली की गलियों में भी पहुंच जाते और दरबार की दलबन्दी से जो लाभ उठा सकते उठा लेते। रुहेलखंड में रुहेले और दोआबा के दक्षिण भागमें बंगश अफगान प्रभावशाली हो चले थे। रुहेलों की राजधानी मुरादाबाद थी और बंगश अफगानों की फर्रुखाबाद। अवध का सूबेदार पहले सआदत खां था। १७३९ में उसका भांजा और दामाद अबुल मंसूर खां, सफदर जंग के नाम से, उसका उत्तराधिकारी हुआ। यह शीआ था, इसलिए भी इसकी सुन्नी अफगान पड़ोसियों से नहीं बनती थी। मराठों की सहायता से फर्रुखाबाद को तहस-नहस कर सफदर जंग ने बंगश अफगानों का आधा राज्य उन्हें दे दिया। यमुना से उत्तर मराठों ने इससे पहले कोई इलाका हासिल नहीं किया था। सफदरजंग ने इलाहाबाद-प्रान्त को भी अवध में मिला लिया। १७५४ में उसकी मृत्यु होने पर उसका बेटा शुजाउद्दौला अवध का नवाब हुआ। शाहजादा अली गौहर (भावी शाहआलम सानी) और शुजाउद्दौला के नाम हमें आगे भी मिलने वाले हैं।

इस देश पर, पश्चिमोत्तर दिशा से कई आक्रमण इधर अहमद शाह अबदाली या दुर्रानी नामक अफगान-द्वारा हुए। पहला १७४८ में, दूसरा १७४९ में, तीसरा १७५१ के अन्त में। तीसरे आक्रमण के फलस्वरूप दुर्रानी को पंजाब और मुलतान मिल गये। चौथा आक्रमण १७५६ में हुआ और १७५७ की जनवरी में दुर्रानी ने दिल्ली पहुंच कर शहर को लूटपाट से और भी खोखला कर दिया। इस यात्रा में उसने मथुरा जाकर वहां बहुसंख्यक "निस्स्त्र हिन्दू

यात्रियों का कत्ल कराके इस्लाम के प्रति अपनी अनुरक्ति-भक्ति प्रदर्शित की *।" इसके बाद उसकी चढ़ाई १७५९ में मराठों को दंड देने के उद्देश से हुई और उसी के अन्त में १४ जनवरी १७६१ को पानीपत के पास वह महासंग्राम हुआ जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है ।

इन लड़ाइयों के अलावा दिल्ली-दरबार में भी विभिन्न दलों के बीच दंगल होते ही रहते थे । बल्कि दलबन्दी पहले से भी जोरों पर थी । कभी ईरानी दल जीतता तो कभी तूरानी—पर जो जीतता वह सम्राट् की मुश्कें कुछ और कस देता । १७४८ में निजामुल्मुल्क के चचेरे भाई कमरुद्दीन खां के मारे जाने पर, सफदर जंग वजीर हुआ। निजामुल्मुल्क का बड़ा बेटा गाजीउद्दीन खां (प्रथम) दिल्ली में ही उच्च पद पर था । दूसरा बेटा नासिर जंग के नाम से हैदराबाद की गद्दी का मालिक बन गया । गाजी-उद्दीन १७५२ में सलाबत जंग † से गद्दी छीन लेने के विचार से चला भी तो उसकी सौतेली मां ने उसे रास्ते में ही जहर दे कर मार डाला । दिल्ली में उसकी जगह उसके अठारह साल के बेटे को मिली। यह भी बाप की ही तरह गाजीउद्दीन कहाने लगा और सफदर जंग की सिफारिश पर इसे अमीरुल उमरा, इमादुल्मुल्क आदि खिताब भी मिले। पर यह आफत का परकाला निकला। पहले तो इसने बादशाह की ओर से सफदर जंग की ही जड़ खोदना शुरू किया और बात यहां तक बढ़ी कि सफदर जंग ने १७५३ में बगावत कर दी। छः महीने बाद शान्ति स्थापित हुई

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी आव् इंडिया । भाग ४, पृष्ठ ४३९ ।

† नासिर जंग १७५० में मारा जा चुका था।

भी तो वह दिल्ली में न रह सका। अवध चला गया। अब कमरुद्दीन का बेटा अर्थात् गाजीउद्दीन का चचा इंतिजामुद्दौला वजीर हुआ। इन दोनों की भी आपस में न बन सकी। गाजीउद्दीन ने सफदर को भगा कर चचा को बरखास्त कराया और आप वजीर बन बैठा। फिर उसने अहमद शाह को तख्त से हटाया और उसकी ही नहीं, उसकी मां की भी आंखें निकलवा लीं। जब १७५७ में अहमद शाह दुर्रानी दिल्ली आया तब नये सम्राट् आलमगीर सानी ने भी उससे रो रो कर कहा कि मेरी जान हर घड़ी खतरे में है, लौटने से पहले मेरे बचाव का कोई इंतजाम जरूर कर जाइए। मुहम्मद शाह की दो विधवा स्त्रियों ने भी गाजीउद्दीन के बर्ताव की शिकायत की और उनमें से एक ने तो यह प्रस्ताव भी किया कि मुझसे निकाह कर लीजिए और हम दोनों को साथ लेते चलिए। उसकी उम्र को देखते हुए दुर्रानी को यह प्रस्ताव आर्कषक न जंचा, पर दयाद्रवित हो उसने उसे स्वीकार कर लिया। १७५९ में दुर्रानी फिर आया। उससे पहले ही गाजीउद्दीन की आस्तीन पर अपने बादशाह और अपने चचा के खून के दाग पड़ चुके थे। नतीजा यह हुआ कि उसे दिल्ली से भाग कर सूरजमल जाट के किसी किले में शरण लेनी पड़ी।

सफदर जंग और गाजीउद्दीन के मंत्रित्वकाल में मराठों का दिल्ली में भी दबदबा बढ़ा और वे वहां की राजनीतिक स्थिति से लाभ उठा कर अपने साम्राज्य को विस्तृत करते ही गये। उनसे भूल हुई तो यह कि जहां विस्तार को बढ़ाया वहां नींव की मजबूती की ओर ध्यान नहीं दिया। सफदर जंग के सहायक हो कर मराठे १७५१ में दोआबा पर ही नहीं, रुहेलखंड पर भी

अधिकार कर चुके थे। गाजीउद्दीन सानी भी उनके दरबार में सहायतार्थी बना ही रहा। इन्दौर-राज्य के संस्थापक मल्हार राव होलकर की मदद से ही उसने अहमद शाह को तख्त से उतारा था। जब जरूरत पड़ती तब होलकर या शिंदे या दोनों से मदद ली जाती और उन्हें इस मदद की पूरी कीमत दी जाती। १७५१ में प्रायः सवा करोड़ रुपये लेकर काबुल लौटने से पहले, दुर्रानी लाहौर में अपने बेटे तैमूर शाह को प्रतिनिधि-स्वरूप छोड़ गया। पर एक ओर वह पंजाब से हटा, दूसरी ओर गाजी-उद्दीन ने मराठों को निमंत्रित कर उस प्रान्त को छीन लेने के लिए भेजा। मराठों का सेनापति था पेशवा बालाजी बाजीराव का भाई रघुनाथ राव (राघोबा)। इसने तैमूर शाह को मार भगाया और लाहौर पर अधिकार कर लिया। मराठों की शक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी। यल्फिन्स्टन नामक इतिहासकार के शब्दों में, उनके राज्य का विस्तार उत्तर में तो सिंधु नदी और हिमालय तक और दक्षिण में प्रायः कन्याकुमारी तक हो चुका था। जो प्रान्त या प्रदेश दूसरों के अधीन थे वे भी उन्हें कर देने लगे थे। और इस सारे साम्राज्य का शासन पूना से होता था, जहां सारी शक्ति एक व्यक्ति पेशवा के हाथ में केन्द्रीभूत थी। पंजाब में होने वाली सफलता पर पूना दरबार में आनन्द का वारपार न रहा और लोगों ने यह मान लिया कि 'अटक की दीवारों पर भी भगवा झंडा फहराने लगा था'। वास्तव में रघुनाथ राव ने जो कुछ किया वह शायद ही नीतिमान् का काम कहा जा सकता था। उससे पेशवा के कोष में तो एक आना पैसा भी न आया। फिर जहां मराठों को न तो सिखों की सहानुभूति प्राप्त थी, न मुसल-

मानों की, उस प्रान्त को वे कितने दिन अपने अधिकार में रख सकते थे ? उधर बिना पूरे संगठन या आयोजन के ही अहमद शाह अबदाली को चुनौती दे कर उसने हिन्दुस्तान में मराठा शक्ति के विनाश को अनिवार्य कर दिया*। पानीपत की इस तीसरी लड़ाई का नतीजा यह न होता और मराठों की संघशक्ति नष्ट न हो जाती तो अंगरेजों को बंगाल में अपना राज्य स्थापित करने और उत्तरोत्तर उसकी सीमा बढ़ाते जाने में जो आश्चर्य-जनक सफलता हुई वह हर्गिज न हो पाती ।

गाजीउद्दीन ने १७५७ में मराठों को आमंत्रित कर और रघुनाथ राव तथा मल्हार राव होलकर को पृष्ठपोषक बना कर, आलमगीर सानी को किले में नजरबन्द कर दिया । सम्राट् अपने पुत्र अली गौहर को दिल्ली से बाहर फौज ले आने के लिए भेज चुका था। पर अली गौहर से कुछ न बन पड़ा। रघुनाथ राव और मल्हार राव के पंजाब चले जाने पर वह मराठा सरदार बिट्ठल राव की सलाह से, दिल्ली लौटा भी तो उसे किले में रहने का साहस न हो सका। पर जिस मकान में डेरा डाला उसको भी गाजीउद्दीन ने एक दिन घेर लिया । विट्ठल राव की मदद से अली गौहर फर्रुखाबाद भाग गया और वहां से सहारन-पुर पहुंच कर नजीबुद्दौला† की शरण ली। उसने शरणार्थी को सलाह दी कि बंगाल की हालत खराब है, अंगरेज उसे निगल जाने की फिक्र में हैं, बेहतर हो कि आप उधर जा कर एक पंथ दो

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी, भाग ४, पृष्ठ ४१६।

† इसका असली नाम नजीब खां था । यह अहमद शाह दुर्रानी का बड़ा खैरख्वाह और गाजीउद्दीन का दुश्मन था ।

काज कर लें। शाहजादा सहारनपुर से चल कर अवध पहुँचा तो शुजाउद्दौला ने भी यही सलाह दी। नजीबुद्दौला की तरह यह भी इसी नतीजे पर पहुंच चुका था कि दिल्ली में गाजीउद्दीन के रहते अली गौहर को पनाह देना अपने हक में अच्छा नहीं हो सकता। फिर उसकी अपनी दृष्टि भी बिहार-बंगाल पर थी। उस समय इलाहाबाद में मुहम्मद कुली खां उसका नायब था। यह भी अपने ही स्वार्थ की दृष्टि से इस विजय-यात्रा का समर्थन करने लगा। शुजाउद्दौला उसका असली अभिप्राय जानता था, पर उसे इस नायब को शाहजादे के साथ जाने देने में कोई आपत्ति नहीं हुई। अली गौहर और मुहम्मद कुली १७५९ में कर्म्मनाशा पार कर, पटने के पास पहुंच गये।

बिहार और बंगाल के कुछ सरदार मुहम्मद कुली खां को सहायता का वचन दे चुके थे। रामनारायण ने अंगरेजों की फैक्टरी के प्रधान मि० ऐमियट से सहायता मांगी तो कोई निश्चयात्मक उत्तर न मिला। असमंजस में पड़ कर वह पहले तो दोनों आक्रमण-कारियों के पड़ाव पर गया और दरबारदारी की। फिर उसे ज्योंही मालूम हुआ कि क्लाइव और मीरन चले आ रहे थे, उसने रुख बदल दिया। इस पर लड़ाई शुरू हो गई और किले पर गोलाबारी होने लगी। इसी बीच मुहम्मद कुली खां को खबर मिली कि शुजाउद्दौला खां ने इलाहाबाद के किले पर अधिकार कर लिया था। वह अपनी निबेड़ने के लिए उस ओर चल पड़ा। फरासीसी सरदार मो० ला ने इस अवसर पर पहुंच कर शाहजादे से कहा कि पटने के किले पर फिर घेरा डाला जाय, पर अर्थाभाव के कारण यह करने का उसे साहस न हो सका। मुहम्मद कुली खां

बनारस पहुंचा तो शुजाउद्दौला के हुक्म से गिरफ्तार कर लिया गया। शाहजादा अली गौहर मो० ला के साथ, मिर्जापुर होता हुआ रीवा चला गया। क्लाइव और मीरन पटने पहुंचे तो उन्हें किसी का सामना न करना पड़ा, पर औरों को नहीं तो मीर जाफर को यही विश्वास हुआ कि क्लाइव ने ही आक्रमणकारियों को भगा दिया था। अपनी कृतज्ञता दिखाने के लिए उसने उसे वह जागीर दे दी जिसका जगत्सेठ प्रस्ताव कर चुके थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे पहले ही जगत्सेठ-सम्बन्धी संदेह निराधार प्रमाणित हो चुका था।

क्लाइव के कलकत्ते लौट जाने पर, मीर जाफर सितम्बर १७५९ में, दूसरी बार वहां गया। साथ जगत्सेठ भी थे। इन लोगों की वहां चार दिन मेहमानदारी हुई। सब मिला कर कंपनी को ९६,९१६ रुपये खर्च पड़े—७९,५४२ रुपये नवाब के लिए और १७,३७४ रुपये जगत्सेठ के लिए। दूसरी रकम की कुछ तफसील यह थी:—

				रु०	आ०	पा०
१—मकान की सजावट				५२८*	१२	६
(क) चार थान खासा	१५५	०	०			
(ख) ४५ थान कटनी †	१५७	०	०			
(ग) परदों के लिए रेशम, फीता, सूत	९६	१२	०			
(घ) गद्दों के लिए टाट	१६	१०	०			
(ङ) ४० चटाइयां	३७	०	०			

* मि० लिट्ल। आरकटी रुपये।

† कटनी एक प्रकार के सूती कपड़े का नाम था।

	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
(च) दर्जियों की मजदूरी	६६	६	६			
२—भोजन चार दिन				१६००	०	०
३—उपहार				प्राय: ९५००	०	०
(क) ९ थान फूलदार मखमल	१५७०	८	०			
(ख) १ हीरा जड़ा हुआ अतरदान	३२,२२	३	९			
(ग) ४ थान बनात	२८०	०	०			
४—नौकरों को बखशीश				५००	०	०
५—जगत्सेठ के साथ जाने वाले डालचन्द के लिए खर्च				९२२	३	०
(क) भोजन	१५०	०	०			
(ख) उपहार	७७२	३	०			
६—रतनचन्द के लिए खर्च				९३२	७	०
(क) भोजन	१५०	०	०			
(ख) उपहारादि	७८२	७	०			
७—ब्रजमोहन साह के लिए खर्च				३८४	१४	०
(क) भोजन	१००	०	०			
(ख) उपहार	२८४	१४	०			
८—हाथी के लिए बनात				३५	०	०
९—फल लाने वालों को बखशीश				२०	१०	०

अंगरेज-जाति के लिए कौड़ियों के मोल बंगाल-बिहार खरीद कर, उसके राज्यविस्तार का बीज बो और स्वयं करोड़पति बन कर, २५ फरवरी १७६० को क्लाइव इंगलैण्ड के लिए रवाना हुआ। इससे पहले शाह आलम फिर पटने पर चढ़ाई कर चुका

था और अंगरेजों की ओर से वहां मीरन के साथ कैलो सेनापति बना कर भेजा जा चुका था। क्लाइव की जगह वांसी-टार्ट गवर्नर नियुक्त हो चुका था, पर इसके आने में कुछ महीनों की देर थी इसलिए हालवेल स्थानापन्न गवर्नर हुआ।

इसी समय मराठों ने दक्षिण से हमला किया और कंपनी को जमींदारों से रुपया वसूल करने में कठिनाई होने लगी।

उधर ढाके से कुछ रुपये की मांग आई। इस पर हालवेल ने वहां वालों को लिखा कि मेरे पास रुपया नहीं, तुम जगत्सेठ से कर्ज लेकर काम चलाओ। मई में उसने खुद जगत्सेठ से कर्ज मांगा, पर उसे जवाब मिला कि मीर जाफर को हमें इधर इतना उधार देना पड़ा है कि हम कंपनी की मांग पूरी नहीं कर सकते। बिगड़ कर हालवेल ने वारन हेस्टिंग्स को लिखा कि, "मैंने जगत्सेठ से दस-पंद्रह लाख रुपये मांगे थे, पर उन्होंने बहाना कर कुछ भी देने से इन्कार कर दिया है। मेरा खयाल था कि अपने आपको सुरक्षित रखने और कंपनी से दोस्ती बनाये रखने के लिए वह खुशी खुशी यह कर्ज दे देंगे। पर मेरा खयाल गलत निकला। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि कंपनी को इसका बदला लेने का मौका शीघ्र ही मिलेगा।"

वारन हेस्टिंग्स ने जगत्सेठ की ओर से खेद प्रकट किया तो हालवेल ने उसे लिखा कि, "अगर जगत्सेठ कंपनी के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहते तो सब न सही, कुछ रुपये तो दे ही सकते थे। उनका कहना है कि नवाब की मांग पूरी करने के कारण वह कंपनी को कुछ उधार नहीं दे सकते। पर मुझे इसमें जरा भी सचाई नजर नहीं आती। अगर कंपनी की मांग पूरी

कर देते तो नवाब को इसी आधार पर कुछ भी देने से इन्कार कर सकते थे । उस हालत में अगर नवाब की ओर से उनके साथ दुर्व्यवहार भी होता तो हम उन्हें बचा लेते । खैर, वह समय आ सकता है जब उन्हें कंपनी से सहायता मांगनी पड़ेगी। उन्हें जान लेना चाहिए कि उस हालत में हम उनकी रक्षा न कर, उन्हें शैतान के ही हाथ में छोड़ देंगे ।"

शाहजादे की दूसरी चढ़ाई पहली की अपेक्षा बड़े पैमाने पर थी और बिहार के कामगार खां, दिलेर खां आदि सरदार भी इस बार उसका पक्ष अपना चुके थे । इसी समय अली गौहर को अपने बाप आलमगीर सानी के मारे जाने की खबर मिली। उधर वजीर गाजीउद्दीन ने तो शाहजहां (तृतीय) को सम्राट् घोषित किया, इधर अली गौहर ने, "मुताखरीन" के लेखक के पिता हिदायत अली खां की सलाह से, अपने आपको*। अब यह शाह आलम सानी कहाने लगा । शुजाउद्दौला को इसने अपना वजीर और नजीबुद्दौला को अपना सेनापति नियुक्त किया । पर ये कोई काम न आ सके । फिर भी फतुए में होने वाली लड़ाई में शाह आलम की जीत हुई और रामनारायण घायल हुआ । अंगरेजों की ओर से कप्तान काकरेन और बारवल लड़े भी तो उन्हें हार ही खानी पड़ी और पटने पर शाह आलम का कब्जा हो गया। कैलो और मीरन के पहुंच जाने पर लड़ाई और भी जोर शोर से होने लगी। शाह आलम की ओर से कादिर दाद खां ने मीरन के मामा मुहम्मद

---

*उसके नाम का खुतबा पढ़ा भी गया तो लोग उसे प्राय: "शाहजादा" ही कहते रहे। "शाह आलम" वह १७६१ से कहाने लगा जब अहमद शाह अबदाली उसे सम्राट् घोषित कर गया ।

अमीन खां को मार डाला । खुद मीरन को घायल होकर मैदान से भाग जाना पड़ा। इसके बाद गोला लगने से कादिरदाद मारा गया और परिस्थिति शाह आलम के प्रतिकूल हो गई। कामगार खां उसे साथ लेकर बिहार शरीफ चला गया । वहां से धावा मार कर वह बर्दवान जा पहुंचा । मुर्शिदाबाद से मीर जाफर अंगरेजों को साथ ले कर आगे बढ़ा और बर्दवान के पास ही दोनों दलों का मुकाबला हुआ । इस मौके पर शाह आलम को दुर्लभराम से ही नहीं, पूर्निया वाले खादिम हुसैन खां से भी पैसे की मदद मिली। पर लड़ाई में तोपों की बदौलत मीर जाफर की ही जीत हुई और कामगार खां को पटने की ओर लौट जाना पड़ा।

अलीवर्दी की बेगम, अपनी दोनों* बेटियों तथा अन्य स्त्रियों के साथ, मुर्शिदाबाद से ढाके भेज दी गई थीं। अब मीर जाफर और मीरन ने उनका बचा-खुचा धन भी छीन लेने और उनमें से दो को मरवा डालने के उद्देश से बाकिर खां को एक सौ सवारों के साथ ढाके भेजा । वहां के फौजदार जसारत खां को लिखा गया कि चाहे जैसे हो घसीटी बेगम और अमीना बेगम को गिरफ्तार कर फौरन बाकिर खां के साथ यहां भेज दो। जसारत को ऐसा कुकृत्य करने में हिचकिचाहट हुई तो मीर जाफर ने कहलाया कि मीरन तो बिहार चला गया, अब उनके लिए मुर्शिदाबाद में खतरा ही क्या रहा ? छल से दोनों बहनें नाव में बिठाई और पद्मा नदी के बीच में लाकर डुबा दी गईं। "रियाजुस्सलातीन" में लिखा है कि, जब उन्हें मालूम हो गया कि उन्हें

---

* तीसरी बेटी शौकतजंग की मां थी जो शायद पूर्निया में ही मर चुकी थी ।

ढाके से ले आने का वास्तविक उद्देश क्या था, तब उन्होंने पहले तो नमाज पढ़ी, फिर बगल में कुरान दबाकर पारस्परिक आलिंगन किया और पानी में कूद पड़ीं। "मुताखरीन" में लिखा है कि अमीना बेगम ने कूदने से पहले ईश्वर से प्रार्थना की कि जिस मीरन के आदेश से हम दोनों बहनों की इस प्रकार हत्या की जा रही है उस पर गाज पड़े!

अलीवर्दी खां की बेगम कुछ समय बाद मुर्शिदाबाद पहुंचाई गईं और मरने पर अपने पति के मकबरे में ही दफनाई गईं। सिराजुद्दौला की बेगम लुत्फुन्निसा भी अपनी बेटी उम्मत जोहरा के साथ वहीं लाई गई और उसे अलीवर्दी खां और अपने पति के समाधिभवन की देख-रेख का काम सौंपा गया, जिसके लिए उसे तीन-चार सौ रुपये की मासिक वृत्ति मिलने लगी।

शाह आलम के साथ पटने पहुंच कर कामगार खां ने फिर किले पर घेरा डाला। मो० ला भी वहां पहुंच चुका था। रामनारायण आत्म-समर्पण करने जा ही रहा था कि कप्तान नाक्स कुमक ले कर आ गया और कामगार खां की फौज के पैर उखाड़ दिये। शाह आलम मनेर की ओर चला गया।

मीरन को खादिम हुसैन खां फूटी आंखों न भाता था और इधर उसने इसको पूर्निया से भगा देने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। इसका जवाब देने के लिए खादिम हुसैन अपनी सेना के साथ गंगा के दूसरी ओर हाजीपुर आ गया था। शाह आलम के पटने से हटते ही, मीरन ने कैलो की सेना के साथ नदी पार कर उसका पीछा किया। खादिम हुसैन बेतिया की ओर भाग चला। उसके सौभाग्य से रास्ते में, रात को मीरन के खेमे पर बिजली

गिरी और वह मारा गया*। "मुताखरीन" का कहना है कि जिस दिन अमीना बेगम और घसीटी बेगम डुबाई गईं उसी रात को मीरन पर यह विद्युत्पात हुआ। खादिम हुसैन अवध की ओर भाग गया और मीरन के दल वाले पटने लौट गये। इनमें राजवल्लभ भी था जो पलासी के युद्ध के बाद मीरन का दीवान बन चुका था। इन लोगों ने शाह आलम को घेर लेना चाहा, पर कामगार खां के साथ वह गया-मानपुर की ओर भाग गया।

अपने ज्येष्ठ पुत्र मीरन के मरने का समाचार पाते ही मीर जाफर की कमर टूट गई। उधर सैनिकों ने बाकी वेतन मांगना शुरू किया और न मिलने पर उन्होंने बदअमली कर दी। कितने ही सरकारी अफसर पालकियों से उतार लिये गये और मारे-पीटे गये। १६ जुलाई को सैनिकों ने नवाब के महल को घेर लिया और दीवारों पर चढ़ कर नवाब को गालियां देने और धमकाने लगे। जो सामने आया उसी पर ईंट-पत्थर फेंके गये। अगर

---

* पर बरसों बाद बर्क ने पार्लमेन्ट के सामने व्यंग्यपूर्ण भाषा में कुछ और ही कहा था :—

"वह कैसी विचित्र बिजली रही होगी कि ऊपर का खीमा ज्यों का त्यों खड़ा रहा, बिजली के गिरने की आवाज पास सोये हजारों सैनिकों में से किसी को सुनाई न पड़ी और मीरन उसके प्रहार से मर गया।"

—श्री अक्षयकुमार मैत्रेय के बंगला ग्रंथ "मीर कासिम" के हिन्दी अनुवाद "जब अंगरेज आये" (अनु० श्री रामनाथ लाल सुमन) से।

आधुनिक इतिहासकार भी इस प्रसंग में "संभवतः" शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। केम्ब्रिज हिस्टरी, भाग ५, पृष्ठ १६६। मीरन जरूर मारा गया, चाहे जैसे मारा गया हो।

इम्तियाज खां 'खलीस' का बेटा* और मीर जाफर का दामाद मीर कासिम अली खां अपने पास से सैनिकों को ३ लाख रुपये न देता और बाकी वेतन चुका देने की जिम्मेवारी अपने ऊपर न ले लेता तो उनका विद्रोह और भी भयंकर रूप धारण कर लेता।

हालवेल मीरन के मरने के पहले से ही यह प्रस्ताव करने लगा था कि कंपनी मीर जाफर का मुख्तार न हो कर खुद मालिक बन जाय। उसका विश्वास था कि शाह आलम कंपनी को खुशी खुशी बंगाल-बिहार की सूबेदारी दे देगा। पर औरों को, विशेषतः सेनापति कैलो को यह प्रस्ताव युक्तिसंगत न जंचा। वारन हेस्टिंग्स ने भी इसका विरोध किया। वे मीर जाफर के पक्षपाती तो न थे, पर उनका दृष्टिकोण यह था कि अगर कंपनी बिना आड़ के ही सर्वेसर्वा बन बैठी तो संभव था कि इसका परिणाम बुरा हो। एक क्रान्ति को अभी तीन ही बरस हुए थे। इतने समय में ही दूसरी क्रान्ति का अर्थ होगा उस मीर जाफर के साथ भी विश्वासघात, जिसकी अंगरेज बांह पकड़ चुके थे और जिसे सुरक्षित रखने की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कर चुके थे।

हालवेल ने देखा कि नकाब उलट देने की बात किसी के भी गले उतरने वाली नहीं, इसलिए अपने मूल प्रस्ताव में इतना संशोधन कर दिया कि मसनद पर किसी और को ही बिठाया और उसकी आड़ में दूध बिलोया जाय। इससे पहले वह मीर कासिम अली खां का जी टटोल चुका था और उसमें महत्त्वाकांक्षा के साथ यथेष्ट अनुकूलता भी पा चुका था।

---

* "मुताखरीन" के अनुसार, सैयद मुर्तजा का बेटा अर्थात् इम्तियाज खां का पोता।

सेनापति कैलो उस समय बिहार में था। हालवेल ने उसे कलकत्ते आ जाने को लिखा। कैलो को पूरी बातों की जानकारी न थी, इसलिए वह तर्क-वितर्क ही करता रहा। जब मीरन संसार में न रहा और कैलो कलकत्ते पहुंचा तब हालवेल ने उससे दिल खोल कर बातें कीं और उसे समझा दिया कि इस क्रांति से क्या क्या लाभ होने वाला था।

नया गवर्नर वांसीटार्ट २७ जुलाई को कलकत्ते पहुंचा। यह मद्रास में चौदह साल बिता चुका था और कूटनीति के साथ फारसी का भी अच्छा ज्ञाता समझा जाता था। इसमें कुछ भलमनसाहत भी थी। पर यह न तो दबंग था, न निर्लोभ, इसलिए न तो इसकी नीति स्वतंत्र रह सकी न यह अपने वातावरण में किसी प्रकार का सुधार कर सका और न बदनामी से बच सका।

कलकत्ते आने के कुछ समय के भीतर ही इसके और जगत्सेठ के बीच अच्छा सम्बन्ध हो गया। महताबराय इसे एक पत्र में लिखते हैं:—

"२० मुहर्रम शनिवार को मैं ६ बजे शाम को भोजन कर पैदल लौट रहा था कि पैर फिसलने से गिर पिड़ा। कंधे पर चोट आई और उसकी हड्डी छटक गई। दो घंटे बाद में बेहोश हो गया। एक चिकित्सक ने आकर दवा दी। ईश्वर की दया से २ सफर को हड्डी बैठ गई। मेरी हालत पहले से अच्छी है, लेकिन दाहने हाथ से अभी काम नहीं हो सकता।

"आपका पत्र प्राप्त हुआ। आपने जो तेल, सींग का सत्त और दूसरी दवा भेजने की कृपा की वे भी प्राप्त हो गये। पर

आपने उनके व्यवहार की विधि नहीं बताई, इसलिए उनका प्रयोग नहीं कर सका हूँ। दवायें ज्यों की त्यों पड़ी हुई हैं। कृपया अपने कर्मचारियों के द्वारा यह सूचित करा दें कि इस औषधि का किस प्रकार सेवन करना चाहिए, और उसके साथ क्या पथ्य होना चाहिए। मेरा हाथ तो बेकाम हो गया था, आपके आशीर्वाद से वह ठीक हो चला है। दर्द की भी कोई दवा हो तो दर्याफ्त कर भिजवा देने की कृपा करें और यह भी लिखें कि उसका उपचार किस तरह किया जाय। अगर आप किसी सुयोग्य डाक्टर को भेज सकें तो आपकी और भी मेहरबानी होगी। चंगा हो गया तो मैं आपका जन्म भर आभारी रहूँगा।

पुनश्चः—

"जान पड़ता है कि आपने इस सम्बन्ध में डाक्टर हैनकाक को लिखा था। वह कल २ सफर को दवा दे गये हैं जिससे मुझे बड़ा फायदा पहुंचा है। ईश्वर आपको दीर्घायु और सम्पन्न करे*।"

मालूम नहीं, हालवेल ने जगत्सेठ के सम्बन्ध में वांसीटार्ट से क्या कहा, पर मीर जाफर की निन्दा करने में उसने अपनी ओर से कोई कोताही नहीं होने दी।

दोषारोपण के रूप में उसके अत्याचारों का एक लम्बा चिट्ठा पेश किया। ढाके के हत्याकांड पर प्रकाश डालते हुए हालवेल ने अपनी कल्पनाशक्ति से तिल का ताड़ तो कर ही दिया था, कितने ही ऐसे अभियोग लगाये थे जिनमें तिल भर भी सचाई न थी। बंगाल में शासन-संबंधी जितनी बुराइयां थीं सब की जड़ में

---

* मि० लिट्ल द्वारा उद्धृत।

हालवेल ने मीर जाफर को ही बताया । इस पर एक अभियोग यह था कि यह पिछले साल डच लोगों की सहायता कर अंगरेजों के साथ विश्वासघात कर चुका था—हालांकि कर्नल कैलो का कहना था कि बात कभी साबित न हो सकी थी और साबित हुई भी थी तो क्लाइव इसके लिए मीर जाफर को क्षमा-प्रदान कर चुका था । दूसरा अभियोग यह था कि मीर जाफर शाह आलम से पत्र-व्यवहार करने लगा था, यद्यपि वारन हेस्टिंग्स ने यह कह कर इसे झूठ साबित कर दिया कि जिस पत्र का हवाला दिया गया था वह जाली था । मीर जाफर पर ऐसे व्यक्तियों को मार डालने* का भी अभियोग था जो उसके अपने मरने के बाद भी जीवित थे ।

कौंसिल के सब तो नहीं, पर थोड़े से सदस्य उसकी बातों में आकर, विशेषत: लोभ के वशीभूत हो कर, उसके प्रस्ताव का समर्थन करने को तैयार हो गये थे। ये थे कर्नल कैलो, विलियम समनर, विलियम मैक्ग्वार आदि । वांसीटार्ट पर भी हालवेल का जादू चल गया और वह भी उसके प्रस्ताव से सहमत हो गया । उसके विरोधियों में थे ऐमियट, एलिस, मेजर कारनक, वेरेल्स्ट आदि। पर गवर्नर और सेनापति के सहमत हो जाने के कारण उनके विरोध की उपेक्षा की गई और उनसे यह भी न बताया गया कि खिचड़ी कहां तक पक चुकी थी ।

२७ सितम्बर को कौंसिल की एक मीटिंग हुई जिसमें विरोधियों को उपस्थित होने का अवसर ही नहीं दिया गया।

---

* मि० लिट्ल।

मीर कासिम को कलकत्ते बुलाना आवश्यक था, पर मीर जाफर के लिए यह संदेहजनक न हो इसलिए उसे कहलाया गया कि सामरिक परिस्थिति* के संबंध में कुछ परामर्श करना है, अतएव आप उन्हें जाने की अनुमति प्रदान कर दें। उसने कोई आपत्ति नहीं की। खोजा पिट्रस (अरमनी) और दुर्लभराम के जरिये हालवेल ने मीर कासिम से लेनदेन की बात पक्की करा ली। फिर उसे गवर्नर से मिलाया। जब मीर कासिम को अंतिम निर्णय का निश्चय हो गया तब वह भी सब को यथायोग्य पुरस्कार देने को तैयार हो गया। "सदस्यों ने पहले तो पुरस्कार स्वीकार करने में नाहीं-नूहीं की, किन्तु पीछे उत्तर के समय मीर कासिम की सम्मान-रक्षा के बहाने उसे ग्रहण करने को प्रस्तुत हो गये।"

इस पुरस्कार का ब्योरा यह था:—

	रुपये
वांसीटार्ट	५१७,७०५
समनर	२४८,५००
हालवेल	२७४,५६३
स्मिथ	१३६,२६६
मेजर यार्क	१३६,२६६

* "रियाजुस्सलातीन" में लिखा है कि मीर कासिम ने जगत्सेठ के सहयोग से अँगरेजों से मेल कर मीर जाफर को लिखवाया कि सैनिकों का विद्रोह चिन्ताजनक हुआ है, आप सारा कार्य्यभार मीर कासिम अली खां को सौपकर कलकत्ते चले आवें। पर बात गलत है। मीर जाफर को और ही आशय का पत्र लिखा गया।

	रुपये
जनरल कैलो	२०३,३७९
मैक्ग्वार	१८३,०४७
मैक्ग्वार को ५००० मोहरें भी	७७,६५६
	१,७७७,३८२ रुपये

इसके अलवा कंपनी को भी क्षतिपूर्ति-स्वरूप ६२,५०० पौंड* अर्थात् ५३५,९७३ रुपये मिले।

२७ सितम्बर को संधिपत्र पर हस्ताक्षर हो गये। इसके द्वारा अंगरेजों ने मीर कासिम को नायब नाजिम और मीर जाफर के मरने पर नाजिम, बनाना स्वीकार किया। मीर कासिम ने उन्हें बर्दवान, मेदिनीपुर और चटगांव के जिले दे दिये । मीर जाफर ने अपने आपको अंगरेजों से सैनिक सहायता लेने और उस सहायता का मूल्य चुकाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध कर लिया था। उसके लिए इस सहायता के बिना सुरक्षित रहना असंभव हो गया था। इसका नतीजा यह हो रहा था कि अंगरेजों की मांग दिन दिन बढ़ती ही जाती, मीर जाफर से वह मांग पूरी न हो पाती और ऐसी परिस्थिति में अंगरेज उसे हर तरह दबाते ही जाते । मीर कासिम ने यह सोच कर उन्हें ये तीन जिले दे दिये कि जो ऋण सरकार पर लद चुका था उसे अदा करने के लिए उसे सांस लेने का अवसर चाहिए था और अगर वह इतना त्याग न करता तो उसे वह अवसर प्राप्त होना भी संभव न था।

इसके बाद वह मुर्शिदाबाद लौट गया। गवर्नर और सेनापति वहां १४ अक्टूबर को पहुंचे । जब मीर जाफर को मालूम हुआ

* उस समय एक पौंड के प्रायः ९ रुपये ("सिक्के नहीं") होते थे ।

कि कलकत्ते में अंगरेजों ने मीर कासिम को और ही बहाने बुला कर, यह प्रपंच रच डाला था तब "क्लाइव का गधा" भी इसका प्रतिवाद किये बिना न रह सका। जब उसे समझाते-बुझाते पांच दिन बीत गये और वह किसी प्रकार मीर कासिम को अधिकार सौंप देने की व्यवस्था से सम्मत न हो सका तब गवर्नर ने अपने सेनापति को मोतीझील पर अधिकार कर उसे गिरफ्तार कर लेने का हुक्म दिया।

"तीन वर्ष पूर्व पलासी समराभिनय के विचित्र रंगमंच पर अपने जीवन के पहले अंक में, बालक सिराजुद्दौला के सिंहासन की रक्षा के लिए, हम वृद्ध मीर जाफर को कुरान हाथ में लिये तैयार देखते हैं, किन्तु पीछे दूसरे अंक में वही मीर जाफर अंगरेजों की सहायता से बालक सिराजुद्दौला का नाश करने को शत्रु सेना की कल्याण-कामना में ध्यानमग्न दिखाई देता है। आज ठीक उसी प्रकार उसी मूल्य में अपने को बिकते देख कर मीर जाफर की मानसिक अवस्था क्या हुई होगी, इसकी कल्पना अनेक इतिहासकारों ने की है, परन्तु उस समय भाग्य से इस आकस्मिक परिवर्तन को देख कर मीर जाफर के मुंह से कोई बात न निकल सकी। वह मुकुट उतार कर धीरे धीरे सिंहद्वार पर विनीत भाव से आ खड़े हुए। इसी स्थान पर मीर जाफर के लिए कलकत्ता में रह कर अंगरेजों के आश्रय में जीवन बिताने की व्यवस्था भी स्थिर हुई*।"

वहां मीर जाफर को १५,००० रुपया मासिक वृत्ति मिलने लगी। उधर अंगरेजों के ही साये में मीर कासिम तख्तनशीन हुआ।

---

* "मीर कासिम" का हिन्दी अनुवाद।

(४)

मसनद पर बैठते ही मीर कासिम ने ऐसे गुणों का परिचय देना आरंभ किया जिनकी उससे किसी ने आशा नहीं की थी। थोड़े ही दिनों में सब को अनुभव हो चला कि वह मीर जाफर की तरह तमोगुणी या भीरु नहीं था। उसकी अपनी ही नीति और कार्य-संपादन की अपनी ही रीति थी। अपने मार्ग पर चलते हुए वह विघ्न-बाधाओं से डरने वाला न था।

सैनिकों के बाकी वेतन से सम्बन्ध रखने वाली समस्या जटिल हो चली थी। उसने अली इब्राहीम खां से जांच कराई तो मालूम हुआ कि बख्शी का महकमा लाखों रुपये हड़प चुका था। उधर खजाना खाली था और सैनिकों का कागारोल शान्त करने के लिए रुपया चाहिए था। अनिच्छुक* होते हुए भी मीर कासिम को इस अवसर पर महताबराय से कुछ कर्ज लेना पड़ा। उसने व्यवस्था यह की कि बकाये का एक तिहाई तो सैनिकों को नकद दे दिया जाय, एक तिहाई उन्हें परवानों के जरिये मफस्सल से दिला दिया जाय और एक तिहाई आगे चुका देने का करार कर दिया जाय। इससे सैनिक संतुष्ट हो गये, विशेषकर इसलिए कि मीर कासिम की तत्परता से अब उन्हें अपना वेतन नियत समय पर ही मिलने लगा था।

खड्ग-हस्त होकर मीर कासिम अपव्यय के भी पीछे पड़ा और जो कटौती की जा सकती थी करने लगा। परंपरागत कुरीतियों या कुसंस्कारों के कारण होने वाला सारा फिजूलखर्च बंद कर दिया गया और ऐयाशी पर जो लाखों रुपये पानी की तरह बहाये जा रहे थे उनका और कामों में उपयोग होने लगा।

---

* "मुताखरीन"।

गुलाम हुसैन का कहना है कि मीर कासिम ने पालतू जानवरों और चिड़ियों के लिए भी अपने यहां स्थान नहीं रहने दिया। अधिकांश को जमींदारों के हाथ बेच कर दाम खड़ा कर लिया। इससे एक लाभ यह हुआ कि बुलबुलों और बटेरों के साथ चिड़ियाखाने के रखवालों के भी पर कट गये और सब मिला कर एक खासी रकम की बचत होने लगी।

चुन्नीलाल और मुन्नीलाल उन अहलकारों में थे जो न जाने कितना रुपया गबन कर चुके थे और जो मांगने पर डकार तक न लेते थे। ये सब के सब गिरफ्तार कर शिकंजे में कसे गये और सरकार ने उनकी सारी धन-सम्पत्ति खालसा करा ली।

शाह आलम अभी पटने के ही आस-पास मंडरा रहा था। कामगार खां और मो० ला भी उसके साथ थे। इधर बंगाल में भी जहां-तहां विद्रोह होने लगा था। मेदिनीपुर में तो अंगरेजों ने आसानी से उसे दबा दिया पर वीरभूम में असद्दुजमा खां की बगावत ने मीर कासिम और वांसीटार्ट दोनों के लिए सिरदर्द पैदा कर दिया। पर वहां भी अन्त में मेजर यार्क के पराक्रम से विद्रोही पराजित हुए और मीर कासिम को शाह आलम के आक्रमण को रोकने का अवकाश मिल गया।

इससे पहले "मुताखरीन" का लेखक गुलाम हुसैन अंगरेजों का संदेश लेकर पटने से बुधगांव (वीरभूम) पहुंच चुका था और मीर कासिम को वहां की परिस्थिति बता चुका था।

वह परिस्थिति संक्षेप में यह थी :—

राजा रामनारायण और गुलाम हुसैन की आपस में नहीं बनती थी और गुलाम हुसैन अंगरेजों से दोस्ती बना कर उसे गिराने के

लिए लगाने-बुझाने लगा था । जब कैलो के मद्रास चले जाने पर मेजर कारनक उसकी जगह आया तब उसके और दूसरे अंगरेजों को रामनारायण और राजवल्लभ की नीयत के बारे में शुबहा होने लगा । उन्होंने गुलाम हुसैन से कहा कि मीर कासिम की ओर से कर्ताधर्ता "यही दोनों हिन्दू" बने रहे तो बेड़ा पार लगने न देंगे । मीर कासिम को पटने बुला लाने के लिए गुलाम हुसैन मुर्शिदाबाद भेजा गया था, पर वहां नवाब से मुलाकात न होने पर उसे बुधगांव जाना पड़ा था ।

जब रामनारायण को सारी बात मालूम हुई तब उसने जगत्सेठ की कोठी की मार्फत मीर कासिम के पास एक खत भेजा। इसमें लिखा था कि गुलाम हुसैन अंगरेजों का और शाह आलम का भेदिया हो कर ही आपके पास जा रहा है, आप इससे सावधान रहगे। गुलाम हुसैन ने "मुताखरीन" में लिखा है कि जगत्सेठ ने भी मीर कासिम को यही कहलाया, जिसका नतीजा यह हुआ कि वह नवाब से शाबाशी पाने के बजाय उसकी आंखों में गिर गया और बड़ी कठिनता से ही पटने लौट सका । "रामनारायण मीर कासिम का भक्त न था और उसकी बुराई कर अंगरेजों के कान भरता रहता था। दूसरी ओर वह अपने या जगत्सेठ के आदमियों के जरिये मीर कासिम को ऐसी बातें कहलाता रहता था जिनका परिणाम मेरे लिए भी बुरा ही हो।" स्वार्थों के घात-प्रतिघात से पैदा होने वाली पेचीदगियों पर उसने स्वयं प्रकाश डाला है :—"मेरा सगा भाई शाह आलम के दरबार में ऊंचे पद पर था; मुरलीधर और रामनारायण कहने को तो मेरे मित्र बने हुए थे पर वास्तव में मेरे शत्रु थे; मैं स्वयं दोनों का

आभारी था और उनकी चालों का जवाब देने में असमर्थ था; शाह आलम जहां था वहां सुख की नींद न सो सकता था; अंगरेजों में भी एकता नहीं थी; मैक्ग्वार, वांसीटार्ट और मीर कासिम का पक्षपाती था; मेजर कारनक और मि० हे वांसीटार्ट के विरोधी ऐमियट से मिले हुए थे और मीर कासिम के शत्रु राम-नारायण के पक्षपाती हो रहे थे; रामनारायण ऐसी दुरंगी चाल चलने को कोशिश करता था कि मेजर कारनक और मि० हे तो खुश बने रहें और मि० मैक्ग्वार भी नाराज न हों---ऐसी परिस्थिति किसे चक्कर में डाले बिना रह सकती थी ? पर न तो मीर कासिम से ही उसका भाव छिपा रह सका, न मैक्ग्वार से ही । और इन दोनों की अवज्ञा करने के कारण ही उसे एक दिन अपने प्राण गंवाने पड़े ।''

दक्षिण बिहार के प्रमुख जमींदार शाह आलम की विशेष रूप से आर्थिक तथा सैनिक सहायता कर चुके थे पर दरबार में कामगार खां की प्रधानता के कारण कुछ समय से हिंदू उदासीन हो चले थे। टेकारी के सुन्दर सिंह अपने ही एक मुसलमान सेवक के हाथों, कुछ समय पहले, धोखे से मारे जा चुके थे । और जमींदार प्रायः तटस्थ बने रहे । मीर कासिम के पटने पहुंचने से पहले ही सोन नदी की एक शाखा के तट पर, १५ जनवरी १७६१ को शाह आलम की हार हुई और मेजर कारनक द्वारा मो० ला तथा अन्य फरासीसी गिरफ्तार कर लिये गये । ६ फरवरी को गया में शाह आलम और अंगरेज सेनापति का सम्मेलन हुआ। इससे पहले अंगरेजों के दूत बन कर शिताब-राय शाह आलम से मिल आये थे । गया-सम्मेलन के बाद शाह

आलम अंगरेजों के ही शिविर में आ गया और अपनी अभ्यर्थना से इतना प्रसन्न हुआ कि पटने जाने का भी उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया । २२ फरवरी को उसने पटना-नगर में प्रवेश किया। वहां आतिथ्य-सत्कार तो नवाब की ओर से रामनारायण करने लगा और उसका सौहार्द अंगरेजों के साथ बढ़ने लगा।

शाह आलम साधन-हीन था, निर्बल था, धूल फांकता फिर रहा था, फिर भी उसे सम्राट् कहाने का गौरव प्राप्त था। और अंगरेज जानते थे कि ऐसे सम्राट् को भी मुट्ठी में कर बड़े बड़े काम निकाले जा सकते थे । जब जनवरी में पानीपत की लड़ाई हो चुकी और मराठों की पराजय से पहले ही गाजीउद्दीन कहीं भाग कर उसका मार्ग निष्कंटक कर चुका, तब शाह आलम की मित्रता का मूल्य और भी बढ़ गया। सम्राट् की अपनी दृष्टि से अंगरेजों की मित्रता भी कम मूल्यवान् न थी। पारस्परिक संबंध घनिष्ठ कर दोनों अपना अपना हित-साधन करने की फिक्र में ही थे कि अंगरेजों के रंग में भंग डालने के लिए मीर कासिम मार्च में पटने जा पहुंचा।

इधर गया-सम्मेलन के बाद अंगरेज जो चाल चलते आ रहे थे उसका मीर कासिम की दृष्टि में एक ही अर्थ हो सकता था—यह कि उनकी आन्तरिक इच्छा सम्राट् से बंगाल-बिहार-उड़ीसा की सूबेदारी नहीं तो कम से कम दीवानी प्राप्त कर लेने की थी । मेजर कारनक के साथ उसका वाद-विवाद आरंभ हुआ। राजनीतिक शतरंज के खेल में अंगरेजों को मात करने के लिए मीर कासिम ने भी अपनी राजभक्ति प्रदर्शित की और शाह आलम से दरबार में अपनी सूबेदारी को बरकरार करा लिया ।

अप्रेल में कारनक की जगह कूट अंगरेज सेनापति हो कर आया तो मीर कासिम की उससे भी न बन सकी। जून में जब शाह आलम दिल्ली के तख्त पर बैठने चला तब मीर कासिम को लगा कि वह खेल में अंगरेजों से हार खाने से, बाल बाल बच गया था।

शाह आलम से पिंड छूटते ही, मीर कासिम ने शासन के क्षेत्र में झाड़-बुहार शुरू कर दी। पहले तो उसने राजा रामनारायण से हिसाब तलब किया और उसके जिम्मे मोटी रकम निकलने पर उसे अपनी जगह से हटा दिया। रामनारायण की रक्षा का कूट को विशेष आदेश मिल चुका था, पर उससे वह रक्षा न हो सकी। १८ जून को कलकत्ते की कौंसिल ने मीर कासिम को लिख दिया कि आप रामनारायण को मुअत्तल कर और जिसको चाहें अपना नायब नियुक्त कर सकते हैं। रामनारायण का सहायक शिताबराय भी पदच्युत किया गया और अगस्त में राजवल्लभ नायब नियुक्त हुआ। सितम्बर में वांसीटार्ट ने रामनारायण को मीर कासिम के हवाले भी करा दिया। नवाब के हुक्म से उसकी सारी संपत्ति जब्त कर ली गई और वह कैदखाने में भेज दिया गया*। पर थोड़े ही दिन बाद राजवल्लभ को भी उस पद से हटना और कैद होना पड़ा। उसकी जगह राजा नौबतराय को मिली। मीर मेहदी खां तिरहुत का और मुहम्मद तकी खां वीरभूम का फौजदार नियुक्त हुआ। फिर नौबतराय की जगह मीर मेहदी खां को दे दी गई।

*"वांसीटार्ट ने जो कुछ किया वह क्लाइव की नीति के विपरीत था। जहां क्लाइव का सिद्धांत था कंपनी को सशक्त करना वहां वांसीटार्ट के कार्य-कलाप से नवाब सशक्त होता गया। क्लाइव का इस ओर विशेष ध्यान रहता था कि कंपनी प्रमुख हिन्दू अधिकारियों की रक्षा करती रहे। पर वांसीटार्ट ने जान-बूझ कर उस कर्त्तव्य की उपेक्षा की।" —केम्ब्रिज हिस्टरी।

इसके बाद ही मीर कासिम ने अंगरेजों के देशान्तर्गत व्यापार का प्रश्न उठा कर उनसे झगड़ा मोल ले लिया। विदेशी कंपनियों को आयात-निर्यात की ही वस्तुएँ खरीदने-बेचने का अधिकार प्राप्त था और उन्हें जो फरमान मिल चुके थे वे इसी आधार पर कि यह अधिकार उन संस्थाओं को प्राप्त था—उनके कर्मचारियों को नहीं। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, अंगरेज कर्मचारी कंपनी के दस्तकों की आड़ में अपना अपना व्यापार भी किया करते थे और दस्तकों के इस दुरुपयोग के कारण कंपनी और सरकार के बीच कभी कभी झगड़े भी हो जाते थे। पर कर्मचारियों का यह निजी व्यापार भी एक समय आयात-निर्यात की वस्तुओं तक ही सीमित था। जब कभी कोई कर्मचारी नमक जैसी चीज की खरीद-बिक्री कर बैठता तब सरकार इसको रोकने के लिए कार्रवाई किये बिना न रहती। पलासी के युद्ध के बाद परिस्थिति बदल गई। सरकार में रोक-थाम करने की शक्ति ही नहीं रही और अंगरेज मनमाने ढंग से व्यापार करने लगे। क्लाइव के समय में कुछ नियंत्रण था भी तो उसके विदा होते ही वह भी जाता रहा और बंगाल में अंगरेजों की धन-लोलुपता नग्न रूप से नाचने लगी।

नवाब की अपनी प्रजा को वैसा अधिकार न होने के कारण, हिन्दू या मुसलमान व्यापारी या तो किसी क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं कर सकते और जहां कर सकते वहां उन्हें पूरी चुङ्गी भरनी पड़ती। उधर नमक, सुपारी, तंबाकू जैसी चीजों को भी अंगरेज़ों ने हथिया लिया। ऐसे व्यापार से ही जिनकी जीविका चलती थी वे तो भूखों मरने लगे और सरकार की आय दिन दिन घटने लगी। मीर

जाफर से तो इसका प्रतिवाद असंभव था, पर मीर कासिम चुपचाप न रह सका। १७६१ के अन्त में ही कौंसिल को खबर मिली कि नवाब की ओर से छेड़छाड़ शुरू हो गई थी। इस छेड़छाड़ का कारण अंगरेजों का अपना ही मदोन्माद था। इसकी शिकायत जगत्सेठ भी कर चुके थे। १० मार्च १७६२ को वांसीटार्ट ने उन्हें लिखा:—

"आपका पत्र मिला। आपने लिखा है कि बाली गोकुलपुर गांव उस तालुके में है जिसे आपने हाल में ही खरीदा है और उस गांव के लोग नाव-द्वारा पहुँचने वाले अंगरेज व्यापारियों या उनके गुमाश्तों की जोर-जबरदस्ती से तंग आकर बाहर भाग गये हैं। आपने इस ओर मेरा ध्यान आकर्षित कर अनुरोध किया है कि मैं सख्त हिदायत कर दूं कि अंगरेजों का कोई गुमाश्ता किसी भी हालत में रिआया को किसी तरह न सताये। मैं अपने हित की तरह आपके भी हित की रक्षा करना चाहता हूँ। मैं यह हर्गिज नहीं चाहता कि प्रजा के साथ ऐसा दुर्व्यवहार हो। मेरी इच्छा है कि अगर कोई दोषी हो तो आप उसका नाम-धाम मुझे लिख भेजें कि मैं ऐसे अत्याचार को आगे न होने दूं।"

मई १७६२ में खुद नवाब ने कौंसिल को लिखा कि अंगरेज व्यापारियों के गुमाश्तों की धांधली बरदाश्त करना सरकार के लिए असम्भव हो गया था।

अपनी नीति की सफलता की दृष्टि से मुर्शिदाबाद रहना अनुपयुक्त समझ कर मीर कासिम इधर राजधानी हटा कर मुंगेर ले गया था। १७६२ के अन्त में वांसीटार्ट उससे समझौता करने के लिए वहीं गया। मीर कासिम के साथ यह तै हुआ कि जहां पटने

तक जाने वाले नमक पर इस देश के व्यापारियों को ३० प्रतिशत कर या चुंगी देनी पड़ती थी वहां अंगरेजों को ९ प्रतिशत ही देनी पड़ेगी और अगर कोई झगड़ा खड़ा हुआ तो वारा-न्यारा करने का अधिकार नवाब के ही अफसरों को होगा । पर यह समझौता वांसीटार्ट के देशवासियों को, विशेषकर उसके विरोधी दल को, स्वीकार न हुआ । उनकी ओर से उसकी नेकनीयती पर तरह तरह के हमले होने लगे । उस पर जो अभियोग लगाये गये उनमें एक यह भी था कि उसने अपने निजी व्यापार के लिए रिआयत ही नहीं करा ली थी बल्कि मीर कासिम से सात लाख रुपये रिश्वत भी खा ली थी । इन बातों में कुछ सचाई जरूर थी, पर विरोध का प्रधान कारण यह था कि अंगरेज ९ प्रतिशत भी चुंगी भरने को तैयार न थे । स्वार्थ साधने के साथ वांसीटार्ट को बदनाम करने का उसके दुश्मनों को यह अच्छा मौका हाथ लगा । ऐसा आन्दोलन किया गया कि कौंसिल ने उस समझौते को ठुकरा दिया । अब यह निश्चित हुआ कि अंगरेज, सिर्फ नमक पर २॥ प्रतिशत देने के अलावा, और किसी प्रकार का कर या चुंगी न देंगे और अगर उनके किसी गुमाश्ते पर कोई अभियोग लगाया गया तो उसका विचार करने का अधिकार उन्हीं को होगा, नवाब के अधिकारियों को नहीं । चोरी और सीनाजोरी इसको कहते हैं ।

अंगरेजों का यह रंग-ढंग देखकर मीर कासिम ने मार्च १७६३ में दो साल के लिए व्यापारी-मात्र के हित में चुंगी ही उठा दी । इस पर एतराज करने की जरा भी गुंजाइश न होते हुए भी कौंसिल को यह मंजूर न हुआ । अब उसकी ओर से कहा जाने लगा कि इस मामले में भी अंगरेज और हिन्दुस्तानी बराबर नहीं समझे जा

सकते अर्थात् निःशुल्क व्यापार अंगरेज ही कर सकते हैं, हिन्दुस्तानी नहीं। उसकी ओर से दो सदस्य, ऐमियट और हे—उसकी नयी मांग पेश करने के लिए नवाब के पास भेजे गये ।

"मुताखरीन" के अंगरेजी अनुवादक ने इस झगड़े के बारे में लिखा है :—

"मीर कासिम और कंपनी के सम्बन्ध-विच्छेद के मूल कारण की ओर गुलाम हुसैन ने संकेतमात्र किया है। यह आश्चर्य की बात है । यथार्थ बात यह थी :—

"फरमान के द्वारा अंगरेजों को जो अधिकार मिल चुके थे उनकी रक्षा करने के लिए मीर कासिम बराबर तैयार रहता आया था । पर जहां पलासी की लड़ाई से पहले अंगरेज व्यापारियों की एक भी नाव नजर नहीं आती थी वहां अब बंगाल की प्रायः प्रत्येक नदी उनकी नावों से ढक-सी गई थी। अंगरेज अब तम्बाकू, नमक, सुपारी, अन्न आदि का भी व्यापार करने लगे थे । इससे हजारों हिन्दुस्तानियों की रोटी-दाल चलती थी । एक ओर उनकी जीविका जाती रही, दूसरी ओर सरकार की अपनी आय पर कुठाराघात हुआ। वांसीटार्ट, हेस्टिंग्स जैसे जो अंगरेज नरम दल वाले कहे जा सकते थे वे भी इस बात को स्वीकार करते थे कि अंगरेजों के ऐसे व्यापार के नियंत्रण का नवाब को पूरा अधिकार था। यह इन व्यापारियों का अपना काम था कि वे या तो सरकार से इसके लिए विशेष अधिकार प्राप्त कर लेते या चुंगी देते जाते। कौंसिल का यह काम हर्गिज न था कि वह नवाब से उनके अपने लाभ के लिए लड़ाई कर बैठती ।

"यह बात याद रखने की है कि जहां अंगरेज एक बार १० प्रतिशत दे देने पर सारे झंझटों से छुटकारा पा जाते थे वहां इस

देश के व्यापारियों को २५ प्रतिशत चुंगी दे देने पर भी कदम कदम पर रुकावट का सामना करना पड़ता था। उनकी नावें रोक ली जाती थीं, फिर उन नावों की तलाशी होती थी, और उन्हें चुंगी के अलावा जगह जगह राहदारी भी देनी पड़ती थी। अंगरेज व्यापारियों का माल एक ही जगह १० प्रतिशत दे देने पर इन सारी विघ्न-बाधाओं से मुक्त हो जाता था।

"मीर कासिम की बुद्धि की प्रशंसा करनी होगी कि उसने बंगाल भर में चुंगी, राहदारी आदि को बंद कर सभी व्यापारियों के लिए एक-सी सुविधा कर दी। अंगरेजों के लिए इससे अधिक न्यायपूर्ण बात और क्या हो सकती थी? मीर कासिम ने कहा कि, "तुम लोग हुगली, ढाका, पटना ऐसी जगहों में चुंगी कम कराना चाहते हो। मैं तुम्हारी बात मान लेता हूँ और तुम्हारी मांग से भी अधिक रिआयत यह किये देता हूँ कि तुमसे कुछ भी न लूंगा। बंगालमात्र से मैंने चुंगी उठा दी है, अब तुम्हारे और मेरे बीच लड़ाई-झगड़े का कोई कारण ही नहीं रह गया।" नवाब के इस नये विधान का यही अर्थ था, पर उससे यह बात छिपी न थी कि चुंगी-सम्बन्धी कोई भी भेद न रह जाने पर अंगरेजों के लिए प्रतिद्वन्द्विता में ठहरना कठिन हो जायगा। उनकी रहन-सहन का खर्च इतना ऊंचा था कि बराबरी में आ जाने पर वे कभी इस देश के व्यापारियों से सस्ता माल न बेच सकते थे। इसीलिए अंगरेज अब यह कहने लगे कि नवाब को हमारा व्यापार तो निःशुल्क कर देना चाहिए और अपनी रिआया से बदस्तूर शुल्क या कर लेना ही चाहिए। अर्थात् किसी राजा को इतना भी अधिकार न रहे कि वह जो रिआयत विदेशियों के साथ कर दे वह अपनी

रिआया के साथ न कर सके । वांसीटार्ट और हेस्टिंग्स ने बार बार कहा कि अंगरेजों का यह प्रस्ताव करना अत्यन्त अनुचित था पर उनकी कलकत्ते में कोई सुनने वाला न था। उन पर कटूक्तियों की बौछाड़ पड़ने लगी। विपक्षियों की ओर से कहा जाने लगा कि ऐसी बात नवाब के वकील के ही मुंह से निकलनी चाहिए थी, कौंसिल के किसी सदस्य के मुंह से नहीं। इससे उनका यह भाव सूचित होता था कि सत्य और न्याय को तिलांजलि दे कर मनमानी करने की उन्हें पूरी स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी थी ।

"लोभ से विवेक-रहित होकर ही उन्होंने वांसीटार्ट और हेस्टिंग्स पर गालियों की वैसी वर्षा की, उन्हें तरह तरह से बदनाम किया । यह प्रचार किया गया कि २२ लाख रुपये लेकर दोनों ने अपने आपको बेच दिया था। तब से आज तक न जाने कितने अंगरेज व्यापारी इससे चौगुना धन कमा चुके हैं। हेस्टिंग्स, वांसीटार्ट स्वयं भी बड़े व्यापारी थे, पर वे कभी करोड़पति न बन सके। हेस्टिंग्स गरीब ही रहा और वांसीटार्ट भी धनी न हो सका। वह एक लाख रुपये की पूंजी लेकर बंगाल में आया था और चार वर्ष में उसे अढ़ाई लाख वेतन के ही रूप में मिले। फिर भी वह नौ या दस लाख से अधिक उपार्जन न कर सका।

"इन सब बातों का ज्ञान लोगों को तब हुआ जब वांसीटार्ट लौट कर इंगलैण्ड गया और वहां कंपनी के संचालकों को यह समझाया कि ऐमियट का दल जिसे अंगरेजों का व्यापार कहता आया था वह वास्तव में इन लोगों का अपना खास व्यापार था जिसका इतिहास चार या पांच साल से पुराना न था।

"अंगरेज व्यापारी या उनके गुमाश्ते उन दिनों यह करते कि

किसी शहर, गांव, या इलाके में पहुंच कर वहां निजी कारबार करने लगते और कोठी या दूकान पर अंगरेजी झंडा फहरा देते । फिर जो कुछ चाहते नवाब को देते, बाकी अपने पास रख लेते । उनके लिए न कोई सरकार थी न सरकार की हुकूमत । उच्छृङ्खल, निरंकुश होकर वे प्रजा पर अत्याचार करते और उसका खून चूसते ।

"ध्यान में रखने की बात है कि जब अंगरेज खुद इस देश के मालिक बन गये तब उन्होंने अपने नौकरों के लिए वह स्वतंत्रता न रहने दी जिसकी रक्षा के लिए वे मीर कासिम से लड़ चुके थे । पाप के पेड़ की जड़ पर उस समय कुठाराघात हुआ और सभी कर्मचारियों के लिए यह आदेश हो गया कि वे प्रत्यक्ष या परोक्ष तौर पर न तो कहीं अपना व्यापार कर सकेंगे न किसी गांव या इलाके का ठेका ही ले सकेंगे । यह तो नहीं कहा जा सकता कि बुराई बिलकुल मिट गई है पर इससे बहुत कुछ सुधार हुआ है, इसमें संदेह नहीं ।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि मीर कासिम आरंभ से ही जानता था कि अंगरेजों से उसकी लड़ाई अनिवार्य थी और उस लड़ाई के लिए वह जितनी तैयारी कर सकता था मुंगेर जा कर करने लगा था। मुर्शिदाबाद में कोई किला न था, पर मुंगेर की बात और थी । गंगा के दक्षिण तट पर स्थित इस प्राचीन नगर का दुर्ग मुसलमानों के आने से पहले भी मुद्गगिरि के नाम से प्रसिद्ध रह चुका था। समय समय पर उसकी मरम्मत होती रही। १५८० में राजा टोडरमल का ध्यान भी उस ओर गया और सतरहवीं सदी में शाह शुजा का। मीर कासिम के लिए मुंगेर में

नये किले की कोई आवश्यकता न थी। पुराना किला ही, मरम्मत हो जाने पर, उसकी इच्छा की पूर्ति करने लगा।

पर दुर्ग तो शरीरमात्र था; उसमें प्राण-प्रतिष्ठा के लिए ऐसी सेना चाहिए थी जो सु-संगठित हो, सु-सज्जित हो और अंगरेजों से लोहा बजने पर पीठ दिखाने वाली न हो। अपनी आर्थिक व्यवस्था से उसने इतना सुधार तो कर ही दिया था कि उपयुक्त समय पर वेतन मिलने से उसके सैनिक दिन रात खीजने-झीखने वाले न रह गये थे। पर उनका ऐसा संतोष ही काफी न था। और भी सुधार आवश्यक थे। 'लड़ते हों और हाथ में हथियार भी नहीं' तो सैनिकों का संतोष ही क्या कर सके ? और हथियार होते हुए भी उन्हें चलाना और लड़ना न आवे तो वे किस काम के ? मीर कासिम जानता था कि भेड़ियाधसान और भगदड़ से इस देश का सामरिक इतिहास कितना कलंकित हो चुका था और उनके परिणाम इसके लिए कैसे घातक सिद्ध हो चुके थे। इतिहास की वैसी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए, अनुशासन आवश्यक था और अनुशासन के लिए सैनिकों को लड़ाई के नये ही तौर-तरीके सिखाने की आवश्यकता थी। ऐसी शिक्षा देने वाले विदेशी ही हो सकते थे। मीर कासिम को मालूम था कि उस समय ऐसे शिक्षकों का नितान्त अभाव न था। पुर्तगीज, फरासीसी, अरमनी* इनमें सब साधारण व्यापारी ही नहीं थे। कुछ तो विदेशों से अस्त्र-शस्त्र लाकर अ-साधारण व्यापार करते, कुछ वैतनिक रूप से, पर छोटे पैमाने पर ही, जहां तहां सेनानायक भी बन जाते। मीर कासिम ने अरमनी सेनानायकों के तत्वावधान में ही अपना उद्देश सिद्ध

---

* कलकत्ते की अरमनी या अरमीनियन स्ट्रीट इन्हीं के नाम पर है।

करने का निश्चय कर, ग्रेगरी उपनाम गुरगिन खां को प्रधान बनाया और मार्कर को उसका सहायक । इनकी देख-रेख में, प्रायः एक साल में ही जो संगठन हो गया उसका कुछ परिचय इन अवतरणों से मिलता है:—

"संकल्प-साधन में मीर कासिम की एकाग्रता थी । वह अनन्यकर्मा हो कर संकल्प-साधन का आयोजन करने लगे । अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए कारखाना खुल गया । यूरोपीय शिक्षकों के निरीक्षण में इस देश के लोगों ने शीघ्र ही तोप एवं बन्दूक बनाने में दक्षता प्राप्त की। उस समय तोपों में पलीता लगाना पड़ता था, बंदूकों की नलियों को आग की गरमी सहने योग्य बनाने के लिए उत्कृष्ट लोहे की आवश्यकता हुआ करती थी। मीर कासिम के उत्साह ने ये सारी कठिनाइयां दूर कर दीं। राजमहल का चकमक और छोटा नागपुर का लोहा शीघ्र विख्यात हो उठा । बहुत दिनों बाद इन सब बन्दूकों की परीक्षा करके अंगरेजों ने कहा था कि कम्पनी की ब्रन्दूकों की अपेक्षा ये बन्दूकें सब तरह से अच्छी हैं*। उस समय तोपों का पीतल गला कर ढलाई करने की प्रथा चला कर मीर कासिम ने एक नई कीर्ति कमाई थी। अंगरेजों को कितने ही स्वाधीन यूरोपियन व्यापारी उस समय बाहर से बन्दूकें, तोप एवं गोले गोलियां मंगा कर बेचा करते थे। मीर कासिम के अस्त्रागार में खरीद खरीद कर ये सब चीजें भी भरी जाने लगीं।"

"गुरगिन खां ने नवाब की सेना को तीन श्रेणियों में विभक्त किया। एक में अश्वारोही रक्खे गये, दूसरी में गोलंदाज एवं तीसरी में पैदल। फिर पैदल सेना के भी नजीब एवं तिलंगा नामक दो

* अंगरेज लेखक ब्रूम द्वारा लिखित "बंगाल आर्मी"।

भाग किये गये। तिलंगी सेना ठीक कम्पनी की सेना की नाईं सजाई गई। अश्वारोही सेना, मुगल सेनानायकों के अधीन रक्खी गई, पैदल तथा गोलन्दाज श्रेणी का भार अर्मीनियन, जर्मन, पोर्च्युगीज एवं फरासीसी अफसरों ने ग्रहण किया।

"गुरगिन खां के अधीन मार्कर नामक एक अर्मीनियन सेनानायक ने उस समय विशेष ख्याति पाई थी। मार्कर के अधीन तीनों श्रेणी की सेना थोड़े ही समय में सुशिक्षित हो गई। प्रत्येक श्रेणी की पल्टन से कुछ चुने हुए सैनिकों को एकत्र करके उन्होंने एक विशेष दल संगठित किया। मार्कर ने यूरोप में युद्ध विद्या की शिक्षा पाई थी एवं हालैण्ड के युद्ध में रह कर विशेष अभिज्ञता एवं अनुभव प्राप्त किया था।

"मीर कासिम के सेनानायकों में से सेनापति समरू का नाम इतिहास में भली भांति विख्यात है। वह यूरोप में कसाईखाने के एक कर्मचारी थे, वहां से स्विस सेनादल के साथ भारत में प्रवेश करके फरासीसियों के अधीन, सेना का भार ग्रहण किया था। भारत के इतिहास में वह अंगरेजों के चिरशत्रु के रूप में ही आते हैं। वह राक्षस के समान क्रूर थे। प्रभु की आज्ञा प्राप्त होने पर हित-अहित का विचार नहीं करते थे। उनका असल नाम था वाल्टर रेण्ड*।"

ऐसी तैयारी के अलावा, मीर कासिम ने एक काम यह किया था कि जिन लोगों के सम्बन्ध में उसे संदेह या विश्वास था कि ऐसे अवसर पर वे दिल से उसका साथ न देंगे, उन्हें उसने गिरफ्तार करा लिया था। "रियाजुस्सलातीन" के अनुसार, ऐसे लोगों में थे

* "मीर कासिम" का हिन्दी अनुवाद।

राय रायां उम्मेद राय, उसका बेटा कालीप्रसाद, रामकिशोर, राजवल्लभ, जगत्सेठ महताबराय, महाराज स्वरूपचंद, राजा रामनारायण, टेकारी के राजा सुन्दर सिंह का बेटा फतह सिंह,* जगत्राय, भोजपुर का दीवान दुलाल राय, दिनाजपुर, नदिया, खड़गपुर, वीरभूम और राजशाही के जमींदार इत्यादि।

जगत्सेठ की गिरफ्तारी के बारे में "मुताखरीन" में लिखा है कि

"मीर कासिम को मालूम हो चला था कि कलकत्ते में हवा का रुख उसके खिलाफ था। उसे यह भी मालूम था कि जगत्सेठ महताबराय और महाराज स्वरूपचंद का रुख किस ओर था। ऐसी हालत में उसे यह निरापद न जंचा कि ये दोनों भाई मुर्शिदाबाद में ही बने रहें। उसे याद था कि सिराजुद्दौला की जगह मीर जाफर के और मीर जाफर की जगह खुद उसके नाजिम बनने में इन्होंने अपने धन और प्रभाव से कैसी सहायता पहुंचाई थी। आदमियों की उसे अच्छी पहचान थी, इसलिए कलकत्ते के पास मुर्शिदाबाद में इन दोनों व्यक्तियों का रहना उसे खतरनाक लगा। अंगरेजों से उसका रगड़ा-झगड़ा दिन दिन बढ़ता जा रहा था। संभव न था कि ऐसी स्थिति में ये दोनों अंगरेजों का पक्ष त्याग कर उसका पक्ष अपना लें।

---

* संभवतः इसलिए कि दक्षिण बिहार के जमींदार शाह आलम के पक्षपाती समझे जाते थे।

राजा उदयनारायण का पतन होने पर, राजशाही की जमींदारी नाटौर के राजवंश के हाथ में आ गई थी। वहीं के रामकान्त की स्त्री इतिहास-प्रख्यात रानी भवानी थीं। श्री पूर्णचंद्र मजुमदार ने लिखा है कि मीर कासिम ने पहले तो रामकान्त की जमींदारी छीन ली, पर जगत्सेठ के सिफारिश करने पर लौटा दी। बंगाल के राजा सीताराम को तो उसने फांसी की सजा दे दी।

"उसने अपना कर्तव्य यही समझा कि उन्हें कम से कम नजरबन्द कर अपने ही पास रखा जाय । पर बुलाने पर वे मुंगेर जाने के लिए कदम उठाने वाले न थे । मीर कासिम जानता था कि संदेश या आदेश मिलते ही वे कलकत्ते भाग जायंगे । और वहां अंगरेजों को पैसे से, कूटनीति से और अपने प्रभाव से अमूल्य सहायता पहुंचाने लगेंगे । इसलिए उसने वीरभूम के फौजदार मुहम्मद तकी खां को लिखा कि खत मिलते ही मुर्शिदाबाद जाकर सेठों का घर घेर लेना और किसी को बाहर निकलने मत देना; उन्हें गिरफ्तार कर कहीं रखना और जब अरमनी सरदार मार्कर पहुंच जाय और तुम्हें एक खत दे दे तब उसे पढ़ कर और उसके बाद उससे रसीद लिखा कर सेठों को उसके हवाले कर देना । तकी खां नवाब का विश्वासी था और बड़ा साहसी था। मार्कर गुरगिन खां का चेला था । तिलंगा पलटन इसके साथ कर दी गई और यह नाव से मुर्शिदाबाद भेजा गया । इसे आदेश मिला कि जब मुहम्मद तकी खां सेठों को तुम्हारे हवाले कर दे तब उन्हें यहां सही सलामत ले आना, पर इस बात का पूरा ध्यान रखना कि उनके साथ अनुचित या अपमानजनक व्यवहार न होने पावे ।

"नवाब की आज्ञा मिलते ही तकी खां बगटुट मुर्शिदाबाद चल पड़ा और पहुंचते ही सेठों के घर को घिरवा लिया । पर उसने उन्हें कहला भेजा कि 'मैं आपको शारीरिक, आर्थिक या और तरह की हानि पहुंचाने नहीं आया हूँ । सम्मानपूर्वक आपको मुंगेर भेज देने की मुझे आज्ञा हुई है। वहां नवाब आप दोनों को अपने ही साथ रखना चाहते हैं । आप निश्चिन्त हो कर मेरे साथ हो

लें।' लाचार दोनों को घर से विदा होना पड़ा । तीन दिन बाद मार्कर भी अपने तिलंगों के साथ पहुंच गया । ये लोग दोनों भाइयों को मुंगेर ले गये ।

"वहां नवाब ने पहले तो मिजाजपुरसी की, फिर उनके साथ हमदर्दी दिखा कर उन्हें तसल्ली दी और अपनी मजबूरी बता कर कहा कि आप लोग बेफिक्र हो कर यहां अपने लिए मकान बनवा लें, मुर्शिदाबाद की तरह अपनी कोठी खोल लें, दरबार में आया-जाया करें और माली मामलों में जैसे पहले सरकार को मदद पहुंचाते थे वैसे ही आगे भी पहुंचाते रहें । कहने के लिए उसने उनको आजाद कर दिया, पर वे बराबर नजरबन्द ही रहे। जब कहीं जाते तो जासूस यह देखते रहते कि कहीं दूर न निकल जायँ। उन्होंने अपनी कोठी भी खोल ली और देशकाल को देखते हुए जिस प्रकार रह सकते थे रहने लगे"।

मुंगेर जाते समय ऐमियट को कासिमबाजार में ही समाचार मिला कि जगत्सेठ महताबराय और उनके भाई महाराज स्वरूपचंद गिरफ्तार कर लिये गये थे । समाचार मिलते ही उसने वांसीटार्ट को इसकी सूचना भेज दी । २४ अप्रैल को वांसीटार्ट ने मीर कासिम को लिखा :—

"मुझे अभी मि० ऐमियट का एक खत मिला है जिसमें लिखा है कि २१ तारीख को मुहम्मद तकी खां अपने सैनिकों के साथ वीरभूम से मुर्शिदाबाद जा धमका और उसी रात को जगत्सेठ के घर जा कर उनको और उनके भाई को गिरफ्तार कर लिया। फिर उन्हें हीरा-झील ले गया । इस समय दोनों वहीं हिरासत में हैं।

"मुझे इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ है । आपके मसनद पर बैठने के बाद ही मैंने सेठों की उपस्थिति में आपसे मिल कर कहा था कि आप उन दोनों प्रभावशाली व्यक्तियों से राज-काज में सहायता लेते रहेंगे और उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुंचने न देंगे । आपने भी यह स्वीकार कर लिया था । पिछली बार जब मुंगेर में आपसे मिला था तब मैंने फिर उनके सम्बन्ध में आपसे बात की थी और आपने मुझे यह आश्वासन दिया था कि मैं उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुंचाऊंगा । ऐसे व्यक्तियों को घर से घसीट कर ले जाना अत्यन्त अनुचित काम था । उनके लिए तो यह अपमान-जनक था ही, आपकी अपनी प्रतिज्ञा के भी प्रतिकूल था। दूसरे किसी भी नाजिम के समय में उनकी ऐसी अप्रतिष्ठा नहीं हुई। जो कुछ हुआ है वह आपको ही नहीं, मुझको भी कलंकित करने वाला है ।"

वांसीटार्ट ने सेठों की रिहाई पर जोर दे कर लिखा था कि उनकी कारा-मुक्ति से ही हम दोनों अपयश से बच सकेंगे। मीर कासिम पर उसकी बातों का कोई असर न पड़ा। २ मई को उसने यह पत्रोत्तर दिया :—

"आज तक सेठों के सम्बन्ध में न तो किसी ने मुझे कुछ लिखा था न कहा था।

"अब आपने उनके पक्ष में ये बातें कहीं हैं तो मुझे अपनी स्थिति स्पष्ट कर देनी पड़ती है ।

"यह बात जग-जाहिर है कि अभी हाल तक, प्रत्येक नाजिम के समय में, ऐसे व्यापारी जहां अपना कारबार चलाते रहे हैं वहां सरकार का भी हाथ बंटाते रहे हैं । उदाहरण के लिए, मैं अमीचंद

का नाम ले सकता हूँ। अंगरेजों पर निर्भर करने वाले व्यापारियों का और इन सेठों का भी अपना हाल यह था कि वे नाजिम से मिलते-जुलते और सरकार को सहायता देते रहते थे।

"ईश्वर को धन्यवाद है कि आपको मेरे शब्द अभी तक याद हैं। यह ठीक है कि मैंने स्वयं कहा था कि 'ये दोनों भाई विशेष स्थान रखने वाले हैं। मेरे लिए इनके सहयोग से काम करना ही उचित होगा।' पर इन तीन बरसों में वह सहयोग मुझे कभी प्राप्त न हो सका। मैंने इन्हें बार बार लिखा कि अपना व्यवसाय चलाते रहो और निजामत को भी मदद पहुंचाते रहो। पर इन्होंने मेरी बातों पर कभी ध्यान नहीं दिया। अपना कारबार तो बन्द कर ही दिया, निजामत को भी जितनी उलझन में डाल सकते थे डालते गये। मेरे साथ इनका ऐसा बर्ताव होने लगा मानो मैं इनका दुश्मन था——इनके लिए अछूत के बराबर था। मदद देने की कौन कहे, इन्होंने दरबार में आना-जाना भी छोड़ दिया।

"मैंने इन्हें यहां आने को मजबूर किया तो इसलिए नहीं कि ये अंगरेजों से मिल कर चालें चल रहे थे, बल्कि इसलिए कि मुझे इनसे कितनी ही बातें दर्याफ्त करने की जरूरत थी——कई सरकारी काम इनके बिना रुके पड़े थे। यह तो शुरू से ही दोनों ओर मानी हुई बात थी कि अपना व्यवसाय चलाते हुए, इन्हें नाजिम और निजामत से भी सरोकार रखना पड़ेगा।

"आपने भौंहें तान कर मुझे अपनी प्रतिज्ञाओं की याद दिलाई है। क्या प्रतिज्ञा या संधि-पत्र मेरे ही लिए है, आपके लिए नहीं? क्या आपकी दृष्टि में वह बस बच्चों का खेल है जिसके घेरे से आप जब चाहें और जैसे चाहें बाहर निकल जा

सकते हैं ? आपकी अपनी ओर से जो कुछ हो रहा है उसे मैं और क्या कह सकता हूँ ? आपके कर्मचारी मेरे आमिलों को बलपूर्वक ले जाकर कैद कर दें तो मैं तो यही कहूंगा कि आपने संधि-पत्र को ठुकरा दिया। हां, आप संभवत: यही कहेंगे कि आपकी ओर से कुछ भी अनुचित नहीं हुआ। जब आपके कर्मचारी मदोन्मत्त हो कर अत्याचार करते फिरते हैं तब संधि-पत्र पर हरताल नहीं लगती, तब मुझे इसका प्रतिवाद करने का कोई अधिकार नहीं होता, तब किसी पर कलंक नहीं लगता । पर जब मैं अपनी ही प्रजा और अपने ही आश्रित व्यक्ति को अपने पास बुलवाता हूँ तब आपके कहने के अनुसार मैं संधि-भंग कर बैठता हूँ, मेरा शासन शासन कहाने योग्य नहीं रह जाता, मैं सब की, विशेषत: आपकी, दृष्टि में बहुत ही नीचे गिर जाता हूँ। ईश्वर ही जानता है कि यह मेरे लिए कितनी अगम्य और आश्चर्यजनक बात है ।

"इन दोनों ने मेरे नाजिम होने के दिन शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की थी कि, 'आपकी जान के साथ हमारी जान रहेगी, आपकी भलाई में ही हम अपनी भलाई समझेंगे ।' यह बात सारी दुनिया जानती है। मैंने इन्हें यहां बुलवा लिया है तो इसीलिए कि ये बराबर मेरे साथ रहें और परंपरा के अनुसार अपना ही नहीं, सरकार का भी काम-काज करें । आपने इनकी ओर से जो कुछ लिखा है वह सिफारिश है या और कुछ, मुझे मालूम नहीं । आपने मुझ पर संधि-भंग का दोषारोपण किया है। यह तो आप ही जानते होंगे कि जो संधि-पत्र आपके पास है, उसमें इनका उल्लेख है या नहीं। आपने लिखा है कि मैं अपने आपको कमजोर साबित और बदनाम

कर दूंगा । पर परमात्मा जानता है कि मैंने इन्हें किसी बुरे उद्देश से नहीं बुलवाया है । मैंने न्याय के विपरीत न तो कभी किसी को गिरफ्तार कराया, न किसी की जान ली। खोजा वजीद के साथ भी मैंने अन्याय नहीं किया । मैं इतना ही चाहता हूँ कि सेठ-बन्धु यहीं रह कर काम-काज करें । अगर आप सच को झूठ या सफेद को स्याह बता कर, मेरा नाम उछालना चाहते हैं तो इसका मेरे पास कोई इलाज नहीं। हां, अगर इंसाफ भी कोई चीज है तो मैं कहूँगा कि इस विषय में वाद-विवाद की गुंजाइश ही नहीं।"

बकलम नवाब—

"हम दोनों के बीच जो संधि हुई थी उसका एक सिद्धांत था कि न तो कंपनी के कर्मचारियों की ओर से मैं कोई सिफारिश करूं न मेरे कर्मचारियों की ओर से आप । पर आप लोग उस बात को बिलकुल भूल गये हैं और शर्त के खिलाफ काम कर रहे हैं । अपना नाम जगाना और मनमानी करना, यही आपका उद्देश हो रहा है । मैं लाचार हूँ।"

कलकत्ते में ऐमियट गरम दल का नेता और मीर कासिम का परम द्रोही था । उसने जगत्सेठ की रिहाई की बात की तो नवाब पर इसका कोई अच्छा प्रभाव न पड़ा। दोनों के बीच और भी कोई समझौता न हो सका । इधर पटने के अंगरेज प्रधान एलिस ने नवाब के कुछ आमिलों को गिरफ्तार कर कलकत्ते भिजवा दिया था तो इसके जवाब में नवाब ने अंगरेजों के कुछ गुमाश्तों को कैद करा लिया था । ऐमियट की मुंगेर-यात्रा निष्फल रही और उसे अपने साथी हे को जामिन के तौर पर वहीं छोड़ कर लौटना पड़ा । लौटने से पहले वह एलिस को लिख गया कि लड़ाई के लिए

तैयार रहो और एलिस ने लड़ाई की घोषणा होने से पहले ही २४ जून को नवाब की सेना पर आक्रमण कर दिया ।

अंगरेजों ने पहले से ही अपना कार्यक्रम निश्चित कर रखा था। विचार यह हुआ था कि २३ जून को ऐमियट के प्रस्थान करते ही, पटने पर अधिकार कर लिया जाय । सेनानायक किस स्थान पर एकत्र होंगे और किस मार्ग से किसको कहां जाना होगा यह सब १८ जून तक निश्चित हो चुका था । कुछ सैनिक तो उससे भी पहले पटने भेजे जा चुके थे । पटने के किले में अंगरेजों की ओर से किसी को आक्रमण की आशंका न थी। सामरिक दृष्टि से किला भी मजबूत नहीं कहा जा सकता था । एलिस ने २३ जून की रात को ही उस पर आक्रमण की तैयारी कर ली और २४ को अंगरेज, तारों की छांह, फाटक तोड़ कर किले में जा घुसे और वहां लूट-मार करने लगे । मीर मेहदी खां तो मुंगेर भाग चला, पर लाल सिंह और मुहम्मद अमीन के पराक्रम से किला फिर नवाब के अधिकार में आ गया ।

इतने में मुंगेर से कुमक ले कर मार्कर पटने आ गया और उसने अंगरेजों की कोठी घेर ली। एलिस, फुलर्टन आदि अंगरेज छपरे भाग गये । उनका विचार और भी दूर भाग जाने का था, पर वहीं वे रामनिधि नामक फौजदार और समरू द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये ।

७ वीं जुलाई को गवर्नर को मीर कासिम का एक पत्र मिला जिसमें नवाब ने लिखा था—"मैं एलिस साहब को हृदय से अपना परम शत्रु ही समझता आया हूँ। इस समय देखता हूँ कि वह बन्धु कह कर सम्बोधन किये जाने के सर्वथा योग्य हैं। यह बात उनके

विविध आचरणों से व्यक्त हो पड़ी है। उन्होंने चोर की तरह रात के समय पटना के किले पर आक्रमण कर के बाजार को लूटा, प्रातःकाल से तीन पहर तक केवल लूट और नर-हत्या से प्रतिष्ठित महाजनों एवं नागरिकों को त्रस्त किया। मैंने एक समय आपसे दो-तीन सौ बन्दूकें मांगी थीं, किन्तु आप मेरे उस अनुरोध को पूरा नहीं कर सके थे, परन्तु हमारे साथ आन्तरिक मित्रता होने के कारण ही एलिस साहब ने इस हत्याकांड में अपनी सेना की सारी तोप-बन्दूक एवं युद्ध-सामग्री मुझे सौंप दी और स्वयं सेना के भार-वहन की उत्कट चिन्ता से छुट्टी ले ली। आपने अन्याय से निर्दयतापूर्वक निर्दोष नगरवासियों को नर-हत्या से त्रस्त करके कई लाख रुपयों की द्रव्य सामग्री लूट ली है। इस बात पर भली-भांति विचार करके दरिद्रों की क्षतिपूर्ति करना कम्पनी का कर्तव्य है। सिराजुद्दौला के समय कलकत्ता की लूट के बाद यही बात हुई थी। ईसा के नाम पर धर्म-शपथ कर के आप लोगों ने सामरिक व्यय का निर्वाह करने के लिए हमसे जमींदारी ली थी। आपकी सेना हमारे पास रह कर सदैव हमारी उन्नति की चेष्टा करेगी, इस बात की शर्त हुई थी। किन्तु, काम पड़ने पर, देखते हैं कि आप हमें नष्ट करने के लिए ही इतनी बड़ी सेना रक्खे हुए हैं। जब आपकी सेना हमारे साथ इस प्रकार का—संधि-विरुद्ध—व्यवहार कर रही है, तब मेरे लिखने का यही अभिप्राय है कि, आप मेरी जो जमींदारी भोग कर रहे हैं उसका तीन वर्ष का राज-कर आपको मेरे पास जमा करना चाहिए। गत कई वर्षों से कम्पनी के गुमाश्तों ने निजामत के अधिकार से जितने अत्याचार किये हैं, बलपूर्वक जितना धन लूटा है, देश के लोगों की जितनी क्षति की है, इस समय उसका प्रतीकार करना कम्पनी का कर्तव्य है। आप लोगों

को अब इतनी हानि उठानी पड़ेगी कि जैसे आप लोगों ने बर्दवान एवं अन्य स्थानों का अधिकार प्राप्त किया था, वैसे ही उन्हें लौटा देना पड़ेगा"*।

ऐमियट और उसके साथी मुर्शिदाबाद में ही गिरफ्तार हो गये । इस पर उसने अपने सैनिकों को गोली चलाने का हुक्म दे डाला । नवाब की ओर से खून का बदला खून से ही लिया गया और ऐमियट को प्रायः सात अंगरेजों के साथ मौत का शिकार होना पड़ा ।

नवाब ने अपने सभी फौजदारों को लड़ाई शुरू हो जाने की सूचना दे दी ।

ऐमियट और हे को मुंगेर रवाना कर अंगरेज तलवार खींचने के साथ, मीर कासिम के बजाय और किसी को मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बिठाने के लिए उधेड़-बुन भी करने लगे थे। उनकी दृष्टि में मीर जाफर से उपयुक्त व्यक्ति मिलना कठिन था—वही मीर जाफर जिसे तीन ही साल पहले नालायक बता कर वे उसी गद्दी से उतार चुके थे । १० जुलाई को उन्होंने उसके साथ दूसरी संधि कर नीबू को कुछ और निचोड़ लिया और बदले में उसे निजामत दे दी । मीर जाफर ने स्वीकार कर लिया कि—

१—अंगरेजों को कहीं कोई शुल्क न देना पड़ेगा । सिर्फ नमक पर उन्हें ढाई प्रतिशत चुंगी देनी पड़ेगी।

२—इस देश के व्यापारी यथारीति पूरा शुल्क दिया करेंगे।

३—इस संबंध में मीर कासिम के आदेश रद्द समझे जायंगे।

---

* "मीर कासिम" का हिन्दी अनुवाद।

४—कंपनी को इस लड़ाई से होने वाली हानि की पूर्ति के लिये तीस लाख रुपये दिये जायंगे। दूसरे अंगरेज व्यापारियों की भी क्षतिपूर्ति की जायगी। अगर इतना रुपया नकद न दिया जा सका तो उन्हें बदले में जमीन दे दी जायगी।

५—नवाब को १२ हजार सवार और १२ हजार पैदल से अधिक सैनिक रखने का अधिकार न होगा। आवश्यकता पड़ने पर कंपनी उन्हें सामरिक सहायता देगी और इसके लिए बर्दवान, मेदिनीपुर और चटगांव उसके अधीन बने रहेंगे।

६—सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आधा माल छोड़ कर, पूनिया में शोरा और सिलहट में चूना खरीदने का एकाधिकार कंपनी को होगा।

७—कलकत्ते की टकसाल के रुपये मुर्शिदाबाद की टकसाल के रुपयों के बराबर ही माने जायंगे और उन पर बट्टा काटना जुर्म समझा जायगा।

इस संधि-पत्र पर कंपनी की ओर से हस्ताक्षर करने वाले सात सदस्यों में से तीन थे वांसीटार्ट, कारनक और वारेन हेस्टिंग्स।

लड़ाई शुरू होते ही मीर कासिम ने मीर तकी खां को वीरभूम से मुर्शिदाबाद की ओर बढ़ने के लिए लिखा। जाफर खां, आलम खां और हैबतुल्ला उसके सहायतार्थ भेजे गये। मुर्शिदाबाद के फौजदार सैयद मुहम्मद खां के सहयोग प्रदान न करने पर भी अंतिम तीनों ने कासिमबाजार को घेर लिया और वहां के अंगरेजों को कैद कर मुंगेर भेज दिया। मुहम्मद तकी खां के बढ़ आने पर अंगरेज सेनापति ऐडम्स से उसकी भागीरथी के तट पर कटवा के पास १९ जुलाई को भिड़ंत हुई।

इस लड़ाई में तकी खां ने बड़ी वीरता दिखाई, पर अपने सैनिकों का पूरा सहयोग न प्राप्त होने के कारण उसे मैदान हारना और स्वयं बुरी तरह से घायल होकर मरना पड़ा। मैलीसन ने "भारत के निर्णायक युद्ध" नामक (अंगरेजी) ग्रंथ में लिखा है—"उसके जो घुड़सवार पिछले दिन लेफ्टिनन्ट लेन के विरुद्ध लड़ चुके थे आज तटस्थ-से बने रहे। अगर उन्होंने फिर लड़ाई में भाग लिया होता तो जीत मीर कासिम की होती, अंगरेजों की नहीं। पर भारतवर्ष के इतिहास में ऐसे देशद्रोह के उदाहरण भरे पड़े हैं। अंगरेजों को जो सफलता हुई है उसका प्रधान कारण यहां के राजाओं, नवाबों और सरदारों का पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष ही रहा है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है।"

अब अंगरेज मुर्शिदाबाद की ओर बढ़े। मीर कासिम की सेना से नगर की रक्षा न हो सकी और शत्रुपक्ष ने फिर कासिमबाजार पर अधिकार कर लिया। दोनों ओर से मोरचाबंदी उसी गिरिया के पास हुई जहां प्रायः तेईस साल पहले अलीवर्दी खां सरफराज खां को पराजित कर चुका था। मीर जाफर की ओर से सेनानायक मीर नसीर, मीर बदरुद्दीन, शेरअली खां आदि थे। ऐडम्स के आक्रमण के समय मार्कर और समरू के पैर उखड़ गये या वे जानबूझ कर पीछे हट गये। अगर बदरुद्दीन, मीर नसीर आदि की तरह वे भी पराक्रम दिखाते तो मीर कासिम की जीत हुए बिना न रहती। मैलीसन ने लिखा है कि "नवाब के पक्ष को आवश्यकता थी तो मुहम्मद तकी खां जैसे रण-कला-कुशल सेनापति की। अगर वह कटवा में न मारा जाता और गिरिया में उपस्थित होता तो उस पक्ष का विजयी होना निश्चित था। पर वहां न तो वैसा सेनापति

था न स्वयं मीर कासिम जो अपने लिए लड़ने वाली सेना का हौसला बढ़ा कर, उससे अपनी विजय की आशा को फलीभूत कर सकता।" परिणाम यह हुआ कि विश्वासघात के कारण उसकी सेना को यहां भी १ अगस्त को पराजित होना पड़ा।

तीसरी लड़ाई इतिहास में 'उधवानाला' के नाम से प्रसिद्ध है। यह राजमहल के पास ऐसे स्थान पर हुई जिसके एक ओर तो भागीरथी थी और दूसरी ओर उधवा या उदयनाला । नवाब ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर वहां मोरचाबंदी कराई थी । उसके सैनिकों की संख्या प्रायः ४०,००० थी। मुर्शिदाबाद से पटने जाने वाली सड़क के किनारे एक पुराना किला था जिस पर उन्होंने अधिकार भी कर लिया था । नयी चहारदीवारी बना कर, तोपें भी उपयुक्त स्थानों पर चढ़ा दी गई थीं।

पर प्रकृति ने भी उस दुर्ग को सुरक्षित बनाने में बड़ी सहायता पहुंचाई थी। एक ओर तो बहुत लम्बी चौड़ी झील थी और दूसरी ओर दुर्गम पर्वतमाला। अंगरेजों की छावनी और किले के बीच वह झील या खाई बरसाती नदी की-सी रुकावट का काम कर रही थी।

यहां भी विश्वासघात ने मीर कासिम के कवच को अभेद्य नहीं रहने दिया। एक अंगरेज सैनिक कंपनी की नौकरी छोड़कर, कुछ समय पहले मीर कासिम की सेना में भरती हो चुका था। वह पथों और पगडंडियों से पूरा अभिज्ञ भी था । जब उसे अपने देशद्रोह पर पश्चात्ताप होने लगा तब एक रात को चुपके चुपके अपनी छावनी से निकल कर सेनापति ऐडम्स के पास पहुंचा और उसे बताया कि झील की गहराई सब जगह एक-सी न थी ; कहीं कहीं उसे पार करना भी संभव था। मंत्र मालूम होते ही ऐडम्स ने छापा मारा

और रात को ही दीवार लांघ कर किले के पास पहुंच गया। सुबह होते ही ५ सितम्बर को उस पर कब्जा भी कर लिया। उस मौके पर भी अरमनी सेनानायकों ने पीठ दिखा कर और अपने आदेशों से अपनी सेना को ही आपद्ग्रस्त कर, नमक का हक अदा किया!

इसके बाद हुई इन पराजयों की वह प्रतिक्रिया जिसमें मीर कासिम की क्रोधाग्नि से कितने ही अपराधी-निरपराधी भस्मीभूत हो गये।

इस प्रकार नष्ट होने वालों में अंगरेज ही नहीं, भारतवासी भी थे।

युद्ध-सम्बन्धी समाचारों ने मीर कासिम को विक्षिप्त-सा कर दिया और उसे वातावरण विश्वासघात से भरा हुआ प्रतीत होने लगा। स्वयं मरने से पहले उसने उन सभी कैदियों को मार डालने का निश्चय किया जिनके दोष प्रमाणित हो चुके थे या जिन्हें वह सन्देह की दृष्टि से देखता आ रहा था।

मीर कासिम की विफलता के कारणों के विश्लेषण के लिए, इतिहासकार और मनोवैज्ञानिक का पूरा सहयोग चाहिए। उसने कभी मध्यममार्ग का अवलम्बन नहीं किया। किसी पर विश्वास किया तो यह भूल कर कि 'विश्वस्तं नाति विश्वसेत्'। किसी पर अविश्वास किया तो इसे भी चरम सीमा को पहुंचा दिया। बेतिया पर चढ़ाई की तो गुरगिन खां की सलाह मान कर, नेपाल पर भी चढ़ाई किये बिना न रह सका। इस लड़ाई में जीत होने पर भी वह हार के ही बराबर साबित हुई। एक जमींदार से शत्रुता हुई तो जमींदार-मात्र को शत्रु मान लिया और ऐसी तीक्ष्ण दंडनीति से काम लिया कि उस समाज में बंगाल से बिहार तक कोई उसका

मित्र या शुभचिन्तक न रह गया। फिर जहां यथेष्ट विवेक न था और अपनी ही भुजाओं के भरोसे सब कुछ करना था, वहां साल दो साल के ही शस्त्र-संग्रह और नयी कवायद से पहाड़ कैसे टूट सकता था ? जो हो, जब आशा निराशा में परिणत हुई तब मीर कासिम को अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु नजर आने लगे और वह सब के खून का प्यासा बन गया ।

इन लोगों के रक्त से, गंगा का जल ही नहीं, उसके पास की भूमि भी रंजित हो गई। इनमें मुख्य थे राजा रामनारायण, राजवल्लभ, राय रायां उम्मेदराय, राजा फतह सिंह, राजा बुनियाद सिंह, शेख अब्दुल्ला, जगत्सेठ महताबराय, महाराज स्वरूपचंद और पटने के एलिस आदि अंगरेज कैदी ।

इनमें कुछ की हत्या मुंगेर में ही हुई और बाकी की पटने में या उसके आसपास।

रामनारायण को उसके गले से बालू भरा घड़ा बांध कर, गंगा में डुबा दिया गया। कितने ही औरों की भी यही दशा हुई। जगत्सेठ की हत्या* के समय और स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है। "मुताखरीन" में लिखा है कि मीर कासिम के मुंगेर से प्रस्थान करने पर पटने के पास बाढ़ में उनकी हत्या हुई। पर उसके अनुवादक ने ही इसे स्वीकार नहीं किया था। वह लिख गया है :—

"जगत्सेठ महताबराय भी मुंगेर के किले के बुर्ज से गंगा में ही डाल दिये गये थे । उस समय उनके नौकर चुन्नी ने बहुत अर्ज-मिन्नत की कि मुझे भी अपने मालिक के साथ बांध कर या कम

*पारिवारिक श्रुतिपरम्परा के अनुसार, इसकी तिथि थी आसिन सुदी १०, संवत् १८२०।

से कम उनसे पहले नदी में डाल दिया जाय। पर उसकी एक न सुनी गई और महताबराय के बहुत समझाने-बुझाने का भी कोई असर न हुआ। तब उसने खुद नदी में कूद कर अपने प्राण त्याग दिये। यह बात मुझे उस समय की जनश्रुति से ही नहीं, चुन्नी के बाबूराम नामक एक सगे-संबंधी से भी मालूम हुई थी। यह पहले जगत्सेठ के यहां काम करता था, अब दस साल से मेरा नौकर है।

"हो सकता है कि गुलाम हुसैन ने दोनों भाइयों की हत्या के बारे में जो कुछ लिखा है वह ठीक हो, पर इतना तो मैं अवश्य कहूँगा कि उस समय सर्वसाधारण मे जो बात प्रचलित थी उसके यह विपरीत है। मुंगेर के किले में एक बुर्ज कायम है जिसके पास से प्राय: दस हजार नावें हर साल गुजरती हैं। उनके सवारों में एक भी शख्स ऐसा न होगा जो उस बुर्ज की ओर इशारा कर यह न कहे कि इसी के पास दोनों सेठ-बन्धु नदी में डाल दिये गये थे। मुंगेर में एक भी ऐसी बूढ़ी औरत न होगी जो चुन्नी की स्वामि-भक्ति और त्याग की कथा न जानती हो और जो उन शब्दों को न दोहरा सके, जो उस ऐतिहासिक अवसर पर उसके मुख से अपने मालिकों के कातिलों के सामने निकले थे। यह भी याद रखना चाहिए कि जिस समय गुलाम हुसैन ने अपनी पुस्तक लिखी थी उस समय वह सेना के साथ था। वैसी परिस्थिति में न तो वह इस घटना की बात चला सकता था और न इसके विषय में बहुत पूछताछ ही कर सकता था। और उसने जो कुछ लिखा उस पर फिर नजर नहीं डाली—उसमें कोई संशोधन नहीं किया।"

गुरिगन खां भी जिन्दा न बच सका। इसके अरमनी साथियों के

सम्बन्ध में भी मीर कासिम के मन में संदेह हो चला था। गुरगिन खां अंगरेजों के शुभचिन्तक* खोजा पिट्रस का भाई था और अंगरेजों ने इससे भी मित्रता कर ली थी। इसका हत्यारा तो कोई मुसलमान सैनिक था, पर कहा गया है कि वह हत्या भी मीर कासिम के ही आदेश से हुई थी।

जो पटने का हत्याकांड कहा जाता है उसका संबंध अंगरेज कैदियों से था। मीर कासिम मुँगेर के किले की रक्षा का भार अरबअली खां नामक सरदार पर छोड़ आया था, पर जब अंगरेज सेना वहां उधवानाला की विजय के बाद १ अक्टूबर को पहुँची तब अरबअली ने भी विरोध के बजाय विश्वासघात ही किया। यह सुनते ही मीर कासिम क्रोधान्ध हो गया और उन सभी कैदियों के कत्ल का हुक्म दे दिया।

इस हत्याकांड की जिम्मेदारी समरू को सौंपी गई और उसने ऐसी क्रूरता दिखाई कि लोगों को कहना पड़ा कि वह सेनानायक होकर भी कसाईखाने का काम न भूला था। ५ अक्टूबर को एक एक करके उसने एलिस, हे, लुशिंगटन आदि का कत्ल करा डाला। जब नवाब की फौज के सिपाहियों ने 'हलालखोर' का काम बता कर इसे करने से इनकार कर दिया तब उसने उन्हें कठोर दंड देकर बाकी काम पूरा करा लिया। एक डाक्टर फुलर्टन को छोड़ और कोई जीवित न रह सका। एलिस के नन्हें बच्चे को भी समरू ने दया का पात्र न समझा। २८ अक्टूबर को अंगरेज मुंगेर से पटने

* "रियाजुस्सलातीन" के लेखक ने, १७८६ में डाक मुंशी का काम करते हुए भी लिखा था कि "गुरगिन खां उन सेनानायकों तथा अन्य पदाधिकारियों में था जो (अंगरेजों के) षड्यंत्र में सहयोगी थे।"

के पास पहुंचे और आक्रमण की तैयारी करने लगे । ६ नवम्बर को किले पर उनका अधिकार हो गया, पर मीर कासिम इससे पहले ही अपने परिवार को रोहतासगढ़ भेज, पटने से प्रस्थान कर चुका था ।

वास्तव में उसका उद्देश था अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला की शरण लेना । जब मेजर ऐडम्स ने उसका पीछा किया तब रोहतासगढ़ से भी धन-जन को अन्यत्र भेज कर मीर कासिम कर्म्मनाशा पार चला गया और ऐडम्स को ससराम लौट जाना पड़ा ।

मीर कासिम बनारस पहुंचा तो राजा बलवन्त सिंह ने उसकी आवभगत की। शुजाउद्दौला का आश्वासन उसे पहले ही मिल चुका था । यह कुरान पर अपने हाथ से लिखे हुए, सहायता के वचन के रूप में था । मीर कासिम को कुछ लोगों ने कहा भी कि शुजाउद्दौला बात का धनी नहीं तो उसे विश्वास न हुआ और वह बनारस से इलाहाबाद चला गया । वहां शाहआलम और शुजाउद्दौला के लखनऊ से आने पर उसने दोनों से मुलाकात कर उनसे सहायता मांगी । दरबार में अब कूटनीतिक घात-प्रतिघात होने लगे । मीर कासिम विपन्न हो कर भी अभी धनवान् बना हुआ था । उसने दरबारियों को चटाना शुरू कर दिया । अंगरेजों को और मीर जाफर को इसकी खबर मिली तो वे भी चुपचाप न बैठ सके । मुर्शिदाबाद से शाहआलम के पास दूत जाने-आने लगे । शाह आलम और शुजाउद्दौला एक पैर इस नाव पर तो एक पैर उस नाव पर रखना ही कुछ समय के लिए सबसे

अच्छी नीति समझते थे । शुजाउद्दौला का प्रधान मंत्री बेनी बहादुर मीरजाफर के पक्ष में था। मीर कासिम को आश्वासन मिल जाने पर भी वह अगर-मगर करने लगा। उसने ऐसा उपाय किया कि मीर कासिम को शाह आलम की ओर से कुछ समय के लिए और ही लड़ाई पर बुंदेलखंड की ओर जाना पड़ा। वहां से जीत कर लौटने पर ही शुजाउद्दौला के साथ उसकी संधि हुई जिसके द्वारा उसने सहायता के मूल्य के रूप में, उसे ग्यारह लाख रुपये प्रतिमास देना स्वीकार कर लिया।

उधर पटने में मीर मेहदी खां मीर जाफर का पल्ला पकड़ चुका था और उसे घुड़सवारों के सेनानायक का पद भी मिल चुका था। मेजर ऐडम्स के मर जाने पर कारनक फिर अंगरेज सेनापति बन चुका था। जब अंगरेजों ने देखा कि शुजाउद्दौला बिहार पर चढ़ाई किये बिना न रहेगा, तब वे भी बक्सर के पास मोरचा-बंदी कर रसद इकट्ठी करने लगे। पर इसमें सफलता न होने के कारण उन्हें अप्रैल १७६४ में पटने की ओर हटना पड़ा।

अन्त में शुजाउद्दौला की सेना ने बिहार पर चढ़ाई कर पश्चिम के प्रदेश पर अधिकार कर लिया और कुछ समय के लिए अंगरेजों की छावनी को भी घेर लिया। पर बरसात आ जाने पर उसे अपना मुकाम बक्सर में ही करना पड़ा। अंगरेज भी फिर वहीं जा पहुँचे। मेजर कारनक कमजोर समझा जाता था और उसकी ईमानदारी पर भी शुबहा होने लगा था। इसलिए उसकी जगह मेजर मुनरो सेनापति बना कर वहां भेजा गया। अंगरेजों की सेना में इधर असंतोष बढ़ चला था और वह विद्रोह का रूप भी धारण कर चुका था। बरसात का समय मुनरो ने इस विद्रोह

का दमन करने में और सैनिकों के अभाव-अभियोग दूर करने में ही बिताया। पर जहां उसके दल में व्यवस्था सुधरी वहां शुजाउद्दौला के अपने दल में बैर-फूट की बेल बढ़ने लगी। समरू मीर कासिम से लड़-झगड़ कर उससे अलग हो गया और उसने शुजाउद्दौला से यहां तक कह डाला कि मीर कासिम उसकी जान का गाहक हो रहा था। इसका फल यह हुआ कि शुजाउद्दौला मीर कासिम का शत्रु हो गया और उसका धन छीन कर तथा उसे अपमानित कर अपने खेमे से बाहर निकलवा दिया। उसके ऐसे व्यवहार से भग्नहृदय होकर मीर कासिम ने फकीरी लिबास में वहीं धरना दे डाला। कुछ समय बाद समझाने-बुझाने पर अपने खेमे में गया भी तो वहां काल के रूप में समरू आ उपस्थित हुआ। उसने मीर कासिम का खेमा घेर कर लूट-मार शुरू कर दी, जिससे बेगमों को भी बेइज्जत होना और लुटना पड़ा। लंगड़े हाथी पर सवार होकर, एक स्वामिभक्त मुसलमान सेवक और बाल बच्चों के साथ, मीर कासिम ने बिहार से अंतिम प्रस्थान किया।

अगर अंगरेजों के बक्सर पहुंचते ही उन पर शुजाउद्दौला की ओर से आक्रमण होता तो उन्हें हारना ही पड़ता। पर शुजा-उद्दौला की छावनी में डंके के बजाय सारंगी-तबले बजने लगे थे। मीर कासिम को धता बता कर शुजाउद्दौला अन्त में लड़ने चला भी तो २२ अक्टूबर के युद्ध में उसे बुरी तरह हारना और रुहेलखंड की ओर भाग जाना पड़ा। बेपेंदी के लोटे की तरह लुढ़कते रहने वाले शाह आलम ने फिर अंगरेजों से दोस्ती कर ली। इस लड़ाई की ऐतिहासिक विशेषता इस बात में है कि

इससे बंगाल-बिहार में अंगरेजों का मार्ग निष्कंटक हो गया और वे अब अजेय माने जाने लगे ।

मीर कासिम[८] जान बचा कर कहीं अज्ञात-वास करने चला गया। पर उससे फिर कुछ बन न पड़ा । जून १७७७ में दिल्ली के पास एक कस्बे में किसी शख्स की लाश पड़ी हुई मिली थी । पास ही एक पुराना दुशाला भी मिला था। कहा गया है कि वह लाश मीर कासिम की ही थी और वह दुशाला ही उसका सर्वस्व रह गया था।

टिप्पणी

(१) पृष्ठ १९३—१७२९ में मुर्शिदाबाद के बाजार-भाव इस प्रकार थे—

बांसफूल चावल	फी रुपया	१	मन	१०	सेर
मोटा (पूरबी) चावल	,,	४	,,	२५	,,
मोटा (अन्य जाति का) चावल	,,	७	,,	२०	,,
गेहूँ (बढ़िया)	,,	३	,,	०	,,
जौ	,,	८	,,	०	,,
तेल (बढ़िया)	,,	०	,,	२१	,,
घी	,,	०	,,	१०॥	,,

१७४० के बाद हर जगह दाम तेज हो चले थे। उड़ीसा में तो कहीं कहीं चावल का भाव आठ आना सेर तक हो गया था। कलकत्ता और स्थानों की अपेक्षा सुरक्षित होते हुए भी, वहां १७४६ में चावल एक रुपये को ३० सेर ही बिकने लगा था। कंपनी ने दामों को बांधने के लिए कुछ समय तक कंट्रोल चलाया। मुनादी करा दी गई कि जो व्यापारी बढ़िया चावल फी रुपया ३४ सेर और घटिया चावल ५० सेर से कम देगा उसके साथ सख्त कार्रवाई की जायगी। पर दाम बांधे न जा सके। १७५२ में चावल का बाजार-भाव २२ सेर ही हो चला था। और बाजार-भाव इस प्रकार थे:—

गेहूँ	रु० ४—१०—०	को १ मन ६ सेर
आटा	,, ८— ०—०	को १ मन
तेल	,, ११— ०—०	को १ मन

पश्चिम बंगाल की स्थिति का वर्णन करता हुआ, "महाराष्ट्र पुराण"-रचयिता गंगाराम कहता है कि "बर्गी या मराठे जहां तक लूट-मार कर सकते थे करने से बाज नहीं आते थे। इसका फल यह हुआ कि खाद्य पदार्थों का घोर

अभाव हो गया । चावल, दाल, तेल, घी, आटा, चीनी, नमक, हर चीज का दाम रुपया सेर हो चला । लोगों को इतना कष्ट था कि हजारों भूखों मर गये ।

कारीगरों के जहां-तहां भाग जाने, मजदूरी बढ़ जाने और कपास के दाम में तेजी आने के कारण कपड़ा भी बहुत महंगा हो चला था । पूरब बंगाल में मराठों के उपद्रव न होते हुए भी ढाके में १७३८ और १७५२ के बीच दाम प्रायः ३० प्रतिशत ऊँचे हो गये थे और कई तरह के माल का तो मिलना भी अत्यन्त कठिन या असंभव हो गया था—श्री कालीकिंकर दत्त लिखित "अलीवर्दी ऐंड हिज टाइम्स" (अंगरेजी) के आधार पर।

(२) पृष्ठ २०८—ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिल जाने पर जानोजी ने उससे चौथ की रकम तलब की और कंपनी की ओर से कटक की वापसी का प्रश्न उठाया गया । इस बात पर समझौता भी हो गया कि मराठे कटक छोड़ देंगे और अंगरेज उन्हें हर साल बारह की जगह सोलह लाख दिया करेंगे । पर यह कार्य में परिणत न हो सका। उस समय कंपनी के कर्मचारियों ने इस बात की बड़ी छानबीन कराई थी कि कभी न कभी उड़ीसा या कम से कम कटक लौटा देने के लिए रघुजी या जानोजी संधि-बद्ध था या नहीं । उनका कहना था कि जब तीनों प्रान्तों की चौथ के रूप में मराठे बारह लाख रुपये पाते आ रहे थे तब उन्हें उड़ीसा प्रान्त को भी दबा कर बैठ जाने का क्या अधिकार था ? मराठों का कहना था कि अलीवर्दी खां उन्हें उड़ीसा प्रान्त तो दे ही चुका था, उसके अलावा उन्हें हर साल बारह लाख रुपये देना स्वीकार कर चुका था।

सन्धिपत्र में इस रकम के बारे में अलीवर्दी खां की ओर से कहा गया था—

"अपनी तथा शहामतजंग, सौलतजंग और सिराजुद्दौला की ओर से मैं इकरार करता हूँ कि सम्राट् अहमदशाह के राज्यकाल के चौथे वर्ष के जिलकाद महीने के ९ वें दिन अर्थात् १८ आसिन ११५७ बंगला वर्ष से आरम्भ कर, मैं बंगाल, बिहार और उड़ीसा की चौथ की मद में रघुजी भोंसले महाराज (छत्र-पति रामराजा) को हर साल बारह लाख रुपये दिया करूँगा। इस रकम का

भुगतान रघुजी के इच्छानुसार या तो जगत्सेठ की या महाराज स्वरूपचन्द की मार्फत दो छमाही किस्तों में बनारस में हुआ करेगा। शर्त यह होगी कि रघुजी या उनके वंशज या अन्य मराठे या रघुजी के मित्र नरेश, न तो इन प्रान्तों में आसन मार कर बैठेंगे, न प्रवेश करेंगे, न यहां के जमींदारों को किसी तरह सतायेंगे। अगर किसी से मेरी लड़ाई हो गई तो वह खुद आकर या अपने किसी आत्मीय को भेज कर मेरी सहायता करेंगे। जितने सैनिक मैं साथ लाने को कहूँगा उतने ही लावेंगे। प्रत्येक सैनिक को दाल-रोटी के लिए मैं १) प्रति दिन के हिसाब से दूंगा। उनकी सेना को इसी से सन्तुष्ट होना पड़ेगा और मुझसे अपने घर जाने की आज्ञा मिलते ही वह बिना मेरी प्रजा को कोई कष्ट पहुंचाये यहां से चल देगी।"

(३) पृष्ठ २११—अलीवर्दी खां (उपनाम महाबत जंग) की मृत्यु, ८० वर्ष की अवस्था में, शोथ-रोग से हुई।

वह बड़ा संयमी था। न शराब पीता था न तमाकू। नाच-रंग में भी उसकी कोई दिलचस्पी न थी। हां, शिकार खेलने का शौक उसे जरूर था।

"मुताखरीन" में दी हुई उसकी दिनचर्या के अनुसार:—

वह प्रायः ४ बजे उठ जाता। शौचादि से निवृत्त होने, नमाज पढ़ने और कुछ मित्रों के साथ कहवा पीने में तीन घंटे लग जाते।

७ बजे वह दरबार करने बैठता। वहां पूरे दो घंटे बिताता।

९ से १० बजे तक वह दूसरे कमरे में जाकर काव्य, उपाख्यानादि सुनता।

१० से १२ बजे तक का समय नहाने-धोने और खाने-पीने के लिए नियत था।

१२ बजे वह आराम करने चला जाता और १ बजे उठ कर वजू करता, नमाज पढ़ता और कुरान का पाठ कर एक प्याला बर्फ या शोरे से ठंढा किया हुआ पानी पीता। चौबीस घंटों में उसके लिए यही काफी होता।

इसके बाद मौलवी-मुल्ला आते और इस विद्वत्परिषद् का ३ बजे विसर्जन होता।

३ से ५ तक एक अन्तरंग सभा होती, जिसमें जगत्सेठ तथा अन्य विशिष्ट पदाधिकारी ही सम्मिलित हो सकते ।

५ से ७ तक का समय हंसी-मजाक के लिए था । कुछ लोग ऐसे थे जिनकी जबान कमाल पैदा कर देती । उनकी पारस्परिक नोक-झोंक देखने-सुनने और याद रखने की चीज होती ।

अब बत्ती जलाने का समय हुआ—नौकर-चाकर बाहर चले गये—बेगमें आ पहुँचीं और उनसे वार्तालाप होने लगा ।

नियमानुसार अलीवर्दी खां कुछ ताजा या सूखा फल खाकर ही ब्यालू करता । खाते-खिलाते, हँसते-हँसाते उसके सोने का समय हो आता । स्त्रियां अन्तःपुर चली जातीं । शेखचिल्ली की-सी कोई कहानी सुनता हुआ वह नींद लेने लगता । रात को हर दो-तीन घंटे बाद नींद टूट जाती, पर वह नियत समय पर उठे बिना न रहता ।

(४) पृष्ठ २१३—कम्पनी को दीवानी मिल जाने पर बंगाल और बिहार की ही आय प्रायः २ करोड़ ६८ लाख बताई गई थी । और वह भी रुपयों में नहीं, "सिक्कों" में । इसका ब्योरा यह थाः—

(१) बंगाल

१—बर्दवान, मिदिनीपुर आदि जिलों को छोड़कर बाकी हिस्से का माल
प्रायः १ करोड़ ४६ लाख

२—कम्पनी को मिले हुए बर्दवान, मेदिनीपुर, चटगांव, कलकत्ते और चौबीस परगने का माल — प्रायः ५५ लाख

माल का जोड़ — प्रायः २ करोड़ १ लाख

३—चुंगी, जुर्माना इत्यादि से होने वाली आय
प्रायः ६ लाख

कुल जोड़ — प्रायः २ करोड़ ७ लाख

(२) बिहार

१७६६ में माल	प्रायः ७५ लाख
पटने में डच कंपनी से मिलने वाला नजराना	प्रायः १५ हजार
जोड़	प्रायः ७५ लाख १५ हजार
मिनहा	प्रायः १४ लाख
अर्थात्	
जागीरदारों को छूट	प्रायः ९ लाख
नवाब को नजराना	प्रायः १ लाख
शिताबराय का वेतन	प्रायः १ लाख
उसे जरूरी खर्च के लिए मिलने वाला भत्ता	प्रायः ३ लाख

इस प्रकार बंगाल-बिहार मे होने वाली आय प्रायः २ करोड़ ६८ लाख थी।

(५) पृष्ठ २४५—हालवेल ने लिखा है कि मरने से पहले अलीवर्दी खां ने एक दिन सिराजुद्दौला को बुलवाया और उसे यह अन्तिम उपदेश दिया:—

"मैंने तुझे यथासंभव सुरक्षित कर दिया। समय मिलता तो तेरी एक और समस्या हल कर जाता । पर मेरी बाजी खतम होने पर है, तुझे वह समस्या अब खुद हल करनी होगी । तिलंगाना में अंगरेज और फरासीसी जो कुछ कर चुके हैं, उसका ध्यान रखना। उधर के नवाबों के आपस के झगड़ों से लाभ उठाकर उन्होंने सारे प्रान्त की बंदरबांट कर ली है । उनसे सावधान रहना। यहां सब से बलिष्ठ अंगरेज हैं । तूने उनका माथा कुचल दिया तो और विदेशी तेरा कुछ भी बिगाड़ न सकेंगे । उन्हें किलेबन्दी करने या सैनिक रखने तो हर्गिज मत देना। अगर तूने मेरी सलाह न मानी तो तेरा राज्य रहने का नहीं।"

हालवेल किस्सा-कहानी लिखने में सिद्धहस्त था। उस समय भी (१७५६) दूसरे अंगरेजों ने उसकी बात को मनगढ़ंत बताया था। पर बुद्धि गवाही नहीं देती कि बात बिलकुल निराधार रही होगी । अंगरेज इतिहासकार डाडवेल के

कथनानुसार "यह संभव न था कि दक्षिण में दो मुसलमान नवाब मार दिये जायं, तीसरा विधर्मियों के हाथ की कठपुतली बनकर रहे और एक मुसलमान नाजिम के दरबार में इन बातों की चर्चा या इन पर टीका-टिप्पणी भी न हो। अलीवर्दी खां ने यह जरूर कहा होगा, चाहे जब कहा हो, चाहे जिन शब्दों में कहा हो। इस बात का तो ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है कि जब निजामुल्मुल्क के बेटे नासिर जंग के मारे जाने का समाचार मुर्शिदाबाद पहुँचा था तब उसके द्वारा दंडित होने से फरासीसी बाल बाल बचे थे।"

(६) पृष्ठ ३०१—पंडित जवाहरलाल नेहरू अपनी "हिन्दुस्तान की कहानी" (श्री रामचंद्र टंडन-कृत हिन्दी अनुवाद) में लिखते हैं—

"एक खास ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दुस्तान के वे हिस्से जो अँगरेजों के कब्जे में सब से ज्यादा अर्से से रहे हैं आज सब से ज्यादा गरीब हैं। अस्ल में एक ऐसा नक्शा तैयार किया जा सकता है जिससे ब्रिटिश राज्य-काल के माप और क्रमशः निर्धनता की वृद्धि का घनिष्ठ संबंध प्रकट हो। कुछ बड़े शहरों से या कुछ नए औद्योगिक प्रदेशों से इस जांच में कोई बुनियादी फर्क नहीं आता। जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि कुल मिलाकर आम जनता की हालत क्या है, और इस बात में कोई शक नहीं है कि हिन्दुस्तान के सब से ज्यादा गरीब हिस्से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से हैं। रहन-सहन का सब से अच्छा मापदंड पंजाब में है। अँगरेजों के आने से पहले बंगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रांत था। इन विषमताओं के कई कारण हो सकते हैं। लेकिन यह बात समझ पाना मुश्किल है कि बंगाल, जो इतना धनी और समृद्धिशाली था, ब्रिटिश शासन के १८७ वर्षों में, अँगरेजों द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहां की जनता को खुदमुख्तारी की कला सिखाने की जबर्दस्त कोशिशों के बावजूद, आज गरीब, भूखे और मरते हुए लोगों का भयानक समूह है।

"हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन का पहला पूरा तजुर्बा बंगाल को हुआ। उस राज्य की शुरुआत खुल्लमखुल्ला लूट-मार से हुई, और उसमें ज्यादा से ज्यादा जमीन का लगान सिर्फ जिंदा किसान से ही नहीं, बल्कि उसके मरने पर

भी वसूल किया जाता था। हिन्दुस्तान के अँगरेज इतिहासकार एडवर्ड टामसन और जी० टी० गैरट* हमको बताते हैं कि, अंगरेजों के दिमाग में दौलत के लिये इतना जबर्दस्त लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज और पिजारो के युग के स्पेनवासियों के समय से लेकर आज तक उसकी मिसाल नहीं मिल सकती। खास तौर से बंगाल में तो उस वक्त तक शांति नहीं हो सकती थी जब तक कि वह चूसते चूसते खोखला न रह जाय। इसके बाद कितने ही वर्षों तक अँगरेजी व्यवहार की भयंकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव खास तौर से जिम्मेदार था—वही क्लाइव, वही साम्राज्य-निर्माता, जिसकी मूर्ति लंदन में इंडिया आफिस के सामने खड़ी है। यह तो खुली हुई लूट थी। पैगौडा वृक्ष को बार बार हिलाया गया। यहां तक कि वह वक्त आया कि बंगाल को अत्यन्त भयंकर अकालों ने बरबाद कर दिया। बाद में इस ढर्रे को तिजारत बताया गया, लेकिन उससे क्या असर होता है। इस तिजारत को सरकार का नाम दिया गया, और तिजारत क्या थी खुली लूट थी। इस ढंग की मिसाल इतिहास में नहीं है। और यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि यह चीज अलग अलग नामों में और अलग अलग शक्लों में कुछ वर्षों तक ही नहीं बल्कि कई पीढ़ियों तक चलती रही। खुली और सीधी लूटमार की जगह कानूनी हुलिया में, शोषण ने ले ली, और हालांकि उसकी वजह से खुलापन कम हो गया लेकिन हालत बदतर हो गई। हिन्दुस्तान में शुरू की पीढ़ियों में ब्रिटिश राज्य में जो हिंसा, धन-लोलुपता, पक्षपात और अनैतिकता थी, उसका अंदाज भी लगाना मुश्किल है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिन्दुस्तानी लफ्ज, जो अँगरेजी भाषा में शामिल हो गया है 'लूट' है। एडवर्ड टामसन ने कहा है और यह बात सिर्फ बंगाल के हवाले में ही नहीं कही गई है, "ब्रिटिश हिन्दुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है, जो कि शायद दुनिया भर में, राजनीतिक छल की सबसे बड़ी मिसाल है।"

---

* एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरेट "राइज़ एंड फुलफिलमेंट आव ब्रिटिश रूल इन इंडिया" (लंदन, १९३५)

"इस बात का नतीजा, यहां तक कि शुरू के बरसों में ही इसका नतीजा यह हुआ कि १७७० का अकाल पड़ा जिसने बंगाल और बिहार की करीब एक तिहाई आबादी को खत्म कर दिया। लेकिन यह सब प्रगति के हक में हुआ था और बंगाल इस बात पर घमंड कर सकता है कि इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की। अमेरिकन लेखक ब्रुक ऐडम्स हमको बताता है कि यह किस तरह हुआ। 'हिन्दुस्तानी-दौलत के इंगलैण्ड आने से और राष्ट्र की पूंजी में बहुत बड़ी बढ़वार हो जाने से, सिर्फ उसकी ताकत का भंडार ही नहीं बढ़ा, बल्कि उससे उसकी गति में लचीलेपन के साथ बहुत तेजी भी आई। प्लासी के बाद बहुत जल्दी ही बंगाल की लूट लन्दन में पहुँचने लगी और तुरन्त ही उसका असर हुआ मालूम देता है, क्योंकि सब प्रामाणिक लेखक इस बात से सहमत हैं कि औद्योगिक क्रांति सन् १७७० से शुरू हुई।....प्लासी की लड़ाई १७५७ में हुई और उसके बाद जिस तेजी से तब्दीली हुई, उसकी बराबरी की शायद कहीं भी मिसाल नहीं है। सन् १७६० में फ्लाइंग शटिल का आविष्कार हुआ। सन १७६४ में हार्ग्रीव्स ने स्पिनिंग जैनी का आविष्कार किया, सन् १७७६ में क्राम्पटन ने कातने की अपनी मशीन निकाली, सन १७८५ में कार्टराइट ने शक्ति संचालित करघा पेटेन्ट कराया और १७६८ में वाट ने अपना भाप एञ्जिन बना कर पूरा किया।—हालांकि इन मशीनों से उस समय के गतिशील आन्दोलनों को निकासी का रास्ता मिला, लेकिन वह गति और तीव्रता उनकी वजह से नहीं थी। आविष्कार खुद तो गतिहीन होते हैं.....वे पर्याप्त शक्ति के उस भंडार के इकट्ठे होने की प्रतीक्षा करते हैं जो उन्हें चालू करे। उस भंडार की शक्ति हमेशा ही रुपये के रूप में होगी—तिजोरी में इकट्ठा रुपया नहीं, बल्कि फेर में पड़ा हुआ रुपया। हिन्दुस्तान के खजाने के आने और उसके बाद जो रुपये की लेन-देन फैली उसके पहले इस काम के लिए काफी शक्ति नहीं थी।

"शायद जब से दुनिया शुरू हुई है किसी भी पूंजी से कभी भी इतना मुनाफा नहीं हुआ जितना कि हिन्दुस्तान की लूट से, क्योंकि, करीब करीब पचास बरस तक ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी मुकाबला करने वाला नहीं था।"

(७) पृष्ठ ३१३—श्री पूर्णचन्द नाहर ने १९२३ में "जगत्सेठों की वंशावली" शीर्षक लेख के साथ एक पुराने फरमान का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था। उससे जान पड़ता है कि बादशाह अहमद शाह ने १७५२ में जगत्सेठ महताबराय के आवेदन पर, उन्हें पारसनाथ की पहाड़ी दे दी थी। फरमान में इसका कारण बताया गया था कि यह श्वेताम्बरी जैनियों का तीर्थस्थान था, महताबराय स्वयं श्वेताम्बरी थे और सम्राट् से ऐसे दयादान के पूरे अधिकारी थे। इस पहाड़ी के अलावा उन्हें मधुबन नामक स्थान में एक कोठी भी दे दी गई थी जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया था:—

जमीन लाखिराज—रकबा ३०१ बीघे।

चौहद्दी:—

पश्चिम—जयपुरिया उपनाम जयनगर का नाला।

पूर्व—पुराना नाला।

उत्तर—श्वेताम्बरी जैनियों का बनवाया हुआ जलभरी-कुंड।

दक्षिण—पारसनाथ की पहाड़ी।

फरमान की पीठ पर अहमद शाह के वजीर खां करीमुद्दीन (कमरुद्दीन) खां बहादुर के दस्तखत थे।

जान पड़ता है कि मूल फरमान कलकत्ता हाई कोर्ट के किसी मुकदमे में सबूत के तौर पर पेश हुआ था और इसका अंगरेजी अनुवाद १९ मार्च १८६८ को हुआ था।

इंडिया हिस्टोरिकल रेकार्ड्स कमीशन के पांचवें अधिवेशन में नाहरजी ने यह अनुवाद प्रदर्शित किया था।

(८) पृष्ठ ३७१—अपने जीवन के अन्तिम दिनों में मीर कासिम कहां रहता था, क्या करता था ऐसी बातों पर कुछ प्रकाश पोलियर नामक एक स्विस-फ्रेंच इंजीनियर के विवरण से पड़ता है। इसका अंगरेजी अनुवाद डाक्टर प्रतुलचन्द्र गुप्त "शाह आलम एंड हिज कोर्ट" के नाम से संपादित तथा प्रकाशित कर चुके हैं।

पोलियर ईस्ट इंडिया कंपनी का कर्मचारी था। उसकी स्वीकृति से वह कुछ बरसों तक शुजाउद्दौला का नौकर रहा। कुछ समय उसने शाह आलम सानी की सेवा में भी बिताया।

वह लिख गया है कि

"मीर कासिम बक्सर छोड़ने के बाद मारा मारा फिरा, अन्त में दिल्ली के पास पलवल में जा बसा। वहां टूटी-फूटी दो दीवारों के बीच एक पुराने खेमे में रहता था। शायद नजफ खां उसे सहायता के रूप में कुछ नियमित रूप से दिया करता था। उसके पास कुछ धन जरूर था, पर अपनी रहन-सहन से वह इसे जाहिर नहीं होने देता था

"वह अपना खाना आप ही तैयार कर लेता था। नजूम में विश्वास रखने के कारण, उसे जो समय पत्र-व्यवहार से बचता था उसका उपयोग यह देखने में करता था कि उसके ग्रह कब अच्छे होने वाले थे।"

पोलियर ने सुना था कि वह ६ जून १७७७ को मरा था और उसका दुशाला बेच कर ही उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया की गई थी।

मीर कासिम के मरने पर उसके बाल-बच्चे और भी पतले पड़ गये। जो कुछ उनके पास बच गया था उसे पड़ोसियों ने लूट लिया। औरतों का तो पता न चला कि उन्हें कौन उड़ा ले गया, पर उसके दोनों छोटे बच्चों को नजफ खां ने पनाह दी। अपनी छावनी में उसने उनके लिए एक छोलदारी और एक पालकी का इन्तजाम करा दिया था। पोलियर ने उन्हें वहां एक दिन अपनी आंखों देखा भी था।

खुशालचंद

सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखैः !

वही चन्द्र, अब थोड़ी ही बची हुई किरणों के साथ, आकाश से गिरता आ रहा है !

... ...

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ;
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम्
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ।

... ...

उधर वनस्पतियों का स्वामी
अस्त-शिखर पर जाता है,
इधर अरुण के संग सूर्य लो
उदय-शिखर पर आता है ।

एक साथ ही दो तेजस्वी
चढ़ते—गिरते जाते हैं,
समयचक्र की गतिविधि मानो
जग को स्पष्ट बताते हैं ।

—शाकुन्तल (पद्यानुवादक श्री अनिरुद्ध)

(१)

महताबराय और स्वरूपचन्द के मारे जाने पर, पहले के ज्येष्ठ पुत्र खुशालचन्द को जगत्सेठ की और दूसरे के ज्येष्ठ पुत्र उद्वंतचंद को महाराज की पदवी प्राप्त हुई। खुशालचन्द के सगे भाई थे गुलाबचन्द, सुमेरचन्द और सुखालचन्द; उद्वंतचन्द के अभयचन्द और मेहरचन्द। परंपरानुसार, ये सब के सब सेठ कहाने लगे।

और भाई तो कैद होकर मुंगेर जाने से बच गये थे, पर गुलाबचन्द और मेहरचन्द को जाना पड़ा था। मीर कासिम ने इनकी जान तो नहीं ली पर दोनों भाई शाह आलम के पंजे में फंस गये और इनके बाप-चचा इनकी रिहाई के लिए मीर जाफर से सिफारिश कराने लगे। शुजाउद्दौला ने बहैसियत वजीर उसे लिखा कि "सेठों के लड़कों की रिहाई के सम्बन्ध में आपने जो अनुरोध किया है उसे मैंने बादशाह सलामत तक पहुँचा दिया है। राजा बेनी बहादुर शीघ्र ही दरबार में उपस्थित होकर उन्हें इसकी याद दिलायेंगे और सारी बातें तै-तमाम होते ही आपको इसकी सूचना भेज देंगे।" वास्तव में शाह आलम को सोने की चिड़िया हाथ लग गई थी और वैसे सम्राट् से यह आशा करना व्यर्थ था कि वह उदारतापूर्वक ही पिंजरा खोल देने की इजाजत देगा। दोनों की रिहाई हुई तो खुशालचन्द के कीमत चुका देने अर्थात् बादशाह का मुंह मोतियों से भर देने पर। तब तक गुलाबचन्द और मेहरचन्द जहां-तहां शाह आलम की छावनी में दस-बारह महीने नजरबन्द रह चुके थे।

१६ अक्टूबर १७६४ को जगत्सेठ खुशालचन्द और सेठ

उद्वंतचन्द का एक खत कलकत्ते पहुंचा जिसमें उन्होंने गवर्नर को लिखा था:—

"कुछ दिन पहले हम आपको दो और पत्र भेज चुके हैं। दूसरा पत्र हमने अपनी भेंट के साथ भेजा था और आपको यह सूचित किया था कि हमारे भाई सेठ गुलाबचन्द और बाबू मेहरचन्द यहां पहुंच गये हैं। आपको दोनों पत्र मिल गये होंगे। हमारा दुर्भाग्य है कि आपका कोई उत्तर नहीं मिला है। बहुत कष्ट झेलने के बाद हमारे भाइयों की रिहाई हो गई और दोनों सकुशल घर पहुंच गये। हम सब ने आपको धन्यवाद दिया और यह मनाया कि आप फूलें-फलें और दीर्घायु हों। जो कुछ हम भेज चुके हैं उसे स्वीकार कर आप हमें कृतार्थ करेंगे।"

मीर जाफर को सूबेदारी मिलते ही क्लाइव उसे इंगलैण्ड से बधाइयां भेज चुका था। उसने लिखा था:—

"मेरी हार्दिक इच्छा थी कि आप ही सिंहासन को सुशोभित करें और जब वह पूरी हो गई तब मैंने पहला काम यह किया कि ईश्वर को धन्यवाद दिया और बाढ़ दाग कर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। बंगाल फिर आपकी छत्रच्छाया में आ गया है, प्रजा को मीर कासिम जैसे अत्याचारी से छुटकारा मिल गया है और सर्वत्र शान्ति हो चली है।"

वह शान्ति प्रजा के नीरव क्रन्दन का ही दूसरा नाम थी। मीर जाफर के फिर नवाब होते ही कंपनी का पाया और भी मजबूत हो गया था और अंगरेज मनमानी रीति से निःशुल्क व्यापार तथा अत्याचार करने लगे थे।

सितम्बर १७६४ में ही मीर जाफर को "बार बार निमंत्रण आने पर" कलकत्ते जाना पड़ा। वहां कौंसिल ने आतिथ्य-सत्कार[1] पर ३४९८ रुपये ही खर्च कर उससे लाखों रुपये देने का वादा करा लिया।

मीर जाफर कंपनी को क्षतिपूर्ति के रूप में ३० लाख रुपये देना स्वीकार कर चुका था। उसने अंगरेज व्यापारियों की भी क्षति-पूर्ति करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली थी।

सैनिक व्यय के लिए कंपनी को बर्दवान, मेदिनीपुर और चटगांव मीर कासिम से मिल चुके थे। इन चकलों या जिलों से होने वाली आय प्रायः ५० लाख रुपये थी। पर कंपनी की ओर से कहा गया कि वह शुजाउद्दौला के आक्रमण जैसी असाधारण परिस्थिति में पर्याप्त नहीं हो सकती थी—इस अतिरिक्त व्यय के लिए मीर जाफर को स्वीकार करना पड़ा कि "जब तक वजीर (शुजाउद्दौला) से लड़ाई बनी रहेगी तब तक मैं ३१ जुलाई १७६४ से आरंभ कर कंपनी को ५ लाख रुपये प्रति मास देता रहूँगा।" मीर जाफर के मर जाने पर उसके उत्तराधिकारी को भी यही प्रतिज्ञा करनी पड़ी।

इस अतिरिक्त आय के अलावा कंपनी को, कंपनी के अधि-कारियों को और अंगरेज व्यापारियों* को क्षतिपूर्ति या पुरस्कार के रूप में मीर जाफर से मिलने वाली सारी रकम प्रायः १ करोड़ २७ लाख रुपये थी।

---

* जहां एक ही अंगरेज अधिकारी और व्यापारी दोनों होता था, वहां अधिकारी की हैसियत से वह इनाम-इकराम या नजराना तो पाता ही, व्यापारी की हैसियत से वह अपना नुकसान भी पूरा करा लेता था।

मीर जाफर ने नन्दकुमार को अपना दीवान बनाया—उसी नन्दकुमार को जो चन्दननगर पर चढ़ाई के समय अंगरेजों के काम आ चुका था। पलासी के युद्ध के बाद वह क्लाइव का मुंशी और दीवान[२] हुआ था और क्लाइव की कृपा से उसकी पदोन्नति भी हुई थी। जिस समय वारेन हेस्टिंग्स मुर्शिदाबाद में कंपनी का प्रधान नियुक्त हुआ था, उस समय नन्दकुमार उन जिलों का तहसीलदार था जहां के जमींदारों से माल वसूल करने का अधिकार मीर जाफर द्वारा कम्पनी को मिल चुका था। तभी से हेस्टिंग्स और नन्दकुमार के बीच वह अनबन शुरू हुई थी जिसके कारण नन्दकुमार को एक दिन फांसी चढ़ना पड़ा। हेस्टिंग्स और वान्सीटार्ट एक ही दल के थे, इस लिए गवर्नर के सद्भाव का भी नन्दकुमार को सहारा न रह सका। उधर मीर कासिम के नाजिम हो जाने पर तो वह न घर का रहा, न घाट का। पर दुर्दिन में भी वह मीर जाफर का शुभचिन्तक बना रहा। १७६३ की क्रान्ति के बाद उसके अपने दिन भी फिरे बिना न रह सके। मीर जाफर के जोर लगाने पर कौंसिल ने उसकी बात मान ली और नन्दकुमार उसका दीवान हो गया। शाह आलम से उसे महाराज का खिताब भी मिल गया।

मीर जाफर २४ जुलाई १७६३ को दूसरी बार मसनद पर बैठा था। ५ फरवरी १७६५ को उसकी मृत्यु हुई। वान्सीटार्ट तब तक विदा हो चुका था और कौंसिल के प्रेसिडेण्ट का काम स्पेंसर नामक एक अधिकारी बम्बई से कलकत्ते जा कर करने लगा था।

(२)

मीरन के एक ६ साल का बेटा था और बहुतों की दृष्टि में

नाबालिग होते हुए भी वही मीर जाफर का उत्तराधिकारी हो सकता था। पर मरते समय शायद मीर जाफर यह इच्छा प्रकट कर गया था कि मीरन का सौतेला भाई नज्मुद्दौला ही उसका उत्तराधिकारी हो, और उसके मरते ही यह मसनद पर जा बैठा। पर मसनद पर जा बैठना एक बात थी और कौंसिल की स्वीकृति प्राप्त कर लेना और बात। वह स्वीकृति भी उसे मिल गई। उससे संधि करने के लिए एक प्रतिनिधि-मंडल मुर्शिदाबाद भेजा गया और नज्मुद्दौला के सामने उसने जो मसौदा रख दिया उस पर अनिच्छुक होते हुए भी उसे दस्तखत कर देने पड़े।

इस प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य थे मि० जान्स्टन, मि० सीनियर, मि० मिड्ल्टन और मि० लेस्टर। इन लोगों ने २५ फरवरी को ही कौंसिल को लिखा कि, "नवाब ने मसौदे को चार बार पढ़ा—पुराने संधि-पत्र से इसका मिलान किया—फिर सोच-समझकर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी।" पर नवाब ने सेलेक्ट कमिटी को इस सम्बन्ध में और ही कुछ लिखकर यथार्थ बात उसे बता दी।

उसके पत्र का सारांश यह था—"मेरा विश्वास था कि मि० जान्स्टन, मि० सीनियर आदि मुझसे सहानुभूति दिखायेंगे, मुझे सान्त्वना देंगे। लेकिन वे तो मिलते ही और ही बातें करने लगे—मातमपुर्सी के बजाय और ही प्रसंग छेड़ बैठे। कहा कि ढाके से मुहम्मद रजा खां को बुलवाइए और जब तक वह आ न जायं दीवानखाने में न बैठिए। मैंने उन्हें यह आपत्ति-जनक बताया और पिता जी का लिखित आदेश भी दिखाया। पर उन्होंने यही कहा कि उसका अब कोई मूल्य न रहा, अब तो आपको हमारी बात माननी होगी। फिर उन्होंने मेरे सामने एक कागज निकाल कर

रख दिया और बोले कि इस पर दस्तखत कीजिए। मजमून पढ़ने के लिए मैंने नन्दकुमार को बुलवाया तो मि० जान्स्टन और मि० लेस्टर के तलवों से आग लग गई। मेरे मुंशी ने पिछले संधि-पत्र से मिला लेने की सलाह दी तो मि० जान्स्टन ने उसे दरबार से ही निकलवा दिया। मैंने फौरन कागज पर दस्तखत कर दिये और वे उसे ले कर चले गये।

"इसके बाद मुहम्मद रजा खां आ गये और नायब* बन बैठे। आते ही उन्होंने यह काम किया कि मुझसे पूछे बिना ही नकद और सामान मिलाकर २० लाख से ऊपर की मालियत लुटा दी—जिसे जो मन में आया दे डाला। अब मि० जान्स्टन उनके संरक्षक बन गये हैं, मि० लेस्टर उनके वकील और राजा दुर्लभराम उनके साझेदार। हर मुंशी से उन्होंने मुचलका ले लिया है और मेरी मोहर को अपने ही पास रखने लगे हैं। अपनी मरजी से लोगों को नौकरी, खिताब, खिलअत या हाथी-घोड़े दे डालते हैं—जवाहरात लुटा देने के लिए भी मेरी इजाजत लेना जरूरी नहीं समझते।"

जनवरी में ही कंपनी के संचालकों का यह आदेश आ गया था कि कोई भी अधिकारी किसी भी नवाब या राजा से, बिना उनकी इजाजत के चार हजार रुपये से अधिक पुरस्कार या नजराना हर्गिज न ले। पर कौंसिल ने उनके पत्र को रद्दी की टोकरी में डालकर

---

* मुहम्मद रजा खां की नियुक्ति की बात संभवतः पहले से ही चल रही थी और मीर जाफर ने इसका इस कारण विरोध किया था कि रजा खां ईमानदार न था—ढाके में वह प्रायः बीस लाख रुपये हजम कर चुका था और मांगने पर कुछ भी देने को तैयार न था। हां, अँगरेजों से उसकी गहरी छनने लगी थी।

नज्मुद्दौला से—या नायब सूबा मुहम्मद रजा खां से—लाखों रुपये ले लिये थे। मीरन के बेटे को गद्दी न देने का प्रधान कारण यह हुआ था कि उस हालत में नाबालिग नाजिम की ओर से सारा प्रबन्ध कंपनी को स्वयं करना पड़ता, जिसका अर्थ यह होता कि कौंसिल किसी से इस प्रकार अपनी मुट्ठी गरम न करा सकती।

मई में क्लाइव कलकत्ते पहुंचा। कंपनी के हित की दृष्टि से वह मीर जाफर के नाबालिग पोते का ही पक्षपाती था, पर नज्मुद्दौला गद्दी पर बैठ चुका था, कौंसिल ने उसे नाजिम स्वीकार कर लिया था, उस स्वीकृति की कीमत मेंबरों ने चुकवा ली थी—इन सब बातों को देखते हुए उसे तखता उलट देना युक्तिसंगत न जंचा। फिर नज्मुद्दौला से नुकसान ही क्या था? कंपनी के लिए बालिग बेटा भी नाबालिग पोते के ही समान था और आखिर जिन अंगरेजों ने बहती गंगा में हाथ धो लिये थे उन्होंने उसके पदानुसरण को छोड़ और क्या किया था?

हां, क्लाइव ने इतना जरूर किया कि कलकत्ते पहुंचते ही उसने संचालकों के नये आदेश के पालन की सब से स्वीकृति करा ली और किसको कितना मिला था—कैसे मिला था—इन बातों की जांच भी शुरू कर दी।

भंडाफोड़ होने पर मालूम हुआ कि जवाहरात के अलावा कौंसिल के मेम्बरों को इतना नकद मिल चुका था:—

	रुपया
मि० स्पेंसर	२१०,०००
मि० प्लेडेल	१०५,०००

मि० सीनिअर	१८०,०००
मि० मिड्ल्टन	१२८,६००
मि० लेस्टर	१२८,६००
मि० बर्डेट	१०५,०००
मि० ग्रे	१०५,०००
मि० जे० जान्स्टन	२५०,०००
मि० जी ,,	५२,५००
	१,२६४,७०० रुपये

क्लाइव के पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि मि० जे० जान्स्टन के दबाव डालने पर ही यह रकम रिश्वत के तौर पर विभिन्न सदस्यों को दी गई थी। यह भी मालूम हुआ कि नकद रुपये का एक अंश जगत्सेठ से जबरन वसूल किया गया था।

५ जून को क्लाइव ने खुशालचन्द को कमिटी के सदस्यों के सामने बुलवा कर उनका बयान लिया। उन्होंने कहा कि :—

"जब मि० जान्स्टन और कौंसिल के दूसरे सदस्य मुर्शिदाबाद पहुंचे, तब उन्होंने हुगली के आमिल मोतीराम से कहलाया कि 'हम लोग नवाब की ओर से नयी व्यवस्था करने आये हैं; अगर आपने हम लोगों का मुंह मीठा कर दिया तो हम आपके लाभ का भी ध्यान रखेंगे, वर्ना आपको हानि ही हानि उठानी पड़ेगी। आप पहले लार्ड क्लाइव और दूसरे सदस्यों की ऐसी भेंट कर चुके हैं। अगर आपने हमें भी संतुष्ट कर दिया तो हम आपके हितचिन्तक बने रहेंगे और आपकी अभीष्टसिद्धि होती रहेगी। पर हमें निराश होना पड़ा तो आपको हमसे किसी प्रकार की सहायता न मिल

सकेगी।' इस पर मैंने कहा कि लार्ड क्लाइव ने तो हमसे न कभी कुछ मांगा न हमने उन्हें कुछ भी दिया। उन्होंने कहलाया कि 'आपको बात मालूम न होगी पर आपके बाप और चचा ने दिया था। अगर आप कारबार करना चाहते हैं तो हमें खुशी खुशी पांच लाख रुपये दे दीजिए।' लाचार मैंने सवा लाख रुपया देना स्वीकार कर लिया—पचास हजार तो नकद और बाकी मुफस्सल में अपना पावना वसूल हो जाने पर। उन्हें यह बात मंजूर हुई और मैंने मोतीराम और अपने मुत्सद्दियों की मार्फत ५० हजार रुपया भेज दिया। मि० जान्स्टन और उनके साथियों के कलकत्ते लौटने से पहले मेरा पावना वसूल न हो सका। इसी बीच लार्ड क्लाइव यहां आ गये और मैं यहां उनसे मिलने आया तो मुझसे पूछताछ की गई। मुझे जो कुछ मालूम था, मैंने बता दिया। अपने इस बयान में एक भी लफ्ज झूठ नहीं कहा है।"

जब लार्ड क्लाइव ने खुशालचन्द से कहा कि 'मैं आशा करता हूं कि आपने कोई भी बात घटा-बढ़ा कर नहीं कही होगी' तो उन्होंने बेधड़क यह जवाब दिया कि 'इस कागज की कीमत एक करोड़ रुपये से कम नहीं हो सकती।'

७ और ८ जून को मोतीराम का इजहार हुआ। वह इस प्रकार था :—

प्रश्न—तुमने जगत्सेठ के पास जाकर उनसे रुपया मांगा?

उत्तर—हां, मैंने मांगा।

प्रश्न—तुम्हें उनके पास किसने भेजा?

उत्तर—मुहम्मद रजा खां ने मुझे इस्माइल अली खां के साथ जगत्सेठ के पास भेजा।

प्रश्न—तुम्हें मुहम्मद रजा खां के पास किसने भेजा?

उत्तर—मि० जान्स्टन ने।

प्रश्न—मि० जान्स्टन ने तुमसे मुहम्मद रजा खां को क्या कहलाया?

उत्तर—उन्होंने कहा कि रजा खां से जाकर कहो कि हम सेठों से इतना रुपया चाहते हैं।

प्रश्न—यह संदेसा मि० जान्स्टन ने ही भेजा या और किसी सदस्य ने भी ?

उत्तर—मुझे तो जो कुछ कहा मि० जान्स्टन ने ही।

प्रश्न—मि० जान्स्टन ने यह संदेसा अपनी ही ओर से भेजा या औरों की ओर से भी ?

उत्तर—उन्होंने अपनी ओर से और मि० सीनियर, मि० लेस्टर, मि० मिड्ल्टन की ओर से भेजा।

प्रश्न—हां, तो मुहम्मद रजा खां से क्या बातें हुईं ?

उत्तर—मैंने उन्हें तीन लाख मांग कर देने को कहा।

प्रश्न—तुम मुहम्मद रजा खां के पास कब गये थे ?

उत्तर—मुझे पहला दिन याद नहीं, हाँ, बात तै होने में बीस दिन लगे थे।

प्रश्न—एक दिन इधर या उधर तो बता ही सकते हो?

उत्तर—मैं कह नहीं सकता, पर बात २१ रमजान के करीब की है।

प्रश्न—मुहम्मद रजा खां ने क्या जवाब दिया ?

उत्तर—उन्होंने कहा कि मैं जो कुछ कर सकता हूँ करूंगा, पर सेठों से रुपया लेना मुनासिब न होगा। इससे मेरी बदनामी हुए बिना न रहेगी।

प्रश्न—जगत्सेठ का बयान सही है या नहीं ?

उत्तर—है।

प्रश्न—सेठों से रुपया न मिलने पर उनका कारबार बन्द हो जाने के बारे में तुमने कुछ कहा था ?

उत्तर—हां, मैंने यह जरूर कहा था कि अगर सेठों ने कौंसिल के मेम्बरों की मांग पूरी कर दी तो वे उनके मददगार बने रहेंगे। अगर उन्होंने रुपया न दिया तो कौंसिल का रुख बदले बिना न रहेगा।

प्रश्न—तुम्हारा कहना है कि इस्माइल अली खां तुम्हारे साथ सेठों के पास भेजा गया था। वहां क्या बातें हुईं ?

उत्तर—जब इस्माइल अली खां ने ३ लाख रुपया मांगा तो जगत्सेठ ने कहा कि अगर १० से १५ हजार तक की अंगूठी या और कोई ऐसी ही चीज माँगते तो मैं उनकी मांग पूरी कर देता। इस्माइल अली ने कहा कि यह तो हर्गिज मंजूर नहीं हो सकता। इस पर जगत्सेठ ५० हजार देने को राजी हो गये, पर इस्माइल अली खां को वह भी मंजूर न हुआ। अन्त में जगत्सेठ ने कहा कि मैं खुद मुहम्मद रजा खां से मिल कर बातें कर लूंगा।

प्रश्न—दोनों की बातचीत के समय वहां और कौन था?

उत्तर—मैं था, पर मैंने उसमें कोई भाग नहीं लिया।

प्रश्न—तुम्हें मालूम है कि उनके बीच क्या तै हुआ?

उत्तर—हां, मैंने सुना कि जगत्सेठ पहले ७५,००० रुपये देने को तैयार हुए। फिर वह लाख पर पहुंचे और अन्त में सवा लाख पर। मुझे यह बात मुहम्मद रजा खां से मालूम हुई।

जगत्सेठ वहीं उपस्थित थे। उनसे पूछा गया कि आपके और मोतीराम के बीच जो बातें हुईं उनकी सूचना आपने किसी को दी? उन्होंने उत्तर दिया कि हां, मैंने सब कुछ अपने भाई को, अपने मुंशी भृगुलाल को और अपने वकील चिस्कीमल को जा सुनाया।

प्रश्न—(मोतीराम से) तुमने सेठों से जो कुछ मांगा वह अपनी ओर से या कौंसिल के मेम्बरों की ओर से?

उत्तर—मैंने जो कुछ मांगा मेम्बरों की ही ओर से, खास कर उनकी ओर से जो मुझे भेज चुके थे।

प्रश्न—क्या यह सच है कि जगत्सेठ के यहां से रुपया आते ही मुहम्मद रजा खां ने उसे मि० जान्स्टन के पास मोतीझील भेज दिया और जब मि० जान्स्टन ने सारी बात सुनी तब उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की?

उत्तर—यह सच है कि मुहम्मद रजा खां ने रुपया मोतीझील भेज दिया और मि० जान्स्टन ने यह कह कर नाराजगी जाहिर की कि 'यह रकम इस प्रकार क्यों भेजी गई? यह या तो मोतीराम की मार्फत भेज दी जाती या चुपचाप मुझे दे दी जाती।'

प्रश्न—जगत्सेठ का बयान है कि तुम उनके पास तीन बार

गये—पहली बार जब वह अकेले थे, दूसरी बार जब इस्माइल अली खां मौजूद था और तीसरी बार जब वह अपने भाई के साथ थे। यह सच है ?

उत्तर—हां, मैं उनके पास तीन बार गया ।

प्रश्न—कभी उस रुपये के बारे में भी बात हुई ?

उत्तर—हुई। जब मैं पहली बार गया था, तब उन्होंने ७५ हजार देना स्वीकार किया था, पर मुझसे कहा था कि कौंसिल के मेम्बरों को समझा देना कि हमारी आर्थिक अवस्था ऐसी है कि इससे अधिक हम दे ही नहीं सकते । मैंने वादा किया कि मेम्बरों को बात समझा दूंगा ।

प्रश्न—मुहम्मद रजा खां से तुमने कहा कि अगर सेठ मांग पूरी कर देंगे तो उनका व्यवसाय सुरक्षित रहेगा, नहीं तो उनकी ओर कौंसिल का रुख अच्छा न रहेगा। यह बात तुमने अपने मन से कही या किसी के कहने पर ?

उत्तर—मि० जान्स्टन के कहने पर।

प्रश्न—तुमने यहां जो बयान किया है वह सच्चा तो है ?

उत्तर—बिलकुल सच्चा । शुरू में मैं घबराया हुआ था, इसलिए मुमकिन है कि कहीं कोई गलती हो गई हो।

१८ जून को मोतीराम को पूरी कौंसिल के सामने उपस्थित होना पड़ा। सेलेक्ट कमिटी के सामने वह जो इजहार कर चुका था वह उसे पढ़ कर सुना दिया गया। उसने निम्नलिखित संशोधनों के साथ उसे स्वीकार कर लिया:—

पहले प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि वह मुहम्मद रजा खां

के हुक्म से इस्माइल अली खां के साथ जगत्‌सेठ के यहां गया था, पर रुपया मांगने के लिए नहीं।

प्रश्न किया गया—रुपया न मिलने पर, सेठों का कारबार न चल सकेगा—यह तुमने मुहम्मद रजा खां से कहा या नहीं ?

इसका उसने वही उत्तर दिया जो सेलेक्ट कमिटी के सामने दे चुका था। इतना उसने जरूर कहा कि सेलेक्ट कमिटी ने उसके अपने शब्दों को न लिख कर उनका भावार्थ-मात्र लिख लिया था।

एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में उसने मुकर कर कहा:—

"जब हम दोनों जगत्‌सेठ के पास गये थे तब उन्होंने अंगूठी या वैसी और कोई चीज देने की बात नहीं कही थी—सिर्फ इतना कहा था कि अगर बीस-पच्चीस हजार रुपये की बात होती तो मैं उसे पूरा कर देता। जब इस्माइल अली खां ने इसे अस्वीकार कर दिया तब उन्होंने कहा कि मैं मुहम्मद रजा खां से खुद मिल कर बातें कर लूंगा। जब वह रजा खां से मिले तब उन्होंने पचास हजार देना स्वीकार किया।"

"मुहम्मद रजा खां से तुमने जो कहा कि अगर सेठों ने मांग पूरी कर दी तो उनके कारबार को कभी नुकसान न पहुंचेगा, नहीं तो कौंसिल का रुख फिरे बिना न रहेगा—यह बात तुमने अपनी ओर से कही या किसी के कहने पर" ?

इसका उत्तर उसने वही दिया जो कमिटी के सामने दे चुका था।

यहीं उसकी जिरह समाप्त हुई।

इसके बाद लेस्टर ने कहा कि गवाह से यह पूछा जाय कि "जब मि० जान्स्टन ने तुमसे कहा कि सेठों से हमें नजर मिलनी चाहिए

तब क्या उन्होंने यह भी कहा कि तुम जाकर मुहम्मद रजा खां से कहो कि वह इस बात को सेठों तक पहुंचा दें ?"

इस सवाल के जवाब में मोतीराम ने कहा कि हां, मि० जान्स्टन ने मुझसे जो कुछ कहा वह मुहम्मद रजा खां के सामने दोहराने के लिए ही।

इस पर लेस्टर ने अपनी सफाई में शपथ ग्रहण कर यह बयान किया कि "मोतीराम सेठों के पास जो संदेसा ले गया उसके विषय में मैं कुछ भी नहीं जानता।"

इस मामले की पूरी जांच कर लेने पर सेलेक्ट कमिटी इस निर्णय पर पहुंची कि :—

१—सेठों को डरा-धमका कर उनसे सवा लाख रुपया ले लिया गया था।

२—नवाब और मुहम्मद रजा खां से सरकार की कमजोरी और नायब के डरपोकपन से फायदा उठा कर उनसे नकद और ज़िंस मिला कर, १,७००,००० रुपये से भी अधिक ऐंठ लिया गया था।

कई साल बाद पार्लमेंट-द्वारा इस सम्बन्ध में फिर जांच होने पर कुछ लोगों ने यह बयान किया कि नायब और मुहम्मद रजा खां ने जो कुछ दिया था वह अपनी इच्छा से और बिना किसी तरह के बाहरी दबाव के ही। पर जगत्सेठ से मिलने वाली रकम के बारे में किसी से यह कहते न बन पड़ा। जेनरल कारनक ने वहां अपने बयान में कहा कि "सेठों की आदत किसी को भेंट या नजर देने की न थी। उसे एक भी ऐसा अवसर याद न था जब कि उन्होंने इस रूप में किसी को कुछ दिया हो। जिस समय लेस्टर आदि को उन्हें

यह नजराना देना पड़ा था उस समय वह मुर्शिदाबाद में ही था। जगत्सेठ ने उससे पूछा था कि लेस्टर ने रकम लौटा दी है, मुझे इस हालत में क्या करना चाहिए? कारनक ने उन्हें सलाह दी थी कि अगर आपने वह रकम अपनी खुशी से ही दी हो तो अब उसे वापिस नहीं लेना चाहिए, पर अगर बात और हो तो ले लेना चाहिए। जगत्सेठ ने लौटाई हुई रकम को रख लिया। फिर उन्होंने कारनक से कहा कि मालूम नहीं और मेम्बर क्या करने वाले हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जगत्सेठ से जो कुछ लिया गया था, आंखें तरेर कर ही*।"

पर दोषी अंगरेज थे—सो भी पदाधिकारी—इसलिए सेलेक्ट कमिटी ने यह कह कर सारी बातों पर चौका लगा दिया कि मोतीराम ने जो धमकी दी थी उससे मि० सीनियर, मि० मिड्ल्टन और मि० लेस्टर का तो कोई सरोकार ही नहीं था और मि० जान्स्टन ने नजराना लिया और उसका बंटवारा किया भी तो वह यह मान लेने को तैयार थी कि मोतीराम ने मुहम्मद रजा खां या सेठों तक जिस भ्रूभंग के साथ संदेसा पहुंचाया उसकी जान्स्टन को जानकारी न थी।

यों न्यायालय में विचार का अभिनय समाप्त हुआ और अन्याय प्रमाणित हो जाने पर भी किसी अंगरेज का बाल बांका न हुआ।

क्लाइव का मत था कि बंगाल में कंपनी को सेना और धन-संबंधी सारा अधिकार अपने हाथ में कर लेना चाहिए, नहीं तो

---

* मि० लिट्ल।

कासिम जैसा सांप उसे कभी न कभी फिर डसे बिना न रहेगा। नाजिम के दोनों जहरीले दांतों को तोड़ देने के विचार से वह २५ जून को ही मुर्शिदाबाद गया और अनायास ही अभीष्टसिद्धि कर नज्मुद्दौला को और भी निर्जीव कर दिया। उसकी स्वीकृति से अब यह तै हुआ कि :—

(१) शत्रुओं से बंगाल-बिहार को सुरक्षित रखना कंपनी का काम होगा और इसके लिए आवश्यक सेना भी वही रख सकेगी*।

(२) माल उगाहने और उसके सम्बन्ध में सारी व्यवस्था करने का अधिकार कंपनी को ही होगा।

(३) नवाब को कंपनी हर साल प्राय: ५३ लाख† दिया करेगी। बाकी आय या व्यय से उसे कोई सरोकार न होगा।

(४) इस ५३ लाख रुपये से नवाब को अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी जिसमें दरबार और निजामत (न्याय विभाग) का सारा खर्च शामिल समझा जायगा।

(५) नवाब के जिम्मे कंपनी का जो कुछ पावना था उसकी या कर के रूप में उसे बादशाह को जो कुछ देना होगा उसकी अदायगी की उस पर कोई जिम्मेदारी न रहेगी।

---

* जो संधि कौंसिल कर चुकी थी उसकी भी एक शर्त यह थी कि मैं (नज्मुद्दौला) कंपनी की सेना को अपनी ही सेना समझता हूँ और स्वीकार करता हूँ कि माल की वसूली और सरकार के या अपने ठाटबाट की दृष्टि से जितने सैनिक आवश्यक होंगे मैं उतने ही रखूंगा।

† ५,३८६,१३१॥-) जिसमें १,७७८,८५४-) तो नवाब के अपने खर्च के लिए था बाकी ३,६०७,२७७॥) निजामत और दरबार के खर्च के लिए। इस सरकारी खर्च पर भी नवाब का कोई अधिकार न रहा।

सारा प्रबन्ध खुद करने के लिए कम्पनी अभी तैयार न थी, इसलिए क्लाइव ने व्यवस्था यह की कि :—

(१) सैयद मुहम्मद रजा खां बहादुर नायब, महाराज दुर्लभ-राम दीवान और जगत्सेठ प्रबंधकारिणी समिति के सदस्य होंगे।

(२) फौजदार, आमिल तथा अन्य अधिकारी इसी समिति के अनुशासन में रहेंगे और इसके अलावा भी सारा राजकाज इसी के कहे अनुसार होगा। जो कुछ यह कर देगी वह नवाब को मंजूर होगा।

(३) अगर कहीं प्रजा के साथ अन्याय या अत्याचार होगा और समिति इसे न रोक सकेगी तो गवर्नर को इसकी सूचना शीघ्रातिशीघ्र भेज दी जायगी।

(४) आवश्यक व्यय करने के बाद जो कुछ बचत रहेगी उसे खजाने में जमा कर देना होगा। उसके दरवाजे में तीन तरह के तीन ताले लगेंगे और प्रत्येक सदस्य अपने पास एक चाबी रखेगा।

(५) अगर तीनों में कोई भी बाकी दो की राय के खिलाफ कुछ भी करेगा तो उन दोनों को गवर्नर के पास इसकी सूचना भेज देनी होगी।

(६) वसूली के लिए जितने पैदल या घुड़सवार समिति की दृष्टि में आवश्यक होंगे उतने ही रखे जा सकेंगे और समिति का इस ओर बराबर ध्यान रहेगा कि कहीं भी फजूलखर्ची न हो।

(७) कोई भी सदस्य बिना दूसरों को जताये दरबार में अकेला न जा सकेगा। सब का कर्तव्य होगा कि मिल जुल कर काम करें और एक दूसरे को हानि न पहुंचावें।

(८) समिति इस बात का भी ध्यान रखेगी कि दरबार में ऐसे लोग न रहने पावें जो लगाने-बुझाने वाले या धोखेबाज हों या जिनसे किसी प्रकार के भी अनिष्ट की आशंका हो।

(९) कम्पनी और नवाब के बीच मैत्री बराबर बनी रहे--राजकाज के बारे में कोई शिकायत न हो--कम्पनी को रुपये-पैसे की कोई जोखिम न उठानी पड़े--इन बातों की देखरेख के लिए राजधानी में उसकी ओर से एक रेजिडेंट रहेगा। वह हर महीने यह हिसाब समझ लेगा कि कितनी आय हुई और कितना व्यय हुआ। पद-प्रतिष्ठा के अनुसार उसका जो वेतन नियत होगा वह उसे निजामत से मिला करेगा।

इस समिति के सदस्यों में कोई महत्वाकांक्षी था तो दुर्लभराम। मुहम्मद रजा खां की भीरुता और जगत्सेठ की उदासीनता ने कंपनी को उनसे तो निश्शंक कर दिया था, पर उसने अपने रेजिडेंट मि० साइक्स को शुरू में ही दुर्लभराम से सावधान रहने और उसे अपनी निर्दिष्ट सीमा के बाहर पांव न पसारने देने का विशेष आदेश दे दिया था।

इन तीनों के बीच अधिकारों का विभाजन न होने पर भी, नियम या परिपाटी यह पड़ गई कि रजा खां तो माल की वसूली का काम देखने लगा और दुर्लभराम हिसाब-किताब रखने का। खुशालचंद खजांची बन गये और तीनों ताले प्रायः उन्हीं के हाथों खुलने या बन्द होने लगे। फिर भी राजकाज उनके लिए एक तरह का जंजाल था जिससे उनकी आन्तरिक इच्छा दूर ही रहने की प्रकट होने लगी। बात यह थी कि न तो वह स्वयं

फतहचंद थे, न अब शुजाउद्दौला खां या अलीवर्दी खां का जमाना ही रह गया था।

नज्मुद्दौला से क्लाइव ने जो जो अधिकार चाहा ले लिया और उसे नाम को ही नवाब नाजिम रहने दिया। अब उसका ध्यान इस ओर गया कि इस व्यवस्था को सम्राट् से भी स्वीकृत करा लिया जाय और उसकी सनद हासिल कर ली जाय।

बक्सर में मैदान मार लेने पर अंगरेजों ने शुजाउद्दौला का दूर तक पीछा किया और उसे अवध छोड़ कर भी भाग जाने को विवश कर दिया था। शाह आलम अब इलाहाबाद में उन्हीं के आश्रयी के रूप में रहने लगा था और उनके मांगने पर उन्हें काशी-नरेश बलवन्त सिंह से कर वसूल करने का अधिकार दे चुका था। शर्त यह हुई थी कि बनारस-गाजीपुर का इलाका छोड़कर शुजाउद्दौला का बाकी राज्य अंगरेज उसे दिला देंगे और उसके रक्षक बने रहेंगे। क्लाइव को यह समझौता कुछ आपत्तिजनक जंचा—कारण कि अवध में ऐसी उथल-पुथल कराने की दृष्टि से कंपनी की शक्ति पर्य्याप्त नहीं कही जा सकती थी और इस बात का निश्चय नहीं था कि आगे होने वाली सभी लड़ाइयां पलासी की ही लड़ाई के समान होंगी। इसलिए उसने शाह आलम और शुजाउद्दौला से ऐसी संधि कर ली जिसमें कंपनी का लाभ तो अधिक से अधिक था और जोखिम नहीं के बराबर थी।

१२ अगस्त १७६५ को शाह आलम ने फरमान द्वारा यह स्वीकार कर लिया कि—

(१) नज्मुद्दौला नवाब नाजिम तो रहेगा पर बंगाल, बिहार और उड़ीसा का दीवान न समझा जायगा।

(२) दीवानी का स्वत्व कंपनी को प्राप्त होगा।

(३) कंपनी उन प्रान्तों की ओर से शाह आलम को प्रतिवर्ष २६ लाख* रुपये देने या भेजने के लिए बाध्य रहेगी—पर इतना राजस्व और निजामत-संबंधी व्यय काट कर जो कुछ बचत होगी उसकी हकदार वही समझी जायगी।

दूसरी संधि शुजाउद्दौला के साथ १६ अगस्त को हुई। इसके अनुसार—

(१) कोड़ा के अलावा इलाहाबाद के कुछ हिस्से पर शाह आलम का खास कब्जा बना रहा।

(२) बलवन्त सिंह की स्थिति में किसी प्रकार का अन्तर न पड़ा और वह शुजाउद्दौला के ही अधीन बने रहे।

कंपनी को बंगाल-बिहार-उड़ीसा की दीवानी मिल जाने पर क्लाइव ने अपने मालिकों को लिखा:—

"इससे आपकी प्रभुता और प्रभाव में स्थायित्व आगया है—भविष्य में कोई नवाब नाजिम चाहे भी तो, सैनिक और आर्थिक शक्ति के अभाव के कारण, बल या छल से आपका राज्य नहीं छीन सकता। प्रभुत्व के विभाजन से यहां काम चलना असंभव है—सर्वेसर्वा हो कर या तो कंपनी रहे या नवाब। आप स्वयं विचार लें कि आप के हित की दृष्टि से दोनों में कौन सी बात वांछनीय है।

---

* "सम्राट् के पास पहुंचा देने के लिए कंपनी अपनी पटने की कोठी से राजा शिताबराय या सम्राट्-द्वारा मनोनीत अन्य व्यक्ति को प्रतिमास २१६,६६६॥≈)॥। दिला दिया करेगी और इसमें से किसी प्रकार का बट्टा या हुंडावन न काटा जायगा।"

"आप एक सम्पन्न राज्य के अधीश्वर बन गये हैं। बस यह समझ लेना चाहिए कि इसके दीवान ही नहीं, मालिक भी अब आप ही हैं।

"मीर जाफर, मीर कासिम, आरकट का नवाब मुहम्मद अली भी—मन ही मन या प्रकट रूप से अंगरेजों के द्वेषी रह चुके हैं। वर्तमान नवाब (नज्मुद्दौला) की चल सके तो संभव है कि वह भी उन्हीं का पदानुसरण करने लगे।

"हिन्दुस्तान के नवाब या राजा हमारे प्रति अनुरक्ति-भक्ति दिखा सकते हैं तो भयभीत रहने के कारण ही। आपका कर्त्तव्य है कि सेना और कोष—इन दो साधनों को अपने हाथ से कभी निकलने न दें।"

दीवानी मिल जाने पर क्लाइव ने जगत्सेठ को कंपनी का सराफ तो नियुक्त कर दिया, पर वह सराफी पद-प्रतिष्ठा की दृष्टि से मूल्यवान् होते हुए भी, लाभ की दृष्टि से उनके लिए विशेष उपयोगी या महत्वपूर्ण वस्तु न थी।

इस नियुक्ति से पहले ही उनका घराना अघटित घटनाओं के षट्चक्र का अहेर बन कर क्षत-विक्षत हो चुका था और आरोही से अवरोही बन चुका था।

जून में ही खुशालचन्द और उनके भाई क्लाइव को लिख चुके थे—

"हम अपनी विपन्नता का वर्णन किन शब्दों में करें! क्रूरात्मा मीर कासिम ने हमारे पिता और पितृव्य के साथ जो दुर्व्यवहार किया—जिस नृशंसता से उन्हें मार डाला वह कल्पनातीत है।

जो धन-संपत्ति उनके साथ थी वह सब की सब उसने लूट ली। फिर हमारे भाई सेठ गुलाबचन्द और बाबू मेहरचन्द को उसने शाह आलम के मुत्सद्दियों के हवाले कर दिया। अरसे तक दोनों कैदी बने रहे और उन्हें तरह तरह की यंत्रणायें भोगनी पड़ीं। अन्त में अपनी रिहाई की ऊंची से ऊंची कीमत चुका देने पर वे घर आ सके; पर इसके लिये उन्हें कर्ज लेना पड़ा और अपने जवाहरात को बंधक रखना पड़ा। वह कर्ज हम अभी तक नहीं चुका पाये हैं। कुछ रुपया तो हमने जेवर-जवाहरात बेचकर या चांदी के बर्तनों के सिक्के ढाल कर अदा कर दिया है, पर बाकी कर्ज चुकाने में हमें बड़ी ही कठिनाई हो रही है।"

मौखिक सहानुभूति दिखाने या अधिक से अधिक उपकार उपर्युक्त नियुक्ति के रूप में करने के सिवाय क्लाइव उन्हें संकट से उबारने के लिए कुछ न कर सका। हां, कुछ समय बाद उसने उन्हें "लोभी" बता कर भला-बुरा अवश्य कहा और उन्हें इस बात की सूचना दे दी कि समय के परिवर्तन के कारण जहां अंगरेज बीती हुई बहुत सी बातों को बिसार चुके थे वहां उन्हें भी अतीत के आकाश से वर्तमान के धरातल पर उतर आना और अंगरेजों से प्रत्युपकार की आशा त्याग देना ही उचित था। २४ नवम्बर १७६५ को वह खुशालचन्द को लिखता है—

"आप तो इस बात से अनभिज्ञ नहीं कि मैं आप के पिता का और आप के परिवार-मात्र का कैसा शुभचिन्तक और सहायक रह चुका हूँ। और आप जानते ही हैं कि आरंभ से आज तक आप के प्रति मेरा कैसा सद्भाव रहा है। ऐसी अवस्था में मेरे लिए यह चिन्ताजनक हो रहा है कि अपनी साख बनाये रखने और समाज

के प्रति कर्तव्य का पालन करने के लिए आपको जिस मार्ग पर चलना चाहिए उसकी ओर आपका विशेष ध्यान नहीं है।

"यह निश्चित हुआ था कि सरकारी रुपया खजाने में ही रहा करेगा जिसके लिए तीन विभिन्न ताले होंगे। पर मैं देखता हूँ कि सारा रुपया आप के अपने घर पर ही रहने लगा है। फिर मुझे मालूम हुआ है कि जमींदारों से जो जमा मिल सकती है उससे कम पर ही आप गांवों के ठीके दे देने के पक्ष में अपनी सम्मति देने लगे हैं। मैंने यह भी सुना है कि जिन जमींदारों के जिम्मे आपकी कोठी का पुराना पावना है उन पर आप अदायगी के लिए दबाव डालने लगे हैं—हालांकि पांच महीनों से उन्होंने सरकारी माल अदा नहीं किया है। मुझे आपका यह काम कतई पसन्द नहीं और मैं आपको यह करने न दूंगा।

"आपका घराना इस समय भी काफी धनी है। पर आपका लोभ बढ़ता जा रहा है। मुझे डर है कि अपनी इस प्रवृत्ति को आपने न रोका तो आपको हानि उठानी पड़ेगी और आपकी निस्पृहता तथा लोक-हितैषिता के सम्बन्ध में मेरी जो धारणा थी वह समूल नष्ट हो जायगी।"

अप्रैल १७६६ में क्लाइव के मुर्शिदाबाद जाने पर खुशालचन्द ने उससे मुलाकात कर कहा कि सरकार के जिम्मे हमारी काफी बड़ी रकम गिरती है, कृपया हमारा हिसाब चुकता करा दें। क्लाइव ने कारनक, साइक्स आदि से सलाह कर कहा कि "आपकी कोठी ने जो कर्ज दिया था उसमें से ३० लाख तो मीर जाफर ने अपने कुछ सरदारों को देने के लिये लिया था जिसकी देनदारी सरकार को मंजूर नहीं हो सकती। पर २१ लाख उसने

अपने और कंपनी के सैनिकों का वेतन चुकाने के लिए लिया था। उसके हम देनदार हैं। आपको उसका आधा तो दस साल में नवाब से और आधा कंपनी से मिल जायगा।"

क्लाइव ने जो व्यवस्था की उसे स्वीकार करते हुए कंपनी के संचालकों ने कुछ समय बाद यह लिखा कि "जगत्सेठ-परिवार हमारे ही कारण बहुत विपन्न हो चुका है। इसलिए हमसे सहायता पाने और अपनी हित-रक्षा कराने का वह विशेष अधिकारी है।"

८ मई १७६६ को नज्मुद्दौला की "अचानक" अकाल-मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका छोटा भाई सैफुद्दौला नवाब बनाया गया।

(३)

यह मशहूर है कि "कमजोर की हांडी जो जबंदस्त ने देखी, दिल ने कहा—बे पूछे हुए खोल के खा ले।" बंगाल में पके हुए भात को, कंपनी के बड़े अधिकारियों ने भी लपक कर हप करना शुरू कर दिया। काई छुड़ाने का बीड़ा उठा कर जो क्लाइव इस बार कलकत्ते आया था और जिसने अनुशासन की बागडोर कड़ी कर वातावरण में 'सुधार' आरंभ कर दिया था—उसके अपने मुंह से भी लार टपके बिना न रह सकी और जहां मीर जाफर ने उसे कलकत्ते और चौबीस परगने का जागीरदार पहले ही बना दिया था वहां नज्मुद्दौला को और भी पंगु बना देने पर, वह अब अन्य अंगरेज कर्म्मचारियों के साझे में, नमक, सुपारी और तंबाकू की खरीद-बिक्री का इजारेदार भी बन बैठा।

इन तीनों वस्तुओं में प्रधानता नमक की थी और उसने कंपनी के संचालकों को यह समझाने की चेष्टा की थी कि नमक के व्यापार का अधिकार सरकार ने बराबर अपने लिए सुरक्षित रखा था---अब कंपनी ही सरकार बन गई थी, इसलिए वह यह अधिकार या इजारा जिसको चाहती दे सकती थी---उसके हित की दृष्टि से सब से अच्छी नीति यही हो सकती थी कि वह शुल्क ले कर यह व्यापार अपने ही कर्म्मचारियों को करने दे जो राजा और प्रजा दोनों के ही शुभचिन्तक कहे जा सकते थे और जो कभी अपने एकाधिकार का दुरुपयोग करने वाले न थे । यों क्लाइव और उसके साझेदारों की व्यापार-समिति ने इस धंधे को हथिया लिया और सुधार के नाम पर सस्ते से सस्ते दाम में माल खरीदने और ऊंचे से ऊंचे दाम में उसे बेचने लगी।

इसके हिस्सेदार तीन श्रेणियों में विभक्त थे जिनकी संख्या प्रायः ६० थी और जिनमें गवर्नर, सेनापति, कौंसिल के सदस्य, फौजी अफसर, सर्जन, पादरी, क्लर्क---सभी शामिल थे। सब से बड़ा हिस्सेदार स्वयं क्लाइव था जो निजी व्यापार से तोबा कर चुकने पर भी प्रायः दो लाख रुपये की पूंजी लगा कर औरों का पृष्ठपोषक और नेता बन चुका था।

सरकार को अर्थात् कंपनी को नमक पर ३५, सुपारी पर १० और तंबाकू पर २५ प्रतिशत शुल्क मिलने का नियम हुआ, पर कुछ ही समय बाद इसमें वृद्धि कर दी गई और कंपनी को नमक पर ३५ के बजाय ५० प्रतिशत मिलने लगा। पर जो रक्षक कहे जा सकते थे उन्हीं के भक्षक बन जाने के कारण कर-वृद्धि होते हुए भी उनके लाभ में विशेष कमी नहीं हुई। प्रायः २४ लाख रुपये की

पूंजी से कारबार शुरू किया गया था। उस पर पहले साल ही प्रायः २२ लाख का मुनाफा हुआ। दूसरे साल प्रायः १८ लाख का। वास्तव में यह व्यापार नहीं, वैध रूप से होने वाला अत्याचार था। उत्पादन करने वालों को यह अधिकार न होता कि ऊंचा दाम मिलने पर भी वे अपना माल दूसरों के हाथ बेच सकें। अगर किसी गांव से पूरी तादाद में माल न मिल सकता तो इसके लिए उसका जमींदार दोषी ठहराया जाता और उससे इजारेदार जुर्माना वसूल कर लेता। नमक के लिए यह जुर्माना ५) मन था जबकि नमक का अपना दाम २) मन था। और विभिन्न स्थानों में इस माल की बिक्री करने के लिए भी अंगरेज एजेंट या गुमाश्ते मुकर्रर हो गये और इन लोगों ने इजारेदार के लाभ की दृष्टि से जो कुछ जरूरी समझा करना शुरू कर दिया।

पर कंपनी के प्रधान अधिकारियों को इतने से ही संतोष न हो सका और वे अपने एकाधिकार के क्षेत्र को और भी विस्तृत करने लगे। कौंसिल के मेंबरों ने २५ लाख की पूंजी लगा कर सूरत और बंबई से आने वाली रुई के व्यापार को भी हथिया लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि बंगाल में जिस रुई का बाजार-भाव पहले १६) से १८) मन था वह अब २८) से ३०) मन हो चला। आधुनिक संयुक्त प्रान्त की ओर से आने वाली रुई सस्ती पड़ती थी। उस पर बिहार में आते ही ३० प्रतिशत के हिसाब से चुंगी वसूल की जाने लगी। समसामयिक अंगरेज व्यापारी बोल्ट्ज ने ऐसे ही एकाधिकार के और भी उदाहरण दिये हैं। राजनीतिक क्षेत्र में सर्वेसर्वा बन जाने पर कंपनी और उसके कर्म्मचारियों के लिए आर्थिक क्षेत्र में चाम के दाम चला देना

कठिन काम न था। जब बाजार में रुई की मांग नहीं होती तब बंबई और सूरत का माल मुहम्मद रजा खां के पास भेज दिया जाता—इस आदेश के साथ कि जैसे हो इसको जमींदारों के गले मढ़ दो और कीमत वसूल कर भेज दो। यह जोर-जुल्म यहां तक बढ़ा कि कारीगर कंपनी के कारखानों में काम करने की अपेक्षा भूखों मरना ही अच्छा समझने लगे। बोल्ट्ज ने लिखा है—"ऐसी मिसालें मौजूद हैं कि रेशम के कारीगर अपने अंगूठे काट कर घर बैठ गये हैं और कंपनी की गुलामी से अपने आपको बचा लिया है।"

नमक, सुपारी और तंबाकू का व्यापार हथिया लेने वालों ने अपने आपको यह लिख कर प्रतिज्ञाबद्ध कर लिया था कि अगर कंपनी के संचालक कभी ऐसा आदेश दें भी तो हम लोग एक हो कर उसका विरोध करेंगे और इस व्यापार से विरत न होंगे। जहां क्लाइव को अपनी जेब भरने की आशा होती थी वहां उसे सारा आदर्शवाद भूल जाता था और जो एक ओर अनुशासन की हिमायत करता वही दूसरी ओर स्वार्थ की वेदी पर उसका बलिदान कर बैठता था।

कंपनी के कर्मचारी अगर नमक के इजारेदार बन बैठे थे तो संचालकों की स्वीकृति से नहीं—बल्कि कहना चाहिए कि उनकी अनिच्छा या अस्वीकृति के बावजूद भी। फिर भी यह इजारा तीन साल से अधिक न चल सका। अन्त में सरकार स्वयं इजारेदार बन गई। पर अपने कर्म्मचारियों को संतुष्ट करने के लिए उसने उन्हें दीवानी से होने वाली अपनी आय पर २॥ प्रतिशत कमीशन के रूप में देना स्वीकार कर लिया।

क्लाइव इससे पहले ही अपने लिए यह व्यवस्था करा चुका

था कि कम से कम गवर्नर को व्यापार करने का कोई अधिकार न होगा, पर दीवानी की आय पर उसे कंपनी से १=) प्रतिशत कमीशन मिला करेगा। इसके फलस्वरूप जहां उसे नमक, सुपारी और तंबाकू के इजारे से पहले साल प्राय: १९०,०००) मुनाफे के रूप में मिला था वहां अब २७०,०००) से भी अधिक कमीशन के रूप में मिलने लगा।

संभव न था कि कंपनी क्लाइव को सदा के लिए कलकत्ते या चौबीस परगने का जागीरदार रहने देती, इसलिए मालिक और नौकर के बीच उस जागीर का विषय यहां तक विवादास्पद[3] बन गया कि क्लाइव को अदालत की शरण लेनी पड़ी। अन्त में दोनों के बीच यह समझौता हुआ कि १७६४ से दस * साल तक तो क्लाइव या उसके वारिस माल पाने के हकदार समझे जायंगे, पर उसके बाद वह सारी जमीन लाखिराज हो कर ही कंपनी के कब्जे में रहेगी । क्लाइव को इस जागीर से हर साल प्राय: पौने तीन लाख की आय होने लगी।

'फोर्ट विलियम' के गवर्नर का वेतन किसी समय कुल ३०० पौंड सालाना था । पर इधर उस वेतन में इतनी वृद्धि हुई थी कि क्लाइव को उस रूप में ६००० पौंड मिलने लगे थे । इसके अलावा कमीशन था और दूसरी सहूलियतें थीं। धीरे धीरे कर्म्मचारियों से निजी व्यापार करने का अधिकार छीन लिया गया, उन्हें आय पर कमीशन मिलना भी बंद हो गया—पर उनकी क्षतिपूर्ति के लिए उनके वेतन बढ़ा दिये गये ।

---

* क्लाइव के इँगलैंड लौटने पर उसके और कंपनी के बीच दूसरा समझौता हुआ, जिससे उसकी जागीर की मीआद और दस साल बढ़ा दी गई।

क्लाइव ने इस बार बंगाल आकर जो "सुधार" किये इनमें एक यह था कि सेना-विभाग में अंगरेजों को जो "भत्ता" मिलता आया था उसे घटा देने का निश्चय कर अफसरों की बगावत का सामना किया और बड़ी ही कठोरता से उनके साथ पेश आ कर कंपनी का बोझ बराबर के लिए हलका कर दिया । इस प्रथा का जन्म दक्षिण में उस समय हुआ था, जब उधर के नवाब फरासीसियों और अंगरेजों से सहायता लेने और पुरस्कार के रूप में उनके अफसरों को मुंहमांगा भत्ता देने लगे थे। वहीं से यह प्रथा बंगाल में आ गई थी। क्लाइव ने कहा कि "पहले बात और थी, अब और है। आज जो कुछ देना पड़ता है कंपनी को, किसी मीर जाफर या नज्मुद्दौला को नहीं*। अब आगे के लिए मैं यह नियम किये देता हूँ कि जब तक पलटन छावनी में रहेगी तब तक अफसरों को आधा ही भत्ता मिलेगा। अगर बंगाल या बिहार में उसे कहीं लड़ाई पर जाना होगा तो उन्हें पूरा भत्ता मिलेगा और अवध में जाने पर ही दूना भत्ता।" पर इससे असंतुष्ट हो कर जहां तहां अफसरों ने विद्रोह कर दिया और यह क्लाइव का ही काम हो सकता था कि उसने जान को जोखिम में डाल कर उसका ऐसे साहस और तत्परता से दमन किया कि आग तो फैल न सकी और सेना-विभाग ने समझ लिया कि पटने या मुंगेर में इस बार विद्रोहियों को जहां पद-प्रतिष्ठा ही गंवानी पड़ी थी वहां भविष्य में वे प्राण गंवाये बिना न रह सकते थे।

प्रायः बीस महीनों में ही बंगाल में अंगरेजी राज्य की नींव

---

* "यह घर घोड़ो ! आपणा, वह थी बीकानेर;
घास घनेरो घालसूं, दाणो दूं ना सेर"!

को काफी मजबूत कर, फरवरी १७६७ में क्लाइव इंगलैण्ड के लिए रवाना हुआ। जाने से पहले उसे पांच लाख रुपये की एक रकम मुर्शिदाबाद में मिल चुकी थी, जिसके विषय में यह कहा गया था कि इसे मीर जाफर मरते समय उसके लिए छोड़ गया था। इसे क्लाइव अपनी जाति के अधिकारियों के सहायतार्थ दान दे गया।

क्लाइव की जगह वेरेल्स्ट गवर्नर हुआ और १७६९ में इसकी जगह कार्टियर। इनके समय में कोई खास बात तो नहीं हुई पर गो-दोहन का काम पूर्ववत् जारी रहा।

मीर जाफर के दूसरी बार मसनद पर बैठने के बाद कुछ ही बरसों में बंगाल और बिहार का खून इस खूबी से चूसा गया कि उसका रंग लाल से सफेद हो चला और शरीर कायम रहते हुए भी उसकी सजीवता प्रायः जाती रही। १७६९ में कंपनी के अपने रेजिडेंट को ही मुर्शिदाबाद से लिखना पड़ा कि:—

"किसी अंगरेज को यह जान कर दुःख हुए बिना नहीं रह सकता कि कंपनी को दीवानी मिलने से पहले लोगों की जो हालत थी उससे आज कहीं खराब है। बात बुरी तो है, पर मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि सच्ची है।... नवाबों की तानाशाही के जमाने में भी यह प्रदेश सुखी और समृद्धिशाली था। पर आज शासन की बागडोर अंगरेज जाति के हाथ में होते हुए भी, इसकी बरबादी दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है।"

कंपनी के संचालकों को यह स्वीकार नहीं हो सकता था। वे यही कहते रहे कि माल की वसूली से कंपनी को जितनी आमदनी होनी चाहिए थी उतनी नहीं हो रही थी और जो

रुपया उसके खजाने में आना चाहिए था वह संभवतः नायब दीवानों* की तिजोरियों में जा रहा था।

असलियत यह थी कि वसूली बड़ी ही सख्ती से होने लगी थी और कंपनी की आय उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। राजस्व-संबंधी विषयों के ज्ञान और अनुभव के अभाव के कारण, अंगरेज अधिकारियों को बहुत कुछ उन नायब दीवानों और उनके अहलकारों पर जरूर निर्भर करना पड़ता था, पर उन्हें और उनकी मार्फत जमींदारों को डरा-धमका कर जमा और वसूली को बढ़ा देना उनके लिए कुछ कठिन काम नहीं हो सकता था।

पर जमींदार जो कुछ देते उसका बोझ किसानों पर ही जा पड़ता और माल के साथ मालगुजारी बढ़े बिना नहीं रहती। इस अध्याय की समाप्ति तब हुई जब बरसों बाद कार्नवालिस ने दवामी बन्दोबस्त कर अमर्यादित को मर्यादित और अव्यवस्थित को व्यवस्थित कर दिया। प्रासंगिक समय में तो यह हाल था कि माल-विभाग में कंपनी को अधिक से अधिक लाभ पहुंचा देना ही सुयोग्य अधिकारी का काम समझा जाता, चाहे वह यह खैरखाही किसी का गला घोंट कर करता, चाहे किसी अन्य ऐसे ही प्रकार से।

व्यापार-संबंधी जो स्वतंत्रता या स्वच्छंदता पहले थी उसका भी तिरोभाव हो गया था। कंपनी और उसके कर्म्मचारियों के एकाधिकार ने उस क्षेत्र में औरों के लिए कम गुंजाइश रहने दी थी और वह सदानीरा नदी, अपने उद्गम से विच्छिन्न या वियुक्त

---

* बंगाल में मुहम्मद रजा खां और बिहार में शिताबराय। कुछ समय तक बिहार में शिताबराय के साथ रामनारायण का भाई धीरजनारायण भी इसी पद पर था।

हो कर दिन प्रति दिन सूखने लगी थी । बोल्ट्ज ने १७७३ में लिखा था कि "जहां पहले काश्मीरी, मुलतानी, पाठान, शेख, संन्यासी*, पगिये, भूटिये और दूसरे व्यापारी दूर दूर से, बड़े बड़े काफिलों में, बंगाल पहुंचते थे वहां अब कोई आने का नाम नहीं लेता ! माल खरीदने के लिए ये अपने साथ इतना सोना या चांदी लाते थे जितना यहां यूरोप, ईरान और अरब से भी न आता था । उन व्यापारियों को अब यहां आने का साहस या उत्साह नहीं होता और उस बड़े व्यापार-द्वारा होने वाले लाभ से बंगाल सदा के लिए वंचित हो गया है ।"

बंगाल के व्यापार का स्रोत अब विदेश की ही दिशा में जोरों से बहने लगा था । कलकत्ते से होने वाले निर्यात का मूल्य जहां १७६१-६२ में प्रायः ३२ लाख रुपया था वहां १७६७-६८ में प्रायः ६० लाख था और १७७०-७१ में ८० लाख से ऊपर पहुंच गया था । और यह व्यापार एक-तरफा था, अर्थात् जहां पहले निर्यात का दाम चुकाने के लिए चांदी का आयात हुआ करता वहां अब बाहर से चांदी का आना प्रायः बंद हो गया। परिस्थिति यह थी कि राजस्व से जो आय होती उसी से माल खरीद कर कंपनी इंगलैण्ड ले जाती और अब उसे भुगतान के लिए वहां से चांदी लाकर जगत्सेठ की कोठी में दरबारदारी नहीं करनी पड़ती। कंपनी का कारबार चीन में भी था और वहां भी पहले माल की खरीदारी के लिए इंगलैण्ड से चांदी भेजी जाती थी। पर अब बंगाल-

* "संन्यासी" व्यापारी कहे जा सकते थे या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । उस समय जत्थों में चलने वाले नागा-"संन्यासी" प्रायः मराठों के ही समान उपद्रवी समझे जाते थे । "पगियों" से मतलब पगड़ी वाले व्यापारियों से था—कलकत्ते की "पगियापट्टी" ।

बिहार की चांदी के निर्यात से चीन में भी दाम चुकाने की समस्या हल की जाने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि दोनों प्रान्तों में मुद्रा-संबंधी संकट उपस्थित हो गया और प्रजा को उस दारुण दुर्भिक्ष के कारण होने वाला दुःख भी भोगना पड़ा।

(४)

१० मार्च १७७० को सैफुद्दौला भी संसार से "अचानक" चल बसा। अब उसके छोटे भाई मुबारकुद्दौला को पगड़ी बंधी।

नज्मुद्दौला और सैफुद्दौला की मृत्यु के कारण प्राकृतिक थे या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ लोगों ने उस समय भी संदेह प्रकट किया था। पर कारण चाहे जो भी रहे हों, यह तो जानी हुई बात थी कि किशोरावस्था में ही दोनों विषयासक्त हो गये थे और इससे उनके स्वास्थ्य में घुन लग गया था। गद्दी पर बैठते समय एक की उम्र अठारह साल की थी और दूसरे की पंद्रह साल की। क्लाइव ने नज्मुद्दौला को "वेश्या-पुत्र, अशिक्षित, अयोग्य, दुर्बल और नीच" बताया था, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि कंपनी की दृष्टि से यह अवांछनीय था या इन नवाबों के चरित-सुधार की ओर उसके अधिकारियों ने कभी कुछ भी ध्यान दिया। ५३ लाख की आय के लोभ से अपना राज्य कंपनी के हाथ बेच कर नज्मुद्दौला ने तनिक भी दुःख या खेद प्रकट नहीं किया था। बल्कि आनन्द-विभोर हो कर क्लाइव से यही कहा था कि खुदा का शुक्र है कि मैं अब जितनी कसबियां चाहूंगा रख सकूंगा। मुबारकुद्दौला मसनद पर बैठते समय तेरह साल का था। कुछ ही समय बाद कंपनी के आलोचक बोल्ट्ज ने लिखा—

"इस बच्चे के लिए भी हरम की व्यवस्था करा दी गई है। संभव है कि इसकी भी अकाल-मृत्यु* हो जाय। चाहे जब और जैसे इसकी मृत्यु हो, फीलखाने से एक हाथी को लाकर मसनद पर बिठा देना ही विशेष उपयुक्त होगा। हाथी भारी भरकम जानवर होकर भी हुक्मबरदार होता है, बहुत दिनों तक जीता है और तड़क-भड़क की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को देखते हुए उस पर खर्च भी कम ही बैठता है।"

इन नवाबों को मिलने वाली वृत्ति उत्तरोत्तर कम होती गई। नज्मुद्दौला को ५३ लाख की जगह कुछ ही महीने बाद ४१ लाख मिलने लगा था। सैफुद्दौला को ३२ लाख ही मिलने लगा और जब उसकी जगह मुबारकुद्दौला बैठाया गया तब पहले तो इसे ३२ लाख देना स्वीकार किया गया, पर एक वर्ष के ही भीतर यह रकम घटाकर १६ लाख कर दी गई।

इसी प्रकार जहां मुहम्मद रजा खां का वार्षिक वेतन ९ लाख नियत हुआ था वहां १७७१ से उसे ५ लाख ही मिलने लगा। दुर्लभराम से सतर्क रहते हुए भी, उसके वेतन में कटौती नहीं की गई और १७६९ या १७७० में उसके मरने तक उसे दो लाख वार्षिक ही मिलता रहा। जगत्सेठ के वेतन या वृत्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, पर जिस समय कंपनी के संचालकों ने रजा खां का वेतन घटा देने का आदेश भेजा था उस समय यह भी लिखा था कि

"जगत्सेठ को जो कुछ देना पड़ता है वह खजाने पर बोझ के बराबर हो रहा है। आजतक उन्होंने न तो हमारी कोई ऐसी सेवा

* वास्तव में इसकी मृत्यु १७९३ में हुई।

या सहायता की है और न हमें कोई ऐसा लाभ ही पहुंचाया है।" १७७० में "खालसा" या खजाना मुर्शिदाबाद से उठकर कलकत्ते चला गया और उसके बाद उन्हें पारिश्रमिक देने का प्रश्न ही नहीं रहा। बिहार में नायब शिताबराय को १ लाख वार्षिक मिलता था, और उसके अलावा ३ लाख भत्ते के रूप में भी।

खुशालचंद और क्लाइव के बीच जो समझौता हुआ था उसके अनुसार कंपनी और नवाब मिलकर उन्हें २१ लाख रुपये पुराने हिसाब में देने वाले थे। कंपनी के लेखे से जान पड़ता है कि दस किस्तों में उन्हें नवाब से हर साल १०५,०००) और कंपनी से भी उतना ही मिलना निश्चित हुआ था। १९ पूस, बंगला फसली साल ११८७ (सन् १७७०) तक उन्हें कंपनी से ५४६,३७५।।।) मिल चुका था और उसके जिम्मे ५०३,६२४।) बाकी रह गया था। नवाब से उन्हें मिल चुका था ५१५,०००) और उसके जिम्मे बाकी रह गया था ५३५,०००)। पर कंपनी के ही कागजात में खुशालचंद के एक आवेदन-पत्र का सारांश मिलता है जो ७ जून, १७७३ को कलकत्ते भेजा गया था और जिसमें उन्होंने लिखा था कि जहां उन्हें पिछले साल २१०,०००) मिलना चाहिए था वहां १५०,०००) ही मिला था और मांगने पर कंपनी के कर्म्मचारी उन्हें संतोषजनक उत्तर न दे सके थे। इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उन्होंने कंपनी को क्लाइव के कौल-करार की याद दिलाई थी और इस कर्ज का भी कुछ इतिहास बताया था।

इसका संबंध पलासी के युद्ध के बाद की घटनाओं से था। क्रान्ति की पूर्ण सफलता के लिए क्लाइव ने महताबराय से कहा था कि आप मीर जाफर को नवाब नाजिम स्वीकार कराके बादशाह

से सनद मंगा दीजिए । इस पर खर्च का सवाल उठा था और क्लाइव ने उन्हें यह वचन दे दिया था कि अगर आपको नवाब से रुपया न मिल सका तो उसका देनदार मैं हूँगा । जगत्सेठ ने दिल्ली से सनद मंगा दी थी और उस सिलसिले में उन्हें जो कुछ खर्च करना पड़ा था उसका हिसाब चुकता करने से पहले ही मीर जाफर गद्दी से हटाया जा चुका था। सनद मंगा देने के हिसाब में उनकी कोठी का १५ लाख और दूसरी मदों में ६ लाख अर्थात् कुल २१ लाख मीर जाफर या कंपनी के जिम्मे बाकी रह गया था। मीर कासिम के समय में तो उन्हें निराश हो जाना पड़ा था, पर बाद मीर जाफर या नज्मुद्दौला को गद्दी मिली भी थी तो वे पुराना कर्ज अदा न कर सके थे। अन्त में जब क्लाइव दूसरी बार गवर्नर होकर आया तब उन्होंने अपना हिसाब पेश किया । उसी समय यह निर्णय हुआ कि २१ लाख का आधा तो कंपनी दे देगी और आधा नवाब। संभवत: खुशालचंद का आवेदन यह था कि नवाब के हिस्से की रकम भी अब उन्हें कंपनी से ही मिलनी चाहिए थी।

कार्टियर के बाद वारेन हेस्टिंग्स १७७२ में बंगाल का गवर्नर हुआ । इसका जन्म १७३२ में हुआ था और १७५० में यह कंपनी का नौकर होकर कलकत्ते आया था। यह सन्मार्ग पर चलने वाला कर्म्मचारी समझा जाता था, पर उसी मार्ग पर चलते हुए १७६४ तक ही ३०,००० पौंड थोक कर चुका था। बर्क ने तो पार्लमेंट में इस पर इतिहास-प्रख्यात दोषारोपण करते हुए बरसों बाद यह कहा कि उस समय के सभी कर्म्मचारी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे और हेस्टिंग्स दूसरों से किसी भी प्रकार भिन्न न था ।

शाह आलम १७६४ से इलाहाबाद में ही रहने लगा था। वहां यमुना उसे दिल्ली की याद दिलाती रहती—"हुक्म खुदावन्दे आलम, अज़ दिल्ली ता पालम" यह तान तोड़कर उसका जी कुढ़ाती रहती—पर उसमें न इतना बल था, न इतना साहस कि अपनी मां या नजीबुद्दौला के संदेसे पर संदेसा भेजने पर भी वह पश्चिम की ओर प्रस्थान कर सकता। अंगरेज आखिरी मंजिल तक उसका साथ देने के लिए संधिबद्ध थे पर उनकी आन्तरिक इच्छा यही थी कि वह मंजिल दिल्ली जितनी दूर न हो। उनसे मिलने वाली रकम को मिलाकर शाह आलम को प्रायः ७५ लाख रुपये की आय थी, पर एक तो यह उसके लिए यों ही काफी न था, फिर जब ढिलाई या लापरवाही के कारण मुर्शिदाबाद से समय पर रुपया न पहुंचता तब उसकी कठिनाई* और भी बढ़ जाती और वह चीखने-चिल्लाने लगता।

गवर्नर वेरेल्स्ट के कहने पर शाह आलम के सुभीते के लिए, जगत्सेठ ने १७६७ में अपनी कोठी की एक शाखा इलाहाबाद में खोल दी थी।

उसी साल शाह आलम इस बात की भी शिकायत कर चुका था कि एक और मामले में कंपनी या उसके कर्म्मचारियों ने अपना हक अदा नहीं किया था। मुर्शिदाबाद से हर साल कुछ हाथी

---

* ऐसे अवसर पर उसे कुछ महाजनों से कर्ज लेकर अपनी समस्या हल करनी पड़ती थी। ऐसे महाजनों में लाला कश्मीरीमल और लाला बैजनाथ थे। संभवतः दोनों ही बनारस के कोठीवाल थे। कुछ बरस बाद लाला कश्मीरी मल और बनारस के ही गोपालदास की कोठियों के बीच लेन-देन के सिलसिले में एक अप्रिय प्रसंग उपस्थित होने वाला था।

बादशाह के पास भेजे जाते थे। मुहम्मद रजा खां ने उस साल २६ हाथी भेजे भी तो उनका मूल्य ६८,०००) शाह आलम को मिलने वाली रकम में से काट लिया। इस पर शाह आलम बहुत बिगड़ा। यह परंपरा के विपरीत बात थी। हाथी नजराने के तौर पर ही भेजे जाते थे और खजाने में ऐसी कटौती कभी नहीं की गई थी। फिर जो २६ हाथी भेजे गये थे उनमें ६ तो इलाहाबाद पहुंचने के दस दिन के भीतर ही काल-कवलित हो चुके थे और बाकी अंधे, लंगड़े, बीमार या पैदार निकले थे—अर्थात उनमें एक भी "भारत-सम्राट् का बाहन बनने योग्य न था।" सम्राट् ने लिखवाया कि उन्हें उन हाथियों को लौटा देना मंजूर था, पर अपने राजस्व में उनके कारण एक भी रुपया कम होने देना* नहीं। अन्त में कंपनी की ओर से रजा खां को यह आदेश दिया गया कि हाथी और परिधान उपहार के ही रूप में भेजे जायं और आगे कभी ऐसी कटौती कर सम्राट् का अपमान न किया जाय।

उधर पानीपत में परास्त हो जाने के बाद भी मराठे शक्तिशाली बने हुए थे। बालाजी बाजीराव के १७६१ में ही परलोक सिधारने पर उसका अल्पवयस्क पुत्र माधवराव पेशवा हुआ था। यह बड़ा होनहार था और पारिवारिक कलह होते हुए भी मराठों का दबदबा फिर बढ़ाने की पूरी चेष्टा करने लगा था। होलकर और शिंदे के साथ फौज भेजकर उसने १७६९ में राजपूतों, जाटों और रुहेलों से चौथ वसूल कराई और इससे मराठों का हौसला यहां तक बढ़ा कि वे इलाहाबाद भी जा पहुंचे और १७७१ में शाह आलम को वहां से उड़ाकर दिल्ली ले गये।

---

* श्री नन्दलाल चटर्जी लिखित "वेरेल्स्ट्स रूल इन इंडिया"।

शाह आलम से दीवानी मिल जाने पर कंपनी को हर साल २६ लाख रुपये देते जाना अखरने लगा था। हेस्टिंग्स के मतानुसार क्लाइव ने ऐसी उदारता दिखाकर भूल की थी। इसलिए जब शाह आलम अपनी मर्जी से मराठों का पल्ला पकड़कर दिल्ली चला गया तब उसे वह रकम बचा लेने का अच्छा मौका हाथ लगा और उसने यह कहकर उसे भेजना बंद कर दिया कि १७६९-७० के अकाल ने बंगाल का हाल इतना बुरा कर दिया था कि कंपनी के लिए कुछ भी भेजना असंभव हो गया था। शाह आलम की ओर से तकाजे पर तकाजा होने लगा, जिसके जवाब में हेस्टिंग्स ने उसे यह स्पष्ट करा दिया कि बंगाल अब दिल्ली से पूर्णत: स्वतंत्र हो चुका था और कर के रूप में अब वहां एक भी रुपया भेजने वाला न था।

इधर कंपनी की करतूतों की ओर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का ध्यान विशेष रूप से जाने लगा था। बंगाल में जो राज्य स्थापित हो चुका था और जिसका विस्तार असंभव न था उसके कारण कई प्रश्न उठ खड़े हुए थे। इनमें सब से महत्वपूर्ण यह था कि वह राज्य इंगलैण्ड का था या उसकी प्रजा कहाने वाले मुट्ठी भर लोगों का ? पार्लमेंट ने इसका उत्तर यह दिया कि वह राज्य इंगलैण्ड का था—कंपनी को वहां की पार्लमेंट या सरकार से स्वतंत्र होकर सात समुद्र पार भी हुकूमत करने का कोई अधिकार नहीं हो सकता था।

कंपनी या उसके कर्म्मचारियों ने इधर जो कुछ किया था उससे वह इंगलैण्ड में बहुत बदनाम हो चुकी थी। एक बड़े नेता की टिप्पणी यह थी कि "हिन्दुस्तान में अन्याय के और अनैतिकता के

कारण होने वाली दुर्गन्ध पृथ्वी से आकाश तक फैलने पर है।" पर पार्लमेंट के लिए वह अन्याय या अनैतिकता उतनी चिन्ताजनक नहीं थी जितनी कंपनी की निरंकुशता और राजनीतिक क्षेत्र में भी उसकी बल-वृद्धि। हिन्दुस्तान से लौटने वाले अंगरेज पैसे के जोर से पार्लमेंट में भी घुसने लगे थे और जो उस क्षेत्र को अपनी बपौती समझते आये थे उन्हें "बंगाल की लूट" का यह सब से खतरनाक पहलू दीखने लगा था।

कहा जा सकता है कि कंपनी को यथासंभव नियंत्रित करने के आन्दोलन की जड़ में आदर्शवाद ही नहीं था, बहुत कुछ ईर्ष्या-द्वेष भी था—दलबंदी के रूप में होने वाली स्पर्द्धा या संघर्ष भी था।

जो हो, इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि १७६७ में पार्लमेंट-द्वारा हस्तक्षेप आरंभ हो गया और नये विधान के अनुसार कंपनी के अपने नियमों में कुछ हेर-फेर किये गये। साथ ही, एक निश्चित अवधि के लिए, सरकार को प्रतिवर्ष ४ लाख पौंड देना उसका कर्त्तव्य कर दिया गया। गरज यह कि उस "लूट" में अब सरकार भी हिस्सेदार बन बैठी और प्रबल विरोध होने पर भी पार्लमेंट ने यह सिद्धांत स्वीकार कर लिया कि बंगाल में या अन्यत्र कंपनी अनियंत्रित शासन नहीं कर सकती थी।

पार्लमेंट को हस्तक्षेप का दूसरा मौका १७७२ में मिला। मार्च में शेयरहोल्डरों को १२॥ प्रतिशत मुनाफा मिल जाने के कुछ ही महीने बाद कंपनी ने सरकार से दस लाख पौंड कर्ज मांगा। इसका विरोध तो हुआ ही, कंपनी और उसके कर्म्मचारियों ने इधर प्रायः पंद्रह[४] सालों में जो कुछ किया था उसकी भी जांच की गई। इसका नतीजा मालूम होने पर सर्वसाधारण की यह धारणा पुष्ट

हो गई कि "बंगाल में जो अत्याचार या लूट हो चुकी थी उसकी कहानी सुनकर किसी का भी दिल दहले बिना नहीं रह सकता था।" मार्च १७७३ में कंपनी की ओर से फिर कर्ज के लिए दर्खास्त की गई---इस बार १५ लाख पौंड मांगा गया । पार्लमेंट ने उसे १४ लाख पौंड देना तो स्वीकार कर लिया, पर ऐसी शर्तों पर जिनसे कंपनी और भी जकड़बंद और ब्रिटिश पार्लमेंट या सरकार के लिए नियंत्रण का मार्ग और भी सुगम हो गया ।

यह नया विधान "रेग्यूलेटिङ्ग ऐक्ट" था । कंपनी के अपने संघटन के साथ इसने इस देश में भी शासन के ढांचे को बहुत कुछ बदल दिया । अब गवर्नर की जगह गवर्नर-जनरल और उसके सहायकों के रूप में चार कौंसिल-सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था हुई और जहां तक संधि या विग्रह का सम्बन्ध था, बंबई और मद्रास भी बंगाल के ही अधीन कर दिये गये । गवर्नर-जनरल की कौंसिल के बहुमत का निर्णय ही सरकारी निर्णय समझा जा सकता था। किसी प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में वोट बराबर होने पर गवर्नर-जनरल सभाध्यक्ष की हैसियत से एक वोट और दे सकता और जो निर्णय चाहता करा सकता था। उसका अपना वेतन २४,००० पौंड नियत हुआ और उसकी कौंसिल के प्रत्येक सदस्य का १०,००० पौंड। विधान-द्वारा ब्रिटिश सरकार को बंगाल में एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित करने का भी अधिकार दिया गया और प्रधान न्यायाधीश का वेतन ८,००० पौंड नियत हुआ।

गवर्नर-जनरल के पद पर वारेन हेस्टिंग्स की ही नियुक्ति हुई और उस न्यायाधीश के पद पर उसके मित्र सर एलिजा इम्पे की।

दीवानी मिल जाने पर भी कंपनी ने प्रबन्ध का भार नायब

दीवानों के ही कंधों पर छोड़ दिया था और कानूनगो-आमिल आदि ही प्रधान अधिकारी रहते आये थे। इनके काम पर निगरानी रखने के लिए कुछ अंगरेज वेरेल्स्ट के समय में ही "सुपरवाइजर" नियुक्त हो चुके थे, पर कानूनगो किसी को पूरी बातें बताने के लिए तैयार न था और बिना उसके सहयोग के किसी को यह मालूम न हो सकता था कि जमींदार ने किसानों से कितना वसूल किया और सैकड़े कितना सरकार को दिया। कानूनगो के असहयोग का प्रधान कारण यह था कि अगर वह इन बातों की जानकारी औरों को हो जाने देता तो माल-महकमे की किल्ली पुश्त दर पुश्त उसके घराने के हाथ में न रह सकती। पर यह उसकी खामखयाली थी कि जो काम टोडरमल कर चुका था उसे अठारहवीं सदी में अंगरेज और भी खूबी से न कर सकेंगे या यह कि मीर कासिम पर भी विजय प्राप्त कर लेने वाले उससे पार न पा सकेंगे।

११ मई १७७२ को यह ऐलान किया गया कि अब नवाब मुहम्मद रजा खां नायब दीवान न रहेंगे और स्वयं कंपनी दीवान के रूप में सर्वसाधारण के सामने उपस्थित होगी।

तभी से हर जिले में एक कलक्टर की नियुक्ति की व्यवस्था हुई और माल की तहसील के अलावा वह और कामों के लिए भी जिम्मेदार बना दिया गया। हर जिले में, दीवानी अदालत और फौजदारी अदालत कायम हुई और दीवानी अदालत का प्रधान भी कलक्टर ही कर दिया गया।

माल-विभाग में ऊपर से देख-भाल का काम एक खास कमिटी को सौंपा गया। हिसाब-किताब की जांच "रायरायां" नामक पदाधिकारी द्वारा होने लगी। सर्वप्रथम, इस पद पर (महा) राजा

दुर्लभराम के पुत्र राजा राजबल्लभ*की नियुक्ति हुई। उसका मासिक वेतन ५,०००) था।

बंगाल और बिहार में नायब दीवान का पद उठ जाने पर मुहम्मद रजा खां और शिताबराय पर अमानत में खयानत का आरोप किया गया और गिरफ्तार कर दोनों कलकत्ते पहुंचाये गये। वहां महीनों मामला विचाराधीन रहा। अन्त में दोनों निर्दोष प्रमाणित हुए—विशेषतः शिताबराय। हेस्टिंग्स ने स्वीकार किया कि उन पर जो अभियोग लगाया गया था वह निराधार था। बिहार लौटने पर वह "रायरायां" कर दिये गये, पर मर्माहत होने के कारण उसके कुछ ही दिन बाद उनकी मृत्यु हो गई। उनके पुत्र महाराज कल्याण सिंह उनके उत्तराधिकारी† हुए और उन्हें ऊंचा पद भी प्राप्त हुआ। मुहम्मद रजा खां प्रमाणाभाव के कारण दोषी तो न ठहराया जा सका, पर ढाके की तरह मुर्शिदाबाद में भी वह कई लाख पेट में डाल चुका था—उसके संबंध में अधिकारियों का यह संदेह बना ही रहा। कंपनी की खैरखाही वह इतनी कर चुका था कि यह संदेह होते हुए भी संचालक उसकी पुनर्नियुक्ति कराये बिना न रह सके। बालिग होने पर मुबारकुद्दौला ने उसे बरखास्त कर भी दिया तो वह ‡फिर उसका दीवान बन बैठा।

हेस्टिंग्स के समय में माल-विभाग और न्याय-विभाग का संघटन ही नये ढंग से नहीं हुआ, कुछ और "सुधार" भी किये गये—

---

* १७५७ की क्रान्ति के समय का राजबल्लभ १७६३ में ही मीर कासिम के हाथों मारा जा चुका था।

† शिताबराय की जागीर दक्षिण बिहार और चंपारन में थी।

‡ रजा खां की मृत्यु १७९१ में हुई।

(१) अंगरेज कर्म्मचारी निजी व्यापार करने के लिए स्वतंत्र न रहे ।

(२) नमक, तंबाकू और सुपारी को छोड़कर, और सभी चीजों पर २॥ प्रतिशत चुंगी भरने का नियम हो गया, और किसी अंगरेज व्यापारी का माल भी अब इससे बरी न रहा।

(३) दस्तकों के दुरुपयोग की गुंजाइश मिटा दी गई।

(४) कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, ढाका और पटना—–इन पांच स्थानों में ही चुंगी लेने-देने की व्यवस्था रही ; बाकी चौकियां उठा दी गईं ।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अंगरेजों की द्वैध-शासन-प्रणाली*की समाप्ति या और "सुधारों" से भ्रष्टाचार बंद हो गया और शासन-क्षेत्र की कलंक-कालिमा धुल गई। जिसकी औरों को मनाही थी वही काम खुद हेस्टिंग्स कर रहा था । हर कलक्टर के लिए यह लाजिमी कर दिया गया था कि वह अपने एजंट या "बनियन" को गांवों का ठीका या बंदोबस्त लेने न दे। उन दिनों प्रायः हर अंगरेज का एक "बनियन" होता जो उसके लिए "पीर बाबर्ची, भिश्ती, खर" का काम करता और जिसपर उसे अपनी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी आर्थिक समस्या के हल के लिए निर्भर करना पड़ता । हेस्टिंग्स के अपने "बनियन" कासिम-बाजार के कृष्णकान्त नंदी ("कंतू बाबू") थे जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसकी जानकारी और रजामंदी से "कंतू बाबू"

---

* जिसमें दीवान होते हुए भी कंपनी दीवानी प्रधानतः हिन्दू-मुसलमान अधिकारियों से ही कराती थी ।

तेरह लाख से भी अधिक की आय के गांवों के ठीकेदार बन चुके थे और इसके अलावा अपने बारह-तेरह साल के बेटे लोकनाथ नंदी के नाम से भी बहुत से गावों के ठीके ले चुके थे। हेस्टिंग्स ने अपनी सफाई में जो कुछ कहा था वह उसके पक्षपातियों को भी संतोषप्रद नहीं जान पड़ता*। उसकी कौंसिल के सदस्य और उसके हिमायती रिचार्ड बारवेल ने इतना धन कमाया कि एक १७७५ में ही वह ४० हजार पौंड इंगलैंड भेज सका। इससे पहले वह १७६९ में अपनी बहन को लिख चुका था कि "ढाके में 'सुपरवाइजर' का पद प्राप्त करने के लिए मैं ५००० पौंड खर्च करने को तैयार हूँ"। वारवेल के एक दूसरे खत से जान पड़ता है कि कंपनी के कर्म्मचारियों के लिए व्यापार का निषेध हो जाने पर भी वह हिंदुस्तानी व्यापारियों के नाम से नमक का कारबार करने लगा था।

बंगाल में जहां १७७६ में कर्म्मचारियों के वेतन में २५१,५३३ पौंड खर्च पड़ा था वहां १७८४ में ९२७,९४५ पड़ने लगा था। इसका कारण प्रधानतः यह था कि कई कर्म्मचारी—विशेषतः हेस्टिंग्स के पक्षपाती—ऊंची से ऊंची तनखाह पाने लगे थे। नमक के लिए जो बोर्ड बना था उसके प्रधान को १८,४८० पौंड प्रतिवर्ष मिलता आ रहा था और बाकी पांच मेंबरों में प्रत्येक को ६२५७ पौंड से १३,१८३ पौंड तक। माल-विभाग में पांच पदाधिकारियों को ४७,३०० पौंड मिलता था, और शुल्क विभाग में

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी, भाग ५। अगर हेस्टिंग्स की कौंसिल में बहुमत उसके विरुद्ध न होता तो उसके काले कारनामों पर संभवतः कुछ भी प्रकाश न पड़ सकता।

तीन पदाधिकारियों को २३,००० पौंड। हेस्टिंग्स ने अपनी सफाई में कहा था कि नमक से संबंध रखने वाले बोर्ड के मेंबरों को मुनाफे पर १० प्रतिशत दे देने पर भी कंपनी को ५४०,००० पौंड की बचत होने लगी थी। पर जैसा कि एक आधुनिक लेखक ने कहा है—"प्रश्न तो यह है कि जीवन के लिए नमक जैसी आवश्यक वस्तु से जो इतनी बड़ी आय हो रही थी उसका रिआया पर क्या बोझ पड़ रहा* था ?"

यह कर्म्म का फल माना जाय या और कुछ, ऐतिहासिक तथ्य है कि सिराजुद्दौला का विध्वंस करने-कराने वालों का अपना जीवन भी प्रायः दुःखान्त ही रहा। उनमें मीरन तो प्रायः सब से पहले मारा जा चुका था; जगत्सेठ महताबराय, महाराज स्वरूपचंद, राजा राजबल्लभ आदि मीर कासिम के क्रोधानल में पड़ कर छार हो चुके थे; स्वयं मीर कासिम सिराजुद्दौला की बेगम को लूटने के पाप का प्रायश्चित्त करते हुए मर चुका था। मीर जाफर और दुर्लभराम भी सुख-शान्ति न पा सके थे। स्क्राफ्टन† दूसरी बार बंगाल आते समय कहीं समुद्र में डूब चुका था और सूत्रधार क्लाइव के जीवन-नाटक की समाप्ति भी अश्रुपात और आत्मघात से हो चुकी थी।

पर क्लाइव के हाथों "गुलाब के फूल" सूंघने वाला गुरुघंटाल नन्दकुमार बचा हुआ था और एक ओर भंवर तो दूसरी ओर चट्टान के बीच अपनी नाव को पार लगाने की चेष्टा करता ही जा रहा था। मुहम्मद रजा खां सूबा नायब न रहते हुए भी नवाब

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी, भाग ५, पृष्ठ २१३।

† इसके साथ डूबने वाले यात्रियों में हेनरी वान्सीटार्ट भी था।

नाजिम का सबसे प्रधान अधिकारी बना हुआ था। वारेन हेस्टिंग्स गवर्नर और फिर गवर्नर-जनरल बन चुका था। फिर भी नन्दकुमार का यह दृढ़ आत्मविश्वास था कि वह अन्त में ऐसे शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त करके ही रहेगा। इसी विश्वास के बल पर वह नये दौर दौरे में भी अपनी पुरानी चाल से ही चलता आ रहा था।

दूर बैठे हुए भी कम्पनी के संचालक यह अच्छी तरह जानते थे कि यहां किस काम के लिए किसका उपयोग करना चाहिए। जब मुहम्मद रजा खां पर दोषारोपण की बात उठी थी तब उन्हें लगा था कि उसके विरुद्ध प्रमाण जुटाने के काम में नन्दकुमार विशेष सहायक हो सकता था और उससे उस अवसर पर वैसी सहायता ली भी गई थी। हेस्टिंग्स को बात अच्छी लगने वाली न थी, पर वह इसका विरोध न कर सका था। उसके गवर्नर-जनरल हो जाने पर जब कौंसिल में उसका अपना विरोध शुरू हुआ और विरोधियों से नन्दकुमार को प्रोत्साहन मिला तब निर्भय होकर इसने खुले आम हेस्टिंग्स को भी ललकार दिया और उसकी पगड़ी उछाल दी।

कौंसिल में ११ मार्च, १७७५ को उपस्थित होकर इसने गवर्नर-जनरल पर कई इल्जाम लगाये जिनमें एक यह था कि नाबालिग मुबारकुद्दौला की सौतेली मां मुन्नी बेगम* से प्रायः साढ़े तीन लाख रिश्वत खाकर ही उसने उसे नवाब की अभिभाविका का

---

* यह नज्मुद्दौला और सफुद्दौला की मां थी। मुबारकुद्दौला की अपनी मां का नाम बब्बू बेगम था। मुन्नी बेगम को १७७५ में ही पद-त्याग करने पर १२,०००) मासिक वृत्ति मिलने लगी। वह १८१३ में ९० साल की होकर मरी।

पद दे दिया था। उस संबन्ध में कौंसिल के किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले ही हेस्टिंग्स आपे से बाहर होकर उठ पड़ा और यह कह-कर चला गया कि उसकी अनुपस्थिति में कौंसिल की कोई मीटिंग ही नहीं हो सकती थी। उसके पक्षपाती बारवेल ने तो उसका पदानुसरण किया, पर सभा स्थगित नहीं हुई। बाकी तीनों मेंबरों ने प्रस्ताव-द्वारा गवर्नर-जनरल को भ्रष्टाचारी बताया और मुन्नी बेगम से मिली हुई रकम को खजाने में जमा करा देने का उसे आदेश दिया। पर इसके बाद ही ऐसा घटनाचक्र चला कि नन्द-कुमार का अभियोग अभियोग ही रह गया और उसे स्वयं अभियुक्त बनकर वास्तविक न्याय के लिए तीनों लोक के न्यायाधीश के पास जाना पड़ा।

बात यह हुई कि २३ अप्रैल को हेस्टिंग्स, बारवेल और हेनरी वान्सीटार्ट के भाई जार्ज वान्सीटार्ट ने मिलकर नन्दकुमार और अन्य दो व्यक्तियों* पर यह इल्जाम लगाया कि उन्होंने साजिश कर कमालुद्दीन को यह कहने के लिये मजबूर करना चाहा था कि हेस्टिंग्स और बारवेल दूसरों से भी घूस ले चुके थे। जहां तक हेस्टिंग्स का सम्बन्ध था, तीनों ही अभियुक्त निर्दोष प्रमाणित हुए। पर नन्दकुमार और फाक इस बात के दोषी ठहराये गये कि वे दोनों बारवेल पर दोषारोपण कराने की साजिश कर चुके थे। फाक पर जुर्माना हुआ, पर नन्दकुमार को ऐसा दण्ड नहीं दिया गया, कारण कि एक दूसरे मामले में उसे पहले ही प्राण-दण्ड मिल चुका था।

उस पर मुर्शिदाबाद के एक व्यापारी की ओर से मोहन प्रसाद

---

* इनमें एक अँगरेज था जो कम्पनी का कर्म्मचारी न था।

नामक व्यक्ति जालसाजी का कोई मुकदमा दायर कर चुका था। ६ मई को मजिस्ट्रेटों ने उसको सुप्रीम कोर्ट के पास भेज दिया। वहां ८ से १६ जून तक नन्दकुमार का विचार हुआ और उसे दोषी ठहराकर कोर्ट ने उसे फांसी की सजा दे दी। ५ अगस्त को वह फांसी चढ़ा भी दिया गया।

वास्तव में यह एक प्रकार का हत्याकाण्ड था जिसमें प्रेरक वारेन हेस्टिंग्स था, कार्य्य-सम्पादक सुप्रीम कोर्ट और हत्या कानून की आड़ में की गई। चीफ जस्टिस सर एलिजा इम्पे हेस्टिंग्स का सहपाठी रह चुका था और उसका घनिष्ठ मित्र था। कलकत्ते में वह गवर्नर-जनरल से जिसे जो पद या काम चाहता दिला सकता था। अपने एक रिश्तेदार को साथ लाया था और उसे पुलों और सड़कों के ठीके दिला दिये थे। इस लिए अंगरेजों की मण्डली में भी उसका नाम "पुलबन्दी" पड़ गया था।

याद रखने की खास बात यह है कि जुर्म साबित हो जाने पर भी इस देश में जालसाजी के लिए प्राणदंड देने का कोई नियम या विधान नहीं था। सुप्रीम कोर्ट के जजों ने अभियुक्त नंदकुमार का विचार इँग्लिश पद्धति से किया और इंगलैंड के कानून के अनुसार उसे दंड दिया। पर इंगलैंड में* १७२९ से ऐसा कानून था भी और कलकत्ते में वह अंगरेजों के लिए लागू भी बताया जा सकता था तो इस मामले का उससे क्या सरोकार हो सकता था? नन्दकुमार न तो कलकत्ते का निवासी था न उसने सुप्रीम कोर्ट की स्थापना के बाद वह जुर्म किया था। उसके फांसी चढ़ जाने

* जालसाजी के लिए स्काटलैंड या उत्तरी अमेरिका में भी प्राण-दंड देने का विधान नहीं था।

के बाद, यहां जाब्ता फौजदारी चला भी तो इंगलैंड के १७२६ के कानून के आधार पर।

इससे भी यही साबित होता है कि वहां का १७२९ का कानून यहां लागू नहीं समझा जा सकता था। इस विषय पर बड़े बड़े लेखक बहुत कुछ लिख चुके हैं। स्थानाभाव के कारण यहां उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना का सारांश भी नहीं दिया जा सकता। मोटी बात यह है कि नन्दकुमार के साथ न्याय नहीं किया गया; उससे हेस्टिंग्स से दुश्मनी की कीमत वसूल की गई।

मोहन प्रसाद को उकसाने वाला स्वयं गवर्नर-जनरल था। जजों ने यहां तक पक्षपात किया कि फर्य्यादी के वकील बनकर नंदकुमार के गवाहों को झकझोर डाला। बात जमीन पर की थी तो कानून आसमान का उठा लाये। सर जेम्स स्टिफेन ने भी अपनी पुस्तक* में यह मत प्रकट किया है कि "अगर इस मामले में मुद्दई की ओर के ही सबूत पर मुझे निर्भर करना पड़ता तो मैं नन्दकुमार को दोषी न ठहरा सकता।" पर इन बातों की उन्हें क्या परवा हो सकती थी जिनका एकमात्र उद्देश था नन्दकुमार को कच्चा खा जाना? संकल्पसिद्धि के लिए उन्हें दस दिन से अधिक इस मामले का विचार भी नहीं करना पड़ा। अभियुक्त को फांसी से हलकी सजा देना उन्होंने कानून और सुप्रीम कोर्ट की शान के खिलाफ समझा। वास्तव में वह हेस्टिंग्स या अन्य गवर्नर-जनरल की भी शान के खिलाफ होता। अंगरेज जाति या कंपनी का आतंक जमाने के लिए नन्दकुमार जैसे बाधक या विरोधी को सदा के लिए नष्ट कर देना ही उन्होंने अपना कर्तव्य समझा।

* "नन्दकुमार एँड इम्पे"।

नन्दकुमार के बैरिस्टर ने उसे क्षमा-प्रदान कराने की बड़ी चेष्टायें कीं भी तो सफल न हो सका । मुबारकुद्दौला ने एक आवेदन-पत्र भेजकर बताया कि किसी भी दृष्टि से नन्दकुमार ऐसे दंड के योग्य न था, पर चीफ जस्टिस से उसे डांट-फटकारकर औरों को भी भयभीत कर दिया । सबसे आश्चर्यजनक बात यह हुई कि कौंसिल में हेस्टिंग्स के विरोधियों ने भी नन्दकुमार की ओर से सुप्रीम कोर्ट को आवेदनपत्र भेजने या भिजवाने में कोई दिलचस्पी नहीं ली। उनमें फ्रान्सिस हेस्टिंग्स का कट्टर दुश्मन था और अपनी उद्देश-सिद्धि के लिए नन्दकुमार का उपयोग भी कर चुका था। पर वह भी गाढ़े दिन उसके काम न आया । एक लेखक का अनुमान है कि उसका दृष्टिकोण यह था कि हेस्टिंग्स को कलंकित करने और उसे नीचा गिराने में, नन्दकुमार जीवित रहकर मेरी जितनी सहायता कर सकता है उससे कहीं अधिक फांसी चढ़ जाने पर कर सकेगा !

नन्दकुमार बड़ा प्रपंची था, इसमें संदेह नहीं। पर अंगरेजों की सहायता का उसे एक दिन उनसे यह पुरस्कार मिलेगा, यह संसार के लिए कल्पनातीत था । उसके शुभचिन्तकों में हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे, पर हिंदुओं को विशेष दुःख पहुंचाने वाली बात यह थी कि वह कुलीन ब्राह्मण था और दीवान भी रह चुका था।

बरसों बाद भी जब बर्क के प्रयत्न से गड़े मुर्दे उखाड़े गये तब हेस्टिंग्स ने अपनी सफाई में नन्दकुमार को भला-बुरा तो बहुत कहा, पर स्पष्ट शब्दों में उसके अभियोग को निराधार न बता सका । मुन्नी बेगम उसे डेढ़ लाख रुपया देना स्वीकार कर चुकी थी । उसके संबंध में हेस्टिंग्स का यही कहना था कि यह रकम

उसे मुर्शिदाबाद में खिलाने-पिलाने पर खर्च करने के लिए दी गई थी। कई अंगरेज इतिहासकारों ने भी इसके लिए उसकी निन्दा की है। अगर यह मान भी लिया जाय कि उसने डेढ़ लाख से एक रुपया अधिक नहीं लिया तो भी अपने अधिकार का यह भयंकर दुरुपयोग ही कहा जा सकता है कि "गवर्नर की हैसियत से जिसे सब मिलाकर २०००० और ३०००० पौंड के बीच मिल रहा था उसने मुर्शिदाबाद जाने पर आतिथ्य का खर्च भी नवाब से ले लिया और वह भी २२५ पौंड प्रति दिन के हिसाब से*।"

जहां हीरालाल साह से लेकर महताबराय तक उन्नति ही उन्नति होती गई थी वहां खुशालचंद के समय से अवनति आरंभ हुई और अठारहवीं शताब्दी का अन्त होते होते इस वंश की आभा का अवसान हो गया।

इसके कारण बताये गये हैं महताबराय और स्वरूपचंद के मारे जाने से सेठ-वंश को लगने वाला धक्का और खुशालचंद की अपनी फजूलखर्ची।

इसमें संदेह नहीं कि वह धक्का जबर्दस्त था और उसने इमारत के कुछ हिस्से को गिरा दिया तो बाकी को डांवाडोल कर दिया।

खुशालचंद अपव्ययी थे, यह भी निराधार नहीं जान पड़ता। उनके परिवार का माहवारी खर्च प्रायः एक लाख रुपया था। "मुताखरीन" का अनुवादक लिख गया है कि १७८० में भी सेठ-परिवार में सब मिलाकर प्रायः चार हजार व्यक्तियों का

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी, भाग ५।

भरण-पोषण होता था जिसमें १२०० स्त्रियां थीं। कहा गया है कि जब क्लाइव चलने लगा था तब उसने खुशालचंद को तीन लाख रुपये की वार्षिक वृत्ति दे जाने की इच्छा प्रकट की थी, पर इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया था।

पर उस अवनति और अवसान का प्रधान कारण कुछ और था। अंगरेजों की अमलदारी हो जाने पर जब सारी व्यवस्था ही बदल चुकी थी और राजनीति के साथ अर्थनीति का भी सूत्र-संचालन लंदन या कलकत्ते से होने लगा था तब यह आशा तो दुराशामात्र ही हो सकती थी कि जगत्सेठ-परिवार पहले की ही तरह समृद्धि-शाली और प्रभावशाली बना रहेगा।

जब दीवानी मिल जाने पर कंपनी खुद इंतजामकार हो गई थी और मुर्शिदाबाद से खालसा-दफ्तर भी कलकत्ते चला गया था तब सरकार से उनका पुराना संबंध तो विच्छिन्न हो गया था और जो जल पहले मुर्शिदाबाद जाकर एकत्र हुआ करता था वह अब शासन-प्रणाली के बदल जाने से और ही जगह जाने और वहां के पेड़-पौधों को सिक्त करने लगा था।

शासन के साथ वाणिज्य-व्यापार की भी प्रणाली बदलने लगी थी और जहां कलकत्ते की उन्नति हो रही थी वहां प्रान्त के अन्तर्गत पुराने नगर दिन दिन अवनत होते जा रहे थे।

१७७० के दुर्भिक्ष और महामारी के कारण बंगाल की आधी या एक तिहाई* आबादी नष्ट हो गई, फिर भी अंगरेजों

---

* हेस्टिंग्स का अनुमान एक तिहाई का था पर और अंगरेज प्रत्यक्षदर्शियों ने ही आधे की हानि बताई थी। टामसन और गैरेट का अनुमान है कि उस समय

ने अपना रास्ता नहीं छोड़ा। उनकी राजनीति लुटेरों की ही बनी रही और वे अपनी लूट के क्षेत्र का विस्तार करते ही गये। जल के अभाव से इस देश के पेड़-पौधे तो सूखने लगे और इंगलैंड में हरियाली बढ़ने लगी। मराठे अगर एक बार लाख-करोड़ लूटकर ले भी गये थे तो वह एक आकस्मिक घटना थी जो अनिष्टकर होते हुए भी जगत्सेठ के लिए विशेष चिन्ताजनक नहीं कही जा सकती थी। पर अंगरेजों के आधिपत्य और उनके द्वारा निरन्तर होती रहने वाली लूट की बात और थी। १७५७ के बाद घटने वाली शृङ्खलाबद्ध घटनाओं ने सारी स्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया और प्रान्त में खुशहाली न रहने पर खुशालचंद के घराने के लिए भी खुशहाल बने रहना असंभव हो गया।

मुर्शिदाबाद की पुरानी टकसाल १७७७ तक बंद नहीं हुई थी। पर कंपनी की ओर से वहां के सिक्कों के बारे में शिकायत होने लगी थी और उसे बंद करा देने के लिए कंपनी मुबारकुद्दौला पर दबाव डालने लगी थी। कुछ ही समय बाद वह टकसाल बंद कर दी गई और मुद्राप्रसार पर भी कंपनी का एकाधिपत्य हो गया।

उसी साल खुशालचंद को गवर्नर-जनरल से इस बात की शिकायत करनी पड़ी कि उसके आदेशानुसार उनकी कोठी ने कर्नल गोडार्ड को तीन लाख रुपये की हुंडी दे दी थी। उसकी रकम

जन-संख्या प्रायः डेढ़ करोड़ थी, और मरने वालों की संख्या कम से कम तीस लाख। उनका यह भी कहना है कि जब इतने लोग "बेवफादारी से मरकर" सरकार के लिए एक विकट समस्या खड़ी कर गये तब मुहम्मद रजा खां ने राजस्व में दस प्रतिशत वृद्धि कर, सारी कमी को जिन्दा रह जाने वालों से पूरा करा लिया--"राइज ऐंड फुलफिलमेंट आव ब्रिटिश रूल इन इंडिया"।

कलकत्ते में मिलने वाली थी, पर वहां वालों ने यह कहकर भुगतान करने से इन्कार कर दिया था कि उस समय उनके पास कुल एक लाख रुपया मौजूद था और उन्हें तीन लाख कर्म्मचारियों का वेतन चुकाने के लिए ही चाहिए था ।

१७८० में खुशालचंद ने राजा चेतसिंह को इस बात से आगाह किया कि बनारस के अनूपदास और ब्रजनिर्वाणदास के जिम्मे उनका कुछ रुपया पावना था और उसकी वसूली में उन्हें कठिनाई हो रही थी । इस पर चेतसिंह ने उन दोनों कर्जदारों को कहलाया कि सेठों का पावना शीघ्र से शीघ्र चुका दो ।

खुशालचद अन्त समय तक कोठवाली का काम करते रहे, पर किसी बड़े पैमाने पर नहीं। बनारस के गोपालदास* की कोठी उनके जीवनकाल में ही आगे बढ़ने लगी थी और शीघ्र ही उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक प्रसिद्धि पाने वाली थी । मुर्शिदाबाद से राजश्री विदा हो चुकी थी और उसके साथ ही जगत्सेठ को अपने घर से लक्ष्मी के प्रस्थान की सूचना मिल चुकी थी ।

पर चंचला लक्ष्मी के रूठ जाने पर भी खुशालचंद अन्त तक मुक्तहस्त बने रहे । पारसनाथ तीर्थ में जैन-मंदिरों के जीर्णोद्धार और निर्माण के लिए उन्होंने जो कुछ दान दिया वह उनकी धर्म्म-निष्ठा के साथ उनकी उदारता का परिचायक था ।

* विशेष प्रसिद्ध मनोहरदास के पिता और आसाम के वर्तमान गवर्नर श्री श्रीप्रकाश जी के पूर्वज । इनकी कोठियां कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, पटना, गया, गाजीपुर, मिर्जापुर, इलाहाबाद, लखनऊ, बरेली, जयपुर, नागपुर, सूरत, बंबई, मछलीबंदर, मद्रास, टांडा, फूलपुर, आगरा, दिल्ली, पूना, अहमदाबाद और बड़ौदा में बताई गई हैं--"कैलेंडर आव पर्शियन कारेसपान्डेन्स", भाग ७ ।

१७८३ में उन्होंने हेस्टिंग्स के पास एक आवेदन-पत्र भेजकर कंपनी के कोषाध्यक्ष के पद की याचना की । उस समय हेस्टिंग्स दौरे पर था, पर उसने उन्हें सहानुभूति-पूर्ण उत्तर देकर अपने परिवार का पुराना पद प्राप्त हो जाने की आशा दिलाई। कलकत्ते लौटने पर उसे मालूम हुआ कि खुशालचंद बीच में ही कलेवर बदल चुके थे। उस समय उनकी अवस्था प्रायः चालीस वर्ष की थी।

इससे प्रायः चार वर्ष पूर्व उनके एकमात्र पुत्र गोकुलचंद का देहान्त हो चुका था और वह अपने भतीजे हरखचंद को गोद ले चुके थे । यही उनके उत्तराधिकारी हुए।

इस अवसर पर वारेन हेस्टिंग्स ने नवाब मुबारकुद्दौला को लिखा कि हरखचन्द के लिए कंपनी की ओर से खिलअत के साथ झालरदार पालकी, रत्न-जटित पगड़ी, सरपेच, मोतियों के हार और कुंडल वहां भेज दिये गये हैं ; आप अपनी ओर से उन्हें जगत्सेठ-उपाधि से अंकित एक मोहर प्रदान कर सम्मानित कर देंगे और उनके या उनके परिवार के साथ परंपरागत व्यवहार में कभी किसी तरह की त्रुटि न होने देंगे ।

टिप्पणी

(१) पृष्ठ ३८५—अलीवर्दी खां के समय से दामों में इधर कितनी तेजी आ गई थी इसका पता १७६४ में मीर जाफर की जियाफत पर खर्च होने वाली रकम से चलता है। कौंसिल की ओर से इस अवसर पर जो सीधा उसके पास भेजा गया था उसका कुछ व्योरा यह था:—

		रु०	आ०
४०	मन चावल	७५	०
८	मन दाल	२०	०
५	मन घी	७७	०
६	मन तेल	५१	०
३॥	मन नमक	४	६
५	मन चीनी	३६	०
६	मन मिठाई	९०	०
१	मन मुरब्बा	१९	०
१	मन बादाम और किशमिश ..	३१	४,
८	मन तक्र	३१	०
५०	खस्सी	५०	०

(२) पृष्ठ ३८६—बंगाल में पहले दो प्रकार के प्रधान दीवान हुआ करते थे—दीवाने कुल या दीवान सूबा और दीवान खालसा। मुर्शिदकुली के समय से दीवानी और निजामत दोनों पर एक ही व्यक्ति का अधिकार हो चला, इसलिए दीवाने सूबा का कोई अर्थ नहीं रह गया। फिर भी वह पद बना रहा। उसपर जिसकी नियुक्ति होती वह प्रधान मंत्री समझा जाता। यह पद नवाब या नाजिम के किसी आत्मीय को ही मिल सकता था। मंत्रित्व तो वह नाममात्र को ही करता, पर वेतन में उसे बड़ी जागीर अवश्य मिल जाती। जो नायब दीवान होता उसी पर कार्यभार

रहता। सरफराज़ खां, नवाजिश मुहम्मदखां, मीरन—दीवान सूबा रह चुके थे और हाजी अहमद, राजा जानकीराम, राजा दुर्लभराम, महाराज नन्दकुमार—नायब दीवान।

राजस्व-विभाग का प्रधान अधिकारी दीवान खालसा कहा जाता था। इस पद पर प्रायः किसी हिन्दू की ही नियुक्ति होती थी जिसे रायरायां का खिताब भी मिलता था। आलमचंद (नायब दीवान होने से पहले), चैनराय, कीर्ति (कीरत) चन्द, उम्मेदराय आदि दीवान खालसा हुए थे।

शाह आलम से ईस्ट इंडिया कंपनी को दीवानी मिल जाने पर जो कुछ प्रधानता रही नायब दीवान की। नवाब की निजी धन-सम्पत्ति की देखरेख का काम करनेवाला दीवानेतन कहा जाता था। निजामत से नवाब का सरोकार न रह जाने पर भी वह तो नाजिम कहाता रहा और उसका खास दीवान दीवाने निजामत। इसे मदारुलमिहाम भी कहते थे। मुहम्मद रजा खां, राजा गुरुदास (नन्दकुमार का बेटा), राजा महानन्द (गुरुदास का बेटा) आदि १७६५ के बाद दीवान निजामत हुए थे। नज्मुद्दौला के समय में और उसके बाद भी मुहम्मद रजा खां नायब दीवान के पद पर था।

(३) पृष्ठ ४११—जगतसेठ महताबराय क्लाइव को मीर जाफर से जो जागीर दिला चुके थे वह कंपनी के संचालकों और उसके बीच खास झगड़े का कारण बन चुकी थी। १७६० में विलायत लौटने पर क्लाइव को अपने स्वत्व की रक्षा के लिए जमीन आसमान एक करना पड़ा था। उसने संचालकों को डराया-धमकाया; उन्हें अपने अनुकूल बना लेने के लिए कुछ भी उठा न रखा—फिर भी सफल न हो सका। उनका कहना था कि कंपनी के कर्म्मचारी को ऐसा पुरस्कार ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं हो सकता था। क्लाइव का कहना था कि न तो आपकी ओर से कोई निषेध था, न मेरी ओर से कोई प्रतिज्ञा थी—फिर नवाब ने अपनी मर्जी से जो कुछ दिया उसे मैं क्यों ग्रहण न करता? जागीर कंपनी से कुछ गांवों की मालगुजारी पाने के अधिकार के रूप में थी। जहां पहले कंपनी खुद नवाब या सरकार

को मालगुजारी दिया करती वहां अब क्लाइव को देने के लिए वाध्य हो गई थी। एक प्रकार स्वामी तो सेवक और सेवक स्वामी बन गया था। अगर पुराना सिलसिला न बदलता तो कंपनी का जो पावना नवाब के जिम्मे निकलता उसमें यह मालगुजारी मिनहा हो जाती और उसको कुछ देना न पड़ता। पर क्लाइव के जागीरदार या हकदार हो जाने पर कंपनी के लिए माल न अदा करने का कोई कारण नहीं हो सकता था।

क्लाइव ने यह कहना और कहलाना शुरू किया कि "कृतघ्नता और नीचता की हद हो गई। जिसने पलासी के मैदान में कंपनी के सिर पर ताज रख दिया उसी के साथ ऐसा बर्ताव ! जिसकी बदौलत कंपनी अपन दामन मोतियों से भरने लगी है उस उपकारी को चौबीस परगने का माल देने से भी उसके संचालक इनकार कर रहे हैं !!" पर संचालक-समिति के कठोर-हृदय पदाधिकारियों पर इस प्रचार का कुछ भी प्रभाव न पड़ सका और वे विरोधी बने ही रहे।

क्लाइव इंगलैण्ड पहुंचते ही पार्लमेंट का मेम्बर बन चुका था। लार्ड की उपाधि भी पा चुका था। उस समय का राजनीतिक वातावरण और ही था जिसमें वोटों की खरीद-बिक्री हुआ करती और एक 'सीट' की कीमत प्रायः २००० पौंड समझी जाती। जो अंगरेज हिन्दुस्तान में मालामाल हो कर इंगलैण्ड लौटते वे वहां "नवाब" कहे जाते। इनके सम्बन्ध में किसी ने यह व्यंग्योक्ति की थी कि अगर किसी "नवाब" से कोई भीख भी मांगता है तो उसे उत्तर मिलता है कि "दोस्त, लाचारी है। इस समय तो देने लायक लाल-जवाहर मेरे पास मौजूद नहीं।" क्लाइव के लिए "नवाब" बन जाना और भी आसान था। पर पार्लमेंट और शाही दरबार में उसके मददगार होते हुए भी वह कंपनी की संचालक-समिति पर विजय न पा सका। वहां समिति का उपाध्यक्ष सुलीवान उसका शत्रु बना ही रहा और उसके कारण बहुमत उसके अनुकूल न हो सका।

उस समय कंपनी की सारी पूंजी ३,२००,००० पौंड थी। हिस्सेदारों का अपना "कोर्ट" था और संचालकों या डाइरेक्टरों का अपना। इन संचालकों

की संख्या २४ थी । संच.लक होने के लिए कम से कम २००० पौंड का हिस्सेदार होना आवश्यक था । यह चुनाव हर साल होता और इसमें वही भाग ले सकते जो कम से कम ५०० पौंड के हिस्सदार होते । नियम था कि हिस्से चाहे जितने भी हों, प्रत्येक हिस्सेदार एक ही वोट दे सकेगा । क्लाइव ने सुलीवान को पछाड़ने के लिए संचालकों के चुनाव में भाग लेने का निश्चय कर उसी मार्ग का अवलम्बन किया जिस पर चलकर प्रभावशाली व्यक्ति इस नियम की उपेक्षा करते आये थे । उसने बाजार में विभिन्न नामों स १ लाख पौंड के शेयर खरीद कर अपने पक्ष में २०० वोट निश्चित कर लिये। फिर भी १७६३ के निर्वाचन में उसे मुंह की खानी पड़ी और न तो वह स्वयं संचालक-समिति का सदस्य बन सका न वह अपने प्रधान शत्रु सुलीवान को ही हटा सका । संचालकों ने कलकत्ते यह आदेश भेजा कि जागीर की माल-गुजारी क्लाइव के प्रतिनिधि को न दी जाय। क्लाइव ने अदालत में कंपनी पर दावा दायर कर दिया । कानूनी लड़ाई शुरू हो गई। कंपनी की ओर से उत्तर दिया गया कि जागीर देने का बंगाल के नवाब को कोई अधिकार न था— यह अधिकार तो दिल्लीश्वर को ही हो सकता था और संभव था कि एक दिन कंपनी को सारे रुपये के लिए जिम्मेवार होना पड़े। क्लाइव का प्रत्युत्तर था कि अगर मीर जाफर को कुछ भी देने का अधिकार न था तो कंपनी की अपनी हकीअत के बारे में क्या कहा जा सकता था—उसे मीर जाफर से जो कुछ मिल चुका था उस पर उसका अपना क्या अधिकार हो सकता था ?

मामला विचाराधीन ही था कि इस देश में मीर कासिम से कंपनी की लड़ाई छिड़ गई और फरवरी १७६४ म यह खबर इंगलैण्ड पहुंची कि कई अंगरेज मारे जा चुके थे—बंगाल में स्वयं कंपनी विपन्न हो रही थी। इसका शेयर-बाजार पर असर पड़ना और उससे शेयरहोल्डरों में घबराहट फैलना स्वाभाविक था। चारों ओर से यह मांग आने लगी कि परिस्थिति को काबू में ले आने और कंपनी को खतरे से बचाने के लिए पलासी-विजेता क्लाइव फिर बंगाल भेजा जाय । वास्तव में क्लाइव भाग्यशाली था । जो यह कहने लगे थे कि अव्वल तो उसने बंगाल या बिहार में कोई

ऐसी बहादुरी दिखाई ही नहीं थी और अगर बहादुर कहा भी जा सकता था तो उसके साथ भ्रष्टाचारी, नीच और कृतघ्न भी था, उन आलोचकों को मौन हो जाना पड़ा और उसके विरोधियों की ही निन्दा होने लगी। क्लाइव ने इस अवसर से खूब ही लाभ उठाया और जब उसे फिर कलकत्ते जाने को कहा गया तब अपनी शर्तों को मंजूर कराके ही वह जहाज पर सवार हुआ। मार्च-अप्रैल में होने वाले संचालक-निर्वाचन में उसने अपने शत्रु सुलीवान को पछाड़ दिया ; नये गवर्नर की हैसियत से अपने लिए विशेष अधिकार प्राप्त कर लिये ; और उसकी दृष्टि से सब से बड़ी बात यह हुई कि संचालकों ने दस साल के लिए उसकी जागीर पर उसका या उसके प्रतिनिधि का अधिकार रहने दिया——यद्यपि आगे के लिए यह नियम कर दिया गया कि बिना उनकी इजाजत के कंपनी का कोई भी कर्म्मचारी ४,०००) से अधिक किसी भी पुरस्कार के रूप में न ले सकेगा।

बंगाल पहुँचकर जब क्लाइव ने शाह आलम से कंपनी के लिए दीवानी हासिल कर ली तब उसे अपने देश में सुयश के साथ धन कमान का भी अच्छा अवसर मिल गया। कारण कि यह समाचार वहां पहुँचने से पहले ही उसन अपने एजंट की मार्फत कंपनी के शेयर 'पोते' करा लिये थे।

१७६७ में बंगाल से घर लौटने पर क्लाइव ने ऐसा प्रपंच रचा कि उसकी जागीर की मीआद और दस साल बढ़ा दी गई।

पर कुछ ही समय बाद उसके विरोधियों का जोर फिर बढा और पार्लमेंट ने उसके कारनामों की खास तौर से जांच कराई। वहां तो बहुमत ने उसे अपराधी नहीं ठहराया पर लोकमत उसके पक्ष में न हो सका। बल्कि उसे लगा कि जिन लोगों से उसे शाबाशी मिलनी चाहिए थी वे भी मन ही मन उसे धिक्कारने लगे थे। इंगलैण्ड के बादशाह (जार्ज तृतीय) ने भी अपने एक खत में यहां तक लिख दिया था कि क्लाइव की "लूट" का समर्थन करना देश के हित की उपेक्षा ही कही जा सकती थी। इन बातों का नतीजा यह हुआ कि क्लाइव के अंतिम दिन सुख-शान्ति से न बीत सके। व्यावहारिक माप-

दंड से जीवन में पूर्णतः सफल होते हुए भी उसन २२ नवम्बर १७७४ को अपने गले पर आप ही छुरा चला कर आत्मघात कर लिया।

(४) पृष्ठ ४२३—पार्लमेंट-द्वारा जांच होन पर यह साबित हुआ था कि १७५७ और १७६६ के बीच, कंपनी और उसके कर्म्मचारी, विभिन्न अवसरों पर मीर जाफर, मीर कासिम, नज्मुद्दौला, शुजाउद्दौला आदि स अपन कहे अनुसार प्राय: ६७ लाख पौंड पा चुके थे। यह रकम दो भागों में विभक्त थी—पुरस्कार और क्षतिपूर्ति। 'पुरस्कार'-सम्बन्धी विवरण पाने वालों के अपने बयान के ही आधार पर यह था—

(क) पुरस्कार		पौंड
(१) मीर जाफर को पहली बार गद्दी दिलाते समय		२,०१६,७०५
	पौंड	
क्लाइव (नकद)	२३४,०००	
" (जागीर से होने वाली आय*)	७९२,५००	
	१,०२६,५००	
गवर्नर ड्रेक	३१,५००	
मेजर किलपैट्रिक, वाट्स, स्क्राफ्टन, लशिंग्टन आदि अधिकारी	३८४,२०५	
स्थल-सेना और जल-सेना	५७७,५००†	
	२,०१९,७०५	

*यह आय ३०,००० पौंड वार्षिक थी। यहां २६ साल ५ महीने की अर्थात् दिसम्बर १७५७ से मई १७८४ तक की आय शामिल कर ली गई है।

†इसमें से क्लाइव का हिस्सा २२,५०० पौंड हुआ था। वह उसके नाम पड़ने वाले २३४,००० पौंड में शामिल है।

(२) मीर कासिम को गद्दी दिलाते समय		२००,२६९
(३) मीर जाफर को दूसरी बार गद्दी दिलाते समय		४३७,४९९
	पौंड	
स्थल-सेना	२९१,६६६	
जल-सेना	१४५,८३३	
	४३७,४९९	
(४) १७६४ में मेजर मुनरो और उसकी सेना		६२,६६६
	पौंड	
मेजर मुनरो* (बलवन्त सिंह से)	१०,०००	
" (शुजाउद्दौला से)	३,०००	
मेजर मुनरो के अफसर "	३,०००	
" के सैनिक (बनारस के व्यापारियों से)	४६,६६६	
	६२,६६६	
(५) नज्मुद्दौला को गद्दी दिलाते समय, स्पेंसर, जान्स्टन, मिडल्टन आदि		१३९,३५७
(६) १७६५ में सेनापति कारनक		३२,६६६
	पौंड	
" (बलवन्त सिंह से)	९३३३	
" (शाह आलम से)	२३,३३३	
	३२,६६६	
(७) १८६६ में क्लाइव (मीर जाफर की बेगम से)		५८,३३३
जोड़		२,९५०,४९५

*मुनरो कारनक की तरह क्लाइव का कृपापात्र न था, इसलिए उसे जो इनाम देने का शाह आलम और मीर जाफर वादा कर चुके थे वह उसे न मिल

खुशालचंद

		पौंड
(ख) क्षतिपूर्ति		
(१) मीर जाफर को पहली बार गद्दी दिलाते समय		२,१५०,०००
	पौंड	
कंपनी	१,२००,०००	
अंगरेज व्यापारी	६००,०००	
हिंदुस्तानी ,,	२५०,०००	
अरमनी ,,	१००,०००	
	२,१५०,०००	
(२) मीर कासिम को गद्दी दिलाते समय		६२,५००
(३) मीर जाफर को दूसरी बार ,, ,,		६७५,०००
	पौंड	
कंपनी	३७५ ०००	
व्यापारी	६००,०००	
	६७५,०००	
(४) शुजाउद्दौला को १७६५ में गद्दी दिला देने पर		५८३,३३३
		३,७७०,८३३
(क) और (ख) का जोड़		६,७२१,३२८ पौंड*

(५) पृष्ठ ४२९—कुछ लेखक भूल से यह लिख गये हैं कि लुत्फुन्निसा ने अपने पति के कारागार में ही प्राण त्याग दिये थे। उदाहरणार्थ, कविवर नवीनचन्द्र सेन के "पलाशिर युद्ध" में ऐसी ही बात मिलती है—

सका। अन्त में उसके लड़ने-झगड़ने पर कंपनी ने उसे बक्सर की लड़ाई जीतने के पुरस्कार के रूप में दो लाख रुपये दिये।

*बोल्ट्ज के दिये हुए (संशोधित) विवरण के आधार पर। इसके ६ करोड़ से अधिक रुपये हुए।

"रुधिर-स्रोत, शोक के कारण, श्रान्त, भ्रान्त-सी हो गई,
बैठ न सकी लेटकर दुखिया, शीघ्र सदा को सो गई!"

—'मधुप' कृत हिन्दी अनुवाद।

वास्तव म लुत्फुन्निसा १७८७ में भी जीती-जागती थी। उस साल उसन गवर्नर-जनरल के पास एक आवेदन-पत्र भेजकर उसका ध्यान अपनी दीन-हीन अवस्था की ओर आर्कषित किया था और अपनी मासिक वृत्ति में बढ़ती की प्रार्थना की थी। उससे जान पड़ता है कि नवाब नाजिम हो जाने पर मीर जाफर ने उसकी वृत्ति ६००) मासिक नियत की थी, पर १७८७ में उसे अपनी पोतियों के हिस्सेदार हो जाने के कारण १००) ही मिल रहा था। इनमें दो उस समय भी कुंवारी थीं—कैलेन्डर आव पर्शियन कारेसपान्डेन्स, भाग ७।

परिशिष्ठ

(१)

खुशालचन्द के बाद

हरखचंद को जगत्सेठ की पदवी गवर्नर-जनरल की सिफारिश पर मुबार-कुद्दौला से मिली। अब इसके लिए भी शाह आलम की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी।

इस देश में नाम की महिमा सदा से ही बड़ी रहती आई है। 'जगत्सेठ' पदवी उस समय हरखचंद के परिवार के लिए अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु रही होगी।

यथार्थ बात यह थी कि उनके लिए नगर-सेठ की पदवी भी अतिशयोक्ति ही होती।

वारेन हेस्टिंग्स पाप का घड़ा सिर पर लेकर फरवरी १७८५ में इंगलैंड के लिए रवाना हुआ। पार्लमेंट में बर्क, फाक्स आदि ने उस पर कितने ही अभियोग लगाये और उस मामले की सुनवाई हाउस आव लार्ड्स में समय समय पर सात साल तक होती रही। अन्त में हेस्टिंग्स को कोई दंड तो न मिला, पर वह बरबादी से न बच सका।

हेस्टिंग्स के प्रस्थान से पहले ही मुर्शिदाबाद के सराफ वहां फिर टकसाल खुलवाने का निष्फल प्रयत्न कर चुके थे। उसके पास जो आवेदन-पत्र भेजा गया था उस पर हस्ताक्षर करने वालों में जगत्सेठ हरखचंद के पिता सुमेरचंद, शंभुचरण दत्त, गोकुलचंद, गोपालदास,* संन्यासीदास आदि महाजनों के हस्ताक्षर

---

*बनारस वाली कोठी के मालिक।

थे । जगत्सेठ की ओर से १७८६ में फिर ऐसी ही चेष्टा की गई । पत्र में कंपनी का ध्यान मुद्रा के अभाव के कारण उपस्थित होने वाले संकट की ओर आकर्षित किया गया और "व्यापारी, सराफ, किसान" सब की भलाई के लिए मुर्शिदाबाद में टकसाल खोलने की अनुमति मांगी गई। पर वह अनुमति नहीं मिली ।

"मुताखरीन" के अँगरेजी अनुवादक ने पूर्वापर की तुलना करते हुए लिखा था कि "फतहचंद के समय में जगत्सेठ के लिए, दो करोड़ (वह भी केवल आरकाटी रुपयों में) लुट जाने पर भी, सरकार को पचास लाख से एक करोड़ तक की दर्शनी हुंडी देते जाना साधारण बात थी। आज कल के जगत्सेठ १७८७ में १४०,०००) की हुडी का भी भुगतान कर सके हैं तो कई किस्तों में ही।" अपने धन का अधिकांश या तो खुशालचंद स्वयं लुटा चुके थे या उनके मरने पर वह जहां तहां डूब चुका था । उनके परिवार में किंबदन्ती* यह चली आई है कि जो निधि गड़ी हुई थी उसका वह सहसा मर जाने के कारण किसी को पता न बता सके थे । अपने चचा गुलाबचंद से वरासत में कुछ धन पाकर ही हरखचंद अपने नाम की थोड़ी लाज रख सके थे ।

कहा गया है कि हरखचंद निस्संतान थे ; एक वैरागी के उपदेश से उन्होंने विष्णु की आराधना की और वैष्णव† हो गये । उन्होंने ही वह विष्णु-मंदिर बनवाया जिसका उल्लेख ऊपर (पृष्ठ ६०) हो चुका है। पर यह होते हुए भी, इनका परिवार जैनी ही बना रहा। इनके दो पुत्र हुए जिनमें एक का नाम इंद्रचंद रखा गया और दूसरे का विष्णुचंद । हरखचंद के बाद इंद्रचंद जगत्सेठ हुए, और संवत् १८७६ में इनके २७ वर्ष की ही अवस्था में मर जाने पर, इनके पुत्र गोविन्दचंद।

गोविन्दचंद को कंपनी ने "जगत्सेठ" स्वीकार नहीं किया, जिसका कारण संभवतः यह था कि आर्थिक स्थिति और भी खराब हो जाने के कारण वह

---

* मि० लिट्ल ।

† "मुर्शिदावाद गैजेटियर ।"

अपने घर के पुराने जेवर बेच बेच कर ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे थे। पर १८४३ में कंपनी ने उन्हें १२००) की मासिक वृत्ति देना स्वीकार कर लिया।

गोविन्दचंद की १८६४ में मृत्यु हुई। उनके भी कोई पुत्र न था पर वह १८४५ में गोपालचंद को गोद ले चुके थे। इन्हें सन् १८५२ में बहादुर शाह सानी से महाराज की पदवी मिली। गोपालचंद और विष्णुचंद के पुत्र कृष्ण (किशन) चंद के आवेदन करने पर भी सरकार ने मासिक वृत्ति को १२००) की जगह ८००) कर दिया और वह भी इस शर्त के साथ यह रुपया कृष्णचंद को ही मिला करेगा और यह वृत्ति परिवार-मात्र के भरण-पोषण के लिए समझी जायगी। इस पर महाराज गोपालचंद ने आपत्ति की तो भारत-सचिव ने निर्णय किया कि ८००) में से ३००) के हकदार वह होंगे। यह गोपालचंद को स्वीकार न हो सका। इनकी मृत्यु हो जाने पर जगत्सेठ की स्त्री गुलाब (गोलाप) चंद को १८७८ में गोद ले चुकी थी। जगत्सेठानी को सेठ कृष्ण (किशन) चंद के मर जाने के बाद ३००) मासिक वृत्ति मिलने लगी, पर १८९१ में उनके मर जाने पर वह बिलकुल बंद कर दी गई।

गुलाबचंद के ही समय में १ ली मार्च १९०२ को तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड कर्जन मुर्शिदाबाद गया। इतिहास-प्रेमी होने के कारण उसने महिमापुर के खंडहरात जा देखे और वहां उसे सेठ-परिवार को मुगल बादशाहों से मिले हुए फरमानों और जेवरों के अलावा, पंद्रहवीं शताब्दी के बाद के कुछ दुष्प्राप्य सिक्के देखने का भी अवसर मिला। जिस फरमान के द्वारा फर्रुखसियर ने फतहचंद को "सेठ" की उपाधि दी थी उसे गुलाबचंद ने कलकत्ते की "विक्टोरिया मेमोरियल" नामक संस्था को समर्पित कर दिया।

महिमापुर में प्राचीन सेठ-भवन का भागीरथी के प्रकोप से बचा हुआ भाग १८९६ के भूकंप में ध्वस्त हो चुका था। इसलिए गुलाबचंद ने वहां से थोड़ी ही दूर पर अपने परिवार के लिए एक नया मकान बनवा लिया था। उनकी १९१२ में मृत्यु हुई और उनके उत्तराधिकारी उनके पुत्र––फतहचंद और उदयचंद हुए। सरकार ने इस घराने की पुरानी पदवी को बरसों बाद फिर

स्वीकार कर लिया । इसलिए बड़े भाई फतहचंद उस क्षेत्र में भी "जगतसेठ" ही कहाने लगे ।

(२)

जगत्सेठ-वंश

इंडियन हिस्टारिकल रेकर्ड्स कमीशन का पांचवां अधिवेशन १९२३ में कलकत्ते में हुआ था । उसके लिए प्रसिद्ध जैन विद्वान् और पुरातत्त्व-प्रेमी स्वर्गीय बाबू पूर्ण चन्द नाहर ने एक लेख अंगरेजी में मुर्शिदाबाद के जगत्सेठों की वंशावली के सम्बन्ध में लिखा था । उसका सारांश यह है :—

"अप्रकाशित जैन लेखों और हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के दौरे में मुझे मुर्शिदाबाद के जगत्सेठों की वंशावली का एक लिपिबद्ध वृत्तान्त मिला । १९२१ में जब मेरी मि० लिट्ल से मुलाकात हुई, उन्होंने मुझसे अपनी संगृहीत सामग्री के आधार पर जगत्सेठों का एक वंशवृक्ष तैयार करने का अनुरोध किया । मि० लिट्ल उस समय इस परिवार का सच्चा और सविस्तर इतिहास लिखने की तैयारी कर रहे थे, और कुछ ही दिन पहले, इंडिया आफिस के कागजात की छान-बीन कर, इंगलैण्ड से लौटे थे । मैंने उनके अनुरोध का सहर्ष पालन किया और अपनी जानकारी के अनुसार जगत्सेठों का एक वंशवृक्ष तैयार किया । मि० लिट्ल को वह और प्रचलित वंशवृक्षों की अपेक्षा अधिक पूर्ण और प्रामाणिक जँचा, और वह अपने ग्रन्थ में, जैसा कि उन्होंने मुझे लिख भेजा, उसका सन्निवेश कर देने के इच्छुक थे । पर इसी बीच उनकी असामयिक मृत्यु हो गई और उनका विचार विचार ही रह गया । यही कारण है कि मुझे अपने अनुसन्धान का फल आज स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करना पड़ा ।

"जगत्सेठों की जाति जैन और कुल ओसवाल है । यहां उस कुल का इतिहास देने के लिए स्थान नहीं है । उस पर एक खासी बड़ी पुस्तक लिखी जा सकती है, क्योंकि वास्तव में वह मारवाड़ के कुछ क्षत्रिय कुलों का वैदिक धर्म परित्याग कर जैन धर्म में दीक्षित होने का इतिहास है । यहां इतना ही कहना

बस होगा कि इस कुल के लोगों ने पहले पहल, जोधपुर राज्य के ओसिया नामक स्थान में जैन धर्म की दीक्षा ली थी, और इसी कारण वे ओसवाल कहलाये । जगत्सेठों का गोत्र गेल्हड़ा है। कहा जाता है कि सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य जिन हंससूरि ने गिरिधर सिंह नामक एक गुहलोट-वंशी राजपूत को जैन धर्म में दीक्षित किया। गिरिधर के पुत्र का नाम गेलाजी था, और उसी के समय से इस वंश का गोत्र गेल्हड़ा कहाने लगा । इस कुल के लोग जैन सम्प्रदाय के पार्श्वनाथ गच्छ के अनुयायी होते हैं । जगत्सेठों की वंशावली में हमें सबसे पहले सिंहराज का नाम मिलता है । फिर अक्षयराज का, फिर करमचन्द का । करमचन्द के ही पुत्र हीरानन्द थे जो नागौर छोड़ कर पटने में आ बसे । उनके सात पुत्र और एक कन्या थीं। उनके पांचवें पुत्र सेठ मानिकचन्द की बड़ी स्त्री मानिक देवी की प्रेरणा से किसी कवि ने "भूपाल चतुर्विंशतिक" नामक काव्य की रचना की थी । उसकी एक सचित्र हस्तलिखित प्रति इस समय भी रह गई है और उसी के प्रशस्तिश्लोक में हीरानन्द से लेकर उनके पौत्रों तक की सच्ची वंशावली मिलती है । उस प्रति में किसी सन्-सम्वत् का उल्लेख नहीं है, पर उसमें जो नाम दिये गये हैं वे वयःक्रम के अनुसार हैं। यह बात उस हिन्दी पुस्तिका के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती जो उस घराने के पास चली आती है और जिसका अनुवाद मि० लिट्ल ने अपने लेख के अन्त में दिया है। जगत्सेठों की वंशावली-विषयक कुछ बातें एक दूसरे हस्तलिखित ग्रन्थ में भी मिलती हैं। सम्वत् १७७७ (सन् १७२० ई०), फाल्गुन कृष्ण २, शुक्रवार को इसकी रचना पूरी हुई थी, और यह ग्रन्थ भी उक्त मानिक देवी की ही प्रेरणा का फल था। मेरे लेख का आधार एक और ग्रन्थ है जिसे जगत्सेठ इन्द्रचन्द के किसी सम्बन्धी ने लिखा था, और जिसमें जगत्सेठों के परिवार का संक्षिप्त विवरण संकलित है। ग्रन्थ नागरी लिपि में है और इसमें विक्रम-सम्वत् के साथ हिजरी साल भी दिया हुआ है। मुझे यह ग्रन्थ अपने स्वर्गवासी पिता राय सिताबचन्द नाहर बहादुर के करकमलों से प्राप्त हुआ था। पर मैंने उसे तो जगत्सेठ घराने को भेंट कर दिया और अपने पास उसकी नकल रख ली।

"हन्टर ने अपने "स्टैटिस्टिकल एकौन्ट आव् बंगाल" (भाग ९, पृष्ठ २६४) में शुगोलचन्द और होशियालचन्द का नामोल्लेख किया है। पर यह ठीक नहीं है। पारसनाथ पहाड़ी की मूर्तियों या पादुकाओं पर खुशालचन्द बिरानी का नाम खुदा हुआ मिलता है। यह मानिक देवी के सगोत्री थे। हन्टर ने १८१६ के एक ऐसे लेख का जिक्र किया है जिसमें रूपचन्द जगत्सेठ का नाम आता है। पर मुझे आज तक वह लेख कहीं देखने को न मिला। सच तो यह है कि पारसनाथ की किसी भी पादुका या बिंब पर ऐसा कोई प्राकृत या संस्कृत लेख अंकित नहीं जिसमें किसी भी जगत्सेठ का नामोल्लेख हो। हां, महिमापुर में जगत्सेठों की ठाकुरबाड़ी में मुझे चांदी की एक ऐसी मूर्ति अवश्य मिली थी जिसके पीठ पर सेठ मानिकचन्द के साथ उनकी धर्मपत्नी मानिक देवी का नाम अंकित था। यह लेख संवत् १७७६ (सन् १७१९ ई०) का है; और मैं इसे अपने "जैन लेख-संग्रह" में प्रकाशित कर चुका हूँ। वहां इसका नम्बर ७६ वां है। संवत् १८३० (सन् १७७४ ई०) के दो लेख और हैं, जिनके नम्बर क्रमशः ५९ और ६० हैं। मुर्शिदाबाद जिले में जियागंज से करीब एक मील उत्तर, कीरतबाग मन्दिर में, काले पत्थर की दो भव्य और विशाल मूर्तियां हैं; और इन लेखों के मूल उन्हीं के पीठों पर अंकित हैं। दोनों ही लेखों में गेल्हड़ा गोत्र के जगत्सेठ फतहचन्द, उनके पुत्र सेठ आनन्दचन्द और उनकी पुत्री अजबो बाई का नामोल्लेख मिलता है। उनसे यह भी ज्ञात होता है कि अजबो बाई का विवाह कमलनयन के पुत्र उदयचन्द से हुआ था, जिनका गोत्र गांधी था। कीरतबाग मन्दिर में ही दो लेख और मिले, जिनके नम्बर ६१ और ६२ हैं। इनमें केवल कमलनयन, उदयचन्द और अजबो बाई का नामोल्लेख है। इसी साल का एक और महत्वपूर्ण लेख है, जिसने मेरे ग्रन्थ में २६० वां नम्बर पाया है। इसका मूल राजगृह के एक मन्दिर मे पादुका पर अंकित है। उसमें इस परिवार के गोत्र के साथ जगत्सेठ फतहचन्द, उनके पुत्र आनन्दचन्द, उनके पौत्र महताबराय और उनकी स्त्री शृंगार देवी के नाम पाये जाते हैं। सम्वत् १८११ (सन् १७५४ ई०) का एक और लेख है (नं० ८६) जिसमें काशी के स्वर्गबासी राजा शिवप्रसाद सितारएहिन्द के पूर्वज

नभाचन्द, अमरचन्द और मुहकम सिंह की नामावली मिलती है। सभाचन्द आगरे के राय उदयचन्द के पुत्र थे और प्रथम जगत्सेठ फतहचन्द के सगे भाई।"

उपर्युक्त लेख

नं० ७६

सं० १७७६ वैशाख शुक्ल ५ तिथौ। ओसवाल वंशीय श्रेष्ठ श्री माणिकचंद जी स्वधर्म पत्नी माणिक देवी प्रतिष्ठित श्रीमत् चतुर्विंशति जिन बिंब चिरं जयतात्। श्रेयोस्तु। भद्रं भवतु।

नं० ५९

प्रथम पंक्ति—श्री सं० १८३० माघ शुक्ल ५ चन्द्रे श्री पार्श्वचन्द्र गच्छे श्री हर्षचंदजी नित्यचन्द्रजीत्कानामुपदेशेन

द्वितीय पंक्ति—ओसवंशे गांधी गोत्रे साहजी श्री कमल नयन जी तत्पुत्र सा० उदयचन्द्रजी तत्धर्मपत्नी तथा ओस वं० गहलड़ा गोत्रे जगत्सेठजी श्री फतेचन्द्र जी तत्पुत्र सेठ आ

तृतीय पंक्ति—णन्द चन्द्रं जी तत्पुत्री बाइ अजबोजी श्री मत्पार्श्वनाथ बिंबं कारापितं। प्रतिष्ठितं च वि० सूरिभि: श्री भानुचन्द्रेर्णोत आचंद्रार्कचिरं नन्दतात् भद्रं भूयाच्च श्रियं।

नं० ६०

प्रथम पंक्ति—श्री सं० १८३० माघ शुक्ल ५ चन्द्रे श्री पार्श्वचंद्र गच्छे श्री हर्षचद्रं जी नित्यचन्द्रजीत्कानामुपदेशेन

द्वितीय पंक्ति—ओस वं० गांधी गोत्रे सा० श्री कमलनयन तत्पुत्र सा० उदयचन्द्र जी तत्धर्मपत्नी तथा ओस वंशे गहलड़ा गोत्रे

तृतीय पंक्ति—जगत्सेठ श्री फतेचन्द्र जी तत्पुत्र सेठ आनन्दचन्द्रजी तत्पुत्री बाइ अजबोजी श्री वासुपूज्य बिंबं कारापितं प्र० सूरि श्री भानुचन्द्रणेति भूयाच्छिवं सदा।

नं० ६१

प्रथम पंक्ति—सं० १८३० वर्षे माघ शुक्ल ५ चन्द्रवासरे ओस वंशे गांधी गोत्रे सा० श्री कमल नयनजी तत्पुत्र सा०

द्वितीय पंक्ति—उदयचन्द जी तद्भार्या बाइ अजबोजीकेन श्री प्रथम आर्य दिन्न गणधर पादुका कारापितं।

नं० ६२

प्रथम पंक्ति—सं० १८३० वर्षे माघ शुक्ल ५ सोमे गांधी गोत्रे सा० श्री कमल नयन जी तत्पुत्र सा०

द्वितीय पंक्ति—श्री उदयचन्द्र जी तत्धर्मपत्नी बाइ अजबोजीकेन श्री बासुपूज्य प्रथम सुभूमं गणधर

तृतीय पंक्ति—पादुका कारापितं।

नं० २६०

प्रथम पंक्ति—श्री सम्वत् १८३० माघ शुक्ल ५ चन्द्रे ओस वंशे गहलड़ा गोत्रे जगत्सेठजी श्री फतेचंदजी तत्पुत्र सेठ आणंद चन्दजी तत्पुत्र जगत्सेठ

द्वितीय पंक्ति—जी श्री महताब राय जी तद्धर्मपत्नी जगत्सेठ णी जी श्री शृंगार देवी श्री मदेकादश गणधर पादुका कारापितं। स्था० राजगृह नगरोपरि वैभार गिरौ।

नं० ८६

ओं भगवते नमः। सम्वत् अठारह मैं ग्यारह (१८११) कृष्ण द्वादसी भृगु वैशाख। ओसवाल कुल गोत्र गोखरू श्री मज्जैन धर्म की साख। सभाचन्द के अमरचन्द सुत जिन सुत मुहकम सिंह सुनाम। तिनके धाम रायमन्दिर यह भागीरथी तीर विश्राम।

(३)

राजा शिवप्रसाद सितारएहिंद का वंश-परिचय

"भाषा कल्पसूत्र" नाम की पुस्तक १८८७ में लखनऊ के मुंशी नवलकिशोर प्रेस से छप कर प्रकाशित हुई थी। उसकी भूमिका में राजा शिवप्रसाद सितारए हिन्द ने "कुछ बयान अपने खानदान का और कारण इस ग्रन्थ के छपने का" दिया है। राजा शिवप्रसाद का वंश वही है जिसमें पहले जगत्सेठ का जन्म हुआ था। उक्त भूमिका यहां ज्यों की त्यों उद्धृत की जाती है:—

"पुराने कागजों से मालूम होता है कि जयपुर की अमलदारी में रणथंभौर के बीच जो एक बड़ा मशहूर किला है (वहां ?) संवत् १०४५ के दर्मियान परमार वंशी शाखेश्वरी श्रेष्ठि धांधल हुआ। उसके कोई लड़का न था। जैन धर्म पालक पूज्य श्री जयप्रभुसूरि गुरु के प्रतिबोध से अछुप्ता देवी की आराधना की। देवी ने स्वप्न में वर दिया। देवी के हस्तपुट में पत्रपुष्प और गोखरू था, इसी से जब लड़का हुआ उसका नाम गोखरू रखा, और उसी से गोखरू गोत्र चला। सम्बत् १०९१ में देहरा बनाया; जयप्रभुसूरि ने प्रतिष्ठा कराई, श्री शत्रुञ्जय का संघ निकाला। उसका लड़का धर्मण, उसका कर्मण, उसका पुहपा, उसका भग्गा, उसका अवका, उसका तोला, उसका मेहका, उसका हीरा, उसका मेघा, उसका भाणा। जब सम्वत् १३३५ में सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने रणथंभौर का किला तोड़ा, भाणा अपने लड़के नायक समेत बादशाह के साथ चंपानेर चला आया। नायक का बेटा खीमा, उसका जयवन्त, उसका बीरा, उसका गोरा संवत् १४८५ में अहमदाबाद में आ बसा। उसका बेटा अभयड़, उसका बासा, उसका बस्ता, उसका बहला, उसका शिवसी, उसका कर्मसी, उसका रांका, उसका श्रीवन्त, उसका पदमसी। सम्वत् १६८४ में पदमसी साह खंभात में आ बसा। वहां उसने श्री कल्याणशागर सूरि से श्री पार्श्वनाथ स्वामी का स्फटिकमय बिम्ब प्रतिष्ठित कराया; पांच सोने के कल्पसूत्र और चार मोती के पूठे भेंट किये; श्री शत्रुंजय का संघ निकाला; पुस्तक-भंडार भरा।

"उसके दो बेटे थे, श्रीपति और अमरदत्त। अमरदत्त ने शाहजहां बादशाह को एक ऐसा हीरा नजर किया कि बादशाह ने प्रसन्न होकर राइ की पदवी बख्शी और दिल्ली ले गया। उसके दो लड़के हुए, राइ उदयचन्द और केसरी सिंह। राइ उदयचन्द के चार लड़के—राइ जगत्मित्रसेन, सभाचन्द, फतहचन्द और राय सिंह। फतहचन्द ने कहत्साली में गल्ला सस्ता करने के कारण मुहम्मदशाह से जगत्सेठ की पदवी पाई, लेकिन अपने बहू-बेटे समेत मुर्शिदाबाद में, अपने मामू सेठ माणिकचन्द, नागौर वाले हीरानन्द साह के बेटे की गोद जा बैठे। हीरानन्द साह की बेटी धनबाई राइ उदयचन्द को ब्याही थी। राइ सभाचन्द के राइ अमरचन्द, और राइ अमरचन्द के राइ मुहकम सिंह और राजा डालचन्द।

"नादिरशाही में घर के दो आदमी कतल होने के कारण राइ मुहकम सिंह और राजा डालचन्द दिल्ली छोड़कर मुर्शिदाबाद आ बसे। निदान शाहजहां से ले कर मुहम्मदशाह तक, बल्कि नाम को शाह आलम और नव्वाब वजीर आसफुद्दौला तक, बादशाही जवाहिरखाने की मुकीमी तो खानदानी उहदा रहा, लेकिन और भी बहुत से काम भाई, बेटे, भतीजों के सुपुर्द थे। कोई मंसबदार था, कोई सूबों की साइर का इजारदार था। कोठियां जा बजा जारी थीं; खजाने हाथ में थे; चैन से गुजरती थी; धन दौलत रखने की मानो जगह बाकी न रही थी।

"इस अर्से में बंगाल के सूबेदार नव्वाब नाजिम कासिम अली खां ने जुल्म पर कमर बांधी। रअय्यत तंग आई। जनाने में हरदम खौफ लगा रहता था कि नव्वाब बेइज्जत कर डाले। नाचार अंगरेजों से जा मिले। रुपये की मदद दी, नव्वाब पर चढ़ा लाये। नव्वाब को खबर हो गई। राइ मुहकम सिंह का परलोक हो चुका था। राजा डालचन्द और जगत्सेठ फतहचन्द के पोते जगत्सेठ महताब राय को पकड़ मंगाया और कैद किया। घर में सलाह हुई कि राजा डालचन्द अपने बाप के अकेले हैं और जगत्सेठ फतहचन्द की औलाद बहुत। पस, पहरेवालों को मिलाकर राजा डालचन्द के बदले जगत्सेठ महताब राय के चचेरे भाई सरूपचन्द तो कैदखाने में चले आये। (क्या समय

था !) और राजा डालचन्द वहां से भाग कर बनारस में नव्वाब वजीर सूबेदार अवध की हिमायत में आ बसे । कासिम अली खां इतना ही जानता था कि दो भाई जगत्सेठ कैद हैं । जब भागा तो दोनों को साथ ले लिया, मुंगेर पहुँच कर तीरों से मार डाला । चुन्नी नाम एक खिदमतगार साथ था । जुदा होने को बहुत समझाया, न माना । जब नव्वाब तीर मारता था, सामने आ खड़ा हो जाता था—मानो दोनों भाइयों की ढाल बनता था । जब चुन्नी मर कर गिर लिया है तब दोनों भाइयों के तीर लगा है (कैसे नौकर थे !)। हमारी दादी कहती थीं कि उस काल जनाने में सब लोग बारूत बिछा कर बैठते थे कि जो नव्वाब के आदमी बेइज्जत करने आवें, आग लगा कर उड़ जावें । परन्तु भगवान की कृपा से जल्द ही शहर में अंगरेजों की डौंड़ी पिटी । लोगों के जी में जी आया, सूखा धान फिर लहलहाया ।

'यह राजा डालचन्द हमारे घराने के मानो भूषण हो गये । अजब पुरुष थे । तत्त्वज्ञान और योगाभ्यास के प्रभाव से कहते हैं कि उनके पांव के नीचे चींटी नहीं मरती थी । खेचरी सिद्ध हुई थी, जिव्हा भृकुटी के मध्य तक पहुँचती थी । आसनादिक और धोती नेती वजीली की क्या बात है, सब सिद्ध थी और खेचरी ही मुद्रा कर के देहत्याग किया । संस्कृत, पारसी, अरबी, बंगला, वृजभाषा अच्छी तरह जानते थे; ज्योतिष और वैद्यक में भी निपुण थे । बहुतेरे ग्रन्थ नये रचे, बहुतेरे तर्जुमा अर्थात् भाषान्तर हुए । हाथी घोड़े की सवारी, लकड़ी, बांक, पटा, तीरंदाजी, गाना-बजाना, तैरना सब में पूरे थे । घड़ीसाज की क्रिया, बढ़ई की, सुनार की, लुहार की, जड़िये की, पटुए की, बेगड़ी की, दर्जी की, जर्दोज की, मुलम्मेसाज की, मुसव्विर की सारी क्रिया अपने हाथ से कर सकते थे । और फिर वैसे ही उदार और सूर भी थे । जिस समय राजा चेत सिंह और वारन हेस्टिंग्ज का बखेड़ा हुआ, नव्वाब इब्राहीम अली खां ने कहला भेजा कि हम वारन हेस्टिंग्ज की रिफ़ाकत के बाइस नाहक मारे जाते हैं। उसी दम जनानी डोली भेज कर चुपचाप बुलवा लिया और अपने मकान में छुपा रक्खा। ऐसे समय में कौन किसके साथ दोस्ती निभाता है और साहस करके अपनी जान खतरे में डालता है ?

"उनके बेटे राजा उत्तमचन्द* ने जिन्होंने लखनऊ वाले राजा बछराज की बेटी ब्याही थी, पुत्रहीन होने के कारण अपनी बहिन बीबी रत्नकुंअर के बेटे बाबू गोपीचन्द को गोद लिया। और उन्हीं के बेटे राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने अपने दोनों पुत्र कुंवर सच्चित्प्रसाद और कुंवर आनन्दप्रसाद की बहुएं और अपनी बहिन बीबी गोविन्द कुंवर की खातिर, जो जैन धर्म की निरन्तर अवलम्बी हैं, इस ग्रन्थ को कि जब से राजा डालचन्द ने भाषा में बनवाया† एक ही प्रति घर में रहा था, उद्धार करके अर्थात् छपवा के अमर किया। जो पढ़ें सुनें, दया करके असीस दें कि धर्म में रति रहे, परलोक सुधरें और कुबुद्धि कभी पास न फटकने पावे। शुभं भूयात्।"

(४)

मानिकचंद के भाई

इस पुस्तक का विषय मानिकचन्द और उनके वंशजों का ही वृत्तान्त है। पर हम देख चुके हैं कि हीरानन्द साह के छः और पुत्र थे, जिनमें (संभवतः) चार

---

* बाबू श्याम सुंदर दास ने राजा शिवप्रसाद सितारएहिंद को बाबू गोपीचंद का पुत्र और राजा डालचंद का पौत्र बताया है (पृष्ठ १८२-८३)। यह भूल जान पड़ती है। राजा बच्छराज के संबन्ध में द्रष्टव्य पृष्ठ ४६७।

† यह संवत् १८३८ की बात है। भाषान्तरकार कोई रामचन्द नामक कवि थे। कल्पसूत्र का मूल प्राकृत वाणी में था; और राजा डालचन्द के कहने से ही कवि रामचन्द ने उसका "भाषा" में अनुवाद किया। अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है:—

"......जिन जन कुल परसंस, गोत्र गोखरू जैनमत ओस-बंस-अवतंस। सभाचन्द नरराय कै अमरचन्द वरराय, तिनके सुत कुलचन्द नृप डालचन्द सुखदाय। सुधराई के सुघर अरु सौहृद सुहृद् सुवान, सुभ सौभाग्य सुभाग्य अरु सुठ सौजन्य सुजान। गुनगाहक गुनवान पै निर्गुन ग्यान निधान, समी दमी नियमी यमी हमी तमी भ्रमभान।"

मानिकचन्द से बड़े थे । आपस में बँटवारा हो जाने पर वे कहां गये और क्या करने लगे ? इतिहास में इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। हां, यह किंवदन्ती चली आती है कि उनकी भी उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों में—बंगाल के बाहर—कोठियां थीं और उनका कार-बार भी काफी बढ़ा-चढ़ा था।

मि० लिट्ल ने अपने जगत्सेठ-संबंधी लेख में उनके अस्तित्व पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की है । जान पड़ता है कि एक विशेष अवसर पर कंपनी के कर्मचारियों को मानिकचन्द के भाई-भतीजे से कुछ काम पड़ गया। भतीजे से काम पड़ा इस बात का ऐतिहासिक आधार है, पर भाई से काम पड़ा यह मि० लिट्ल का अनुमान-मात्र है।

जो हो, मि० लिट्ल की बात सुनने लायक है:—

"१७१५ में जब जान सरमन कलकत्ते से रवाना होने लगा तब कौंसिल ने उसे दिल्ली के दो महाजनों के नाम चिट्ठियां दे कर कहा कि रुपये की जरूरत हो तो इनसे कर्ज ले लेना। एक चिट्ठी लालबिहारी सेठ के नाम थी, दूसरी जुगलकिशोर सेठ के नाम । पर इनसे कुछ काम न चला। २० जुलाई १७१५ को सरमन लिखता है—"रुपया कहीं न मिला। लालबिहारी तो देने से साफ इनकार करता है या देगा भी तो बड़े कड़े सूद पर। जुगलकिशोर इस समय आगरे में है। उसे इस विषय में पत्र लिख भेजा है, पर सफलता की आशा कम है । कौंसिल दूसरे महाजनों के नाम चिट्ठियां भेज कर यह समस्या हल कर सकती है।" कलकत्ते से पत्रद्वारा दूसरी व्यवस्था की गई। सरमन ने कंपनी के "प्रेसिडेन्ट और कौंसिल" पर हुंडी कर "गुलालचन्द साह" की कोठी से रुपया लिया । ६ अक्टूबर को वह कौंसिल को लिखता है कि गुलालचन्द साह का गुमाश्ता कह रहा था कि कौंसिल ने हुंडी सकार तो ली, पर उसका भुगतान अभी तक नहीं किया है। सरमन को ९ अप्रैल १७१७ को फिर रुपये की जरूरत पड़ी । इस बार उसने २५,०००) की हुंडी कर काम चलाया। उस हुंडी के मजमून से जान पड़ता है कि इस बार जान सरमन ने रुपया "किशोरी किशनचन्द" के गुमाश्ते से लिया ।

"५ जुलाई को सरमन दो हुंडियां करता है एक १२,०००) की, दूसरी १३,०००) की। रुपये देने वाले थे दिल्ली के "किशोरी किशनचन्द" के गुमाश्ते। पर इसके बाद की एक चिट्ठी में, सरमन इन हुंडियों का जिक्र करता हुआ लिखता है कि "यह रकम गुलालचन्द साह की कोठी से ली गई है।" क्या सरमन से यहां कोई भूल हो गई है ? या क्या एक ही कोठी दो नामों से चलती थी और "गुलालचन्द साह" तथा "किशोरी किशनचन्द" में कुछ भी फर्क न था ? बात चाहे हो, हम इतना जानते हैं कि ये हुंडियां किसी न किसी प्रकार गुलालचन्द साह के हाथ में आईं और उनके द्वारा मानिकचन्द की कोठी को बेच दी गईं। गुलालचन्द साह ने खुद पटने में सरमन से शिकायत की कि 'सुनने में आया है कि कंपनी ने हुंडियों के रुपये देने में सैकड़े २) बट्टा काट लिया है।' उन्होंने सरमन से कहा कि 'मानिकचन्द की कलकत्ते की कोठी से पक्की खबर मंगा दो कि हुंडियों का पूरा पूरा भुगतान हुआ या नहीं।'

"सरमन अपने एक पत्र में कौंसिल को सूचित करता है कि हमने मित्तरसेन को दिल्ली में कंपनी का गुमाश्ता मुकर्रर किया है। वह यह भी लिखता है कि "मित्तरसेन का छः महीने का वेतन हम गुलालचन्द साह की कोठी में जमा करा आये हैं, और उसके नाम की सारी चिट्ठियां गुलालचन्द साह की कोठी के पते पर जानी चाहिए"। पर दूतदल की डायरी में यह प्रस्ताव मिलता है कि "मित्तरसेन को प्रति मास १००) देने के लिए मि० जान सरमन मुरलीधर के पास ६००) जमा करा दें।" अर्थात् रुपया तो "किशोरी किशनचन्द" की कोठी में जमा कराना निश्चित हुआ, पर कौंसिल को लिखा गया कि "गुलालचन्द साह" की गद्दी में जमा कराया गया है।

"आगरे में दूतदल ने खुद "किशोरी किशनचन्द" से रुपये लिये, कोड़ा जहानाबाद में उनके गुमाश्तों से। पर एक चिट्ठी जो कलकत्ते भेजनी थी और एक लँगड़ा ऊँट जिसे बेच देना था "गुलालचन्द साह" के गुमाश्तों को सौंपे गये। इलाहाबाद में सरमन ने "किशोरी किशनचन्द" से फिर रुपये लिये। बनारस में उसे कर्ज लेने की जरूरत न पड़ी।

"इस विवरण से पता चलता है कि उस समय उत्तर भारत में एक बड़ी कोठो थी, जिसका कार-बार पटने से आगरे तक फैला हुआ था। पटना संभवतः कार्य्य-केन्द्र था और वहां का काम-काज गुलालचन्द साह देखते थे। आगरे में प्रधान शाखा थी और वह किशोरी किशनचन्द की देख-रेख में थी। इन स्थानों के बीच में भी इस घराने की कितनी ही शाखा-प्रशाखायें थीं।

"क्या इस घराने का मुर्शिदाबाद के सेठ घराने से कोई सम्वंध था ?

"इस प्रश्न का उत्तर देते समय एक कठिनाई उपस्थित होती है। हीरानन्द साह के किसी भी पुत्र का नाम गुलालचन्द साह न था। पर बहुत संभव है नाम वास्तव में गुलाबचन्द साह था, सिर्फ किसी कातिब की गलती से 'ब' की जगह 'ल' लिखा गया, और परवर्ती इतिहासकार आंख मूंद कर वही गलती दोहराते गये। हम देख चुके हैं कि दिल्ली के जिन महाजनों के नाम कौंसिल ने शुरू में चिट्ठियां दी थीं उनमें से किसी ने सरमन को रुपया न दिया। जान पड़ता है, ऐसी अवस्था में कौंसिल ने मानिकचन्द से सहायता मांगी और मानिकचन्द ने अपने भाई की कोठी का नाम बता दिया।

"मित्तरसेन कौन था? अवश्य ही यह शब्द मित्रसेन का अपभ्रंश है। इतिहास से ज्ञात होता है कि राय मित्रसेन मानिकचन्द के दत्तकपुत्र फतहचन्द का बड़ा भाई था, और वह १७३९ के कत्ले आम में मारा गया था।

"यह तो मानी हुई बात है कि मानिकचन्द के और भाई भी उत्तर भारत के जहां-तहां व्यवसाय करते थे। यहां केवल यही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि कंपनी के दूतदल को जिस कोठी से लेन-देन का काम पड़ा था वह मानिकचन्द के भाई गुलाबचन्द की ही कोठी थी।"

मि० लिट्ल का विचार है कि सरमन की डायरी में जहां 'गुलालचन्द साह' आया है वहाँ वास्तव में 'गुलाबचन्द साह' होना चाहिए था और इसी से वह अनुमान करते हैं कि यह नाम मानिकचन्द के भाई का ही था। यहां यह कह देना आवश्यक है कि 'गुलाबचन्द' नाम मि० लिट्ल की दी हुई वंशावली में मिलता है। बाबू पूर्णचन्द नाहर ने जो वंशावली दी है उसमें मानिकचन्द के

भाई का नाम 'गुलालचन्द' मिलता है। इससे मि० लिट्ल के अनुमान की पुष्टि ही होती है। हां, 'मित्तरसेन' को जो उन्होंने फतहचन्द का बड़ा भाई (मित्रसेन) मान लिया है यह आपत्तिजनक जान पड़ता है। क्या उस घराने की अवस्था इतनी दीन-हीन हो गई थी कि मित्रसेन को सौ रुपये पर अंगरेजों का गुमाश्ता होना स्वीकार करना पड़ा था ?

१७३५ के लगभग हम मानिकचन्द के भतीजे लालजी को मुर्शिदाबाद में पाते हैं। लालजी के पिता का नाम सदानन्द था, और उनके मुर्शिदाबाद आने का कारण ईस्ट इंडिया कंपनी से लेन-देन-सँबंधी झगड़ा था। हम देख चुके हैं कि जान सरमन की अध्यक्षता में जो दूतदल दिल्ली भेजा गया था उसके साथ ख्वाजा सरहाद नामक अरमनी व्यापारी भी था। सरहाद को उस यात्रा में कुछ रुपये की जरूरत पड़ी और उसने कंपनी से अपना सम्बन्ध बता कर सदानन्द से कर्ज ले लिया। यह रुपया उसने कभी अदा नहीं किया। इसका कारण यह था कि कंपनी से उसे जो रकम मिलनी चाहिए थी वह उसे मिली न थी। १७३४ के करीब वह दुनिया से चल बसा। सदानन्द को मालूम था कि उसका पावना कंपनी के जिम्मे था और उसने दिल्ली दरबार में दर्खास्त की कि हमें अंगरेजों से रुपया दिला दिया जाय। वहां से नवाब को हुक्म हुआ कि अंगरेजों से सरहाद का पावना अदा करा दो। कुछ समय बाद लालजी स्वयं मुर्शिदाबाद गये और अपने रुपये का कंपनी से तकाजा कराने लगे।

फतहचन्द ने स्वभावत: अपने भतीजे का पक्ष लिया और चेष्टा करने लगे कि उनका रुपया वसूल हो जाय। हाजी अहमद भी हर तरह उनकी मदद करने को तैयार था। अंगरेजों ने लिखा कि हाजी "फतहचन्द को खुश करने के लिए" लालजी को रुपया दिलाना चाहता है। पहले उन्हें रुपया देने की बात मंजूर नहीं हुई। उनका कहना था कि ख्वाजा सरहाद के जिम्मे कंपनी का ही बहुत कुछ पावना रह गया था, वे लालजी का कर्ज कैसे और कहां से चुकाते ? पर अंगरेजों को यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि सरहाद उनसे इनाम पाने का हकदार था, और वह रुपया उसे मिला न था। अन्त में कौंसिल ने कासिमबाजार के प्रधान को लिखा कि "जिन शर्तों पर मुनासिब समझो

फतहचन्द से यह मामला तै कर लो। हां, यह ध्यान रहे कि जो रुपया दिया जाय उसके विषय में लोग यह न समझ लें कि यह लालजी के पावने में दिया गया, बल्कि सब यही समझें कि अंगरेजों ने यह रकम सिर्फ फतहचन्द को खुश करने के लिए दी है।" कासिमबाजार के कर्मचारियों ने अपने वकील को फतहचन्द के पास भेजकर उनके मन की थाह लेनी चाही। उसे आदेश था कि "अपनी ओर से पहले कुछ मत कहना। सिर्फ लालजी के मामले का जिक्र छेड़कर यह अन्दाज लेना कि फतहचन्द कितने से सन्तुष्ट होंगे। हां, उनसे इतना कह देना कि कंपनी लालजी की मांग को जायज नहीं मानती; वह कुछ देकर झगड़ा निबटाने को तैयार है तो सिर्फ आपको खुश करने के लिए। वकील फतहचन्द से दो बार मिला। दूसरी बार फतहचन्द के साथ लालजी भी मौजूद थे। "लालजी ने कहा कि मिलनी तो हमें पूरी रकम चाहिए, पर मामला तै करने के लिए हम दो-तीन हजार कम ले लेने को भी तैयार हैं।" इस पर फतहचन्द बोले कि अंगरेज ऐसी छोटी रकम के लिए इतने दिनों तक अपनी बात पर न अड़े रहते और उन्होंने लालजी को समझा-बुझा कर कहा कि अपनी मांग और कम करो। लालजी ने मुश्किल से १५ हजार रुपया लेना मंजूर किया और अपना अन्तिम प्रस्ताव कर वहां से उठ कर चल दिया। फतहचन्द ने हमारे वकील से कहा कि तुम दो-तीन रोज ठहरो, तब तुम्हारा काम होगा। इससे आशा होती है कि मामला १५ हजार से कम में ही तै हो जायगा।" यही हुआ। कुछ ही दिन बाद फतहचन्द ने अंगरेजों के वकील को बुलवाकर कहा कि लालजी १० हजार पर उतर आये हैं, अब तुम मामला तै कर लेने में देर न करो। कासिमबाजार वालों ने कौंसिल को लिखा—"और कुछ कम होने की कोई आशा न देख हमने अपने वकील को आज्ञा दी कि फतहचन्द की बात मंजूर कर लो। हमें कुल करीब १२ हजार रुपये देने पड़े—१० हजार लालजी साह को और २ हजार उसके कुछ मित्रों को, जिनकी कुछ भेंट करना हमारे लिए बहुत जरूरी था। अगर वे हमारी मदद न करते तो मामला इतने पर ही तै न होता।"

· पृष्ठ १७१ पर इस बात का उल्लेख हो चुका है कि जिस समय सरमन को पटने में अपनी यात्रा स्थगित कर देनी पड़ी थी उस समय फतहचन्द के साथ लालजी वहीं उपस्थित थे और दोनों ने उसे कुछ और सिपाही साथ लेकर ही आगे बढ़ने की सलाह दी थी।

(५)

जगत्सेठ-वंश-वृक्ष

(क)

(जे० एच० लिटूल का दिया हुआ)

- सिंहराज
  - अक्षयराज
    - करमचन्द
      - हीरानन्द साह
        - सेठ मानिकचन्द
          - फतहचन्द (दत्तक पुत्र)
            - सेठ आनन्दचन्द
              - जगत्सेठ महताबराय
                - जगत्सेठ खुशालचन्द
                  - जगत्सेठ हरखचन्द (दत्तक पुत्र)
                    - जगत्सेठ इन्द्रचन्द
                      - जगत्सेठ गोविन्दचन्द
                        - जगत्सेठ गोलापचन्द
                          - जगत्सेठ फतहचन्द
                          - सेठ उदयचन्द
                    - सेठ विशनचन्द
                      - सेठ किशनचन्द
            - सेठ दयाचन्द
              - महाराज स्वरूपचन्द
                - महाराज उद्वन्तचन्द
                  - महाराज कीरतचन्द
                - सेठ अभयचन्द
                  - सेठ दुखालचन्द
                - सेठ महाचन्द
        - गुलाबचन्द
        - नानकचन्द
        - अमीरचन्द
        - सदानन्द
        - दीपचन्द
        - गोवर्द्धन
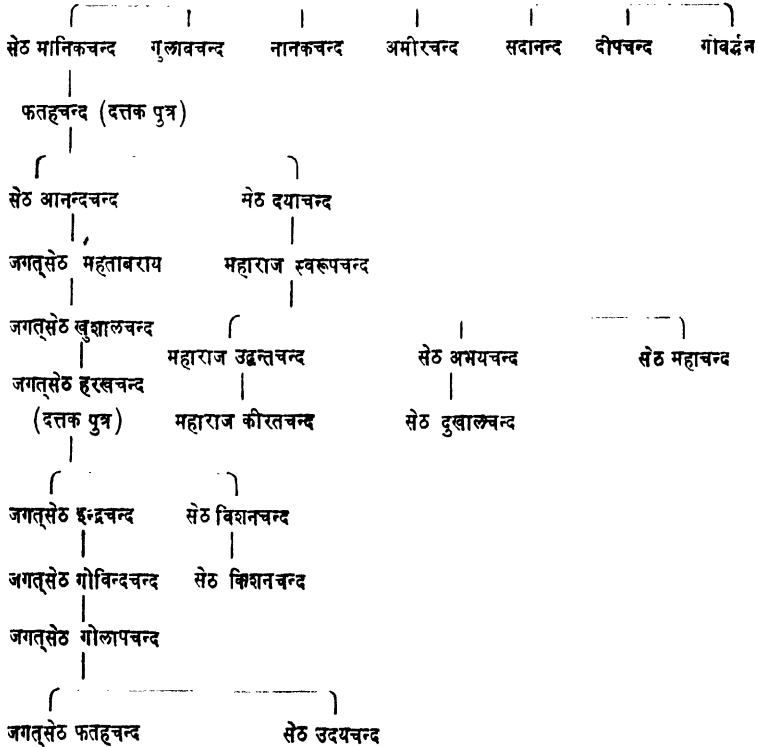
(६)

हालवेल

जान नेफानिया हालवेल अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में ईस्ट इंडिया कंपनी का एक साधारण कर्मचारी था। सिराजुद्दौला के राज्यकाल में, और उसके बाद, चलने वाले घटनाचक्र ने उसे कहीं से कहीं पहुँचा दिया और क्लाइव के प्रस्थान करने पर वह कुछ दिनों के लिए कलकत्ते का गवर्नर भी हो गया। उसमें लिखने-पढ़ने की योग्यता देश-काल के लिहाज से अच्छी थी, पर उसका नैतिक स्तर उस समय भी बहुत नीचा समझा जाता था।

जब सिराजुद्दौला ने फोर्ट विलियम पर घेरा डाला तब अधिकांश अंगरेज तो जान बचाने के लिए जलमार्ग से निकल भागे, पर जो थोड़े से लोग न भाग सके उनमें यह हालवेल भी एक था। उसके साथियों में भी अधिकांश तो मारे गये पर हालवेल किसी प्रकार बच गया। कुछ समय बाद उसने "काल-कोठरी" की कहानी गढ़ कर कंपनी के संचालकों के सामने रखी और अपने लिए सहानुभूति, सद्भाव और पुरस्कार के अतिरिक्त, प्रसिद्धि भी प्राप्त कर ली। पलासी का युद्ध समाप्त हो चुका था; राज्यक्रांति के फलस्वरूप बंगाल के असली शासक अंगरेज हो चुके थे। उनकी दृष्टि से इस प्रकार का प्रचार अत्यन्त आवश्यक था कि क्लाइव ने सिराजुद्दौला के साथ जो कुछ किया था वह प्रतिशोध-मात्र था—अगर इसकी पैशाचिकता "कालकोठरी" में अपनी चरमसीमा को न पहुँच गई होती तो अंगरेजों ने मीर जाफर से मिलकर जो कुछ किया वह संभवतः उन्हें न करना पड़ता। पर ढोल की पोल खुल चुकी है—मि० लिट्ल, डा० भोलानाथ चंद्र, श्री अक्षय कुमार मित्र, सईद अमीन अहमद आदि की गवेषणा के फलस्वरूप यह प्रमाणित हो चुका है कि कालकोठरी की कहानी निराधार थी और जिन १२३ व्यक्तियों के विषय में हालवेल ने लिखा कि वे २० जून, १७५६ को उसमें दम घुट जाने से मर मिटे थे वे या तो उस समय किले में थे ही नहीं या थे भी तो नवाब से होने वाली लड़ाई में मारे गये थे। सारी कहानी झूठी साबित हो चुकी है—लार्ड कर्जन के

बनवाये हुए स्मारक का भी मूलोच्छेद हो चुआ है—पर कुछ 'इतिहास'-ग्रंथ उस बात को दोहराते ही जा रहे हैं!

प्रोत्साहन मिलने पर हालवेल ने इससे भी व्यापक क्षेत्र में प्रवेश किया और प्रामाणिकता को ताक पर रख, भारतवर्ष के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के सम्बन्ध में भी, कितनी ही ऐसी निराधार बातें लिख डालीं जिनका उद्भावक या तो वह स्वयं आप था या उसका कोई खानसामा या बावर्ची। ऐसे सफेद झूठों के प्रचार की दृष्टि से वह समय उसके अनुकूल था। वह जानता था कि इस देश में या अन्यत्र अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में, ऐसी बातों की जानकारी नहीं के बराबर थी—विद्वत्समाज में भी खोटे सिक्के की पहचान असंभव थी।

सरफराज खां और फतहचन्द के सम्बन्ध-विच्छेद का कारण बताते हुए कुछ अंगरेज इतिहासकारों ने हालवेल की बात को ही दोहराया है। हालवेल की इस बात की पुष्टि किसी समसामयिक फारसी इतिहास-ग्रंथ से नहीं होती। "मुताखरीन" और "रियाजुस्सलातीन" ने सरफराज खां के चारित्र के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह यथास्थान उद्धृत हो चुका है। इनके अलावा एक और लेखक यूसुफ अली खां का भी मत उद्धृत कर देने लायक है। वह लिखता है:—"सरफराज खां का चरित्र अत्यन्त विशुद्ध और अनुकरणीय था। जीवन के वसन्तकाल में उसे राज्याधिकार मिला था और सुख-समृद्धि से वह दिनरात घिरा रहता था। पर सत्य के अनुरोध से मुझे यह कहना पड़ता है कि ऐसे वातावरण में भी सरफराज खां इन्द्रियलोलुप न निकला। शासन तो उसने थोड़े ही काल तक किया पर मैं प्रायः बराबर उसके साथ था, और मैं कह सकता हूँ कि मैंने कभी किसी बुरे कार्य की ओर उसकी प्रवृत्ति न देखी। हां, यह सच है कि न तो वह राजनीति जानता था, न संसार को प्रसन्न रखने की विद्या ही। नतीजा यह हुआ कि दुश्मनों की चालबाजी उसे चाट गई।"

यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि जिन मुसलमान लेखकों ने सरफराज खां को सदाचारी बताया है—और उनमें कुछ उसके विपक्षी भी

थे—उन्होंने ही डंके की चोट कहा है कि शुजाउद्दौला परले सिरे का कामुक था। कोई कारण नहीं जान पड़ता कि पिता के चरित-संबंधी दोष पर प्रकाश डालने वाले, पुत्र के वैसे ही दोष पर एकमत होकर परदा डाल देते और जो स्याह होता उसे सफेद बता जाते। हालवेल ने लिखा है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह कानाफूसी के आधार पर। पर वह कानाफूसी और किसी तक न पहुँच सकी, यह स्वयं एक रहस्य जान पड़ता है।

सच्ची बात यह है कि हालवेल झूठा ही नहीं, झूठों का सिरताज था। अपने लिखे हुए इतिहास में जहां कहीं उसने मौलिकता का दावा किया है वहां समझ लेना चाहिए कि या तो उसकी कपोल-कल्पना में सत्य का लेश भी न होगा या होगा भी तो मन भर पानी में छटांक-भर दूध के ही बराबर।

हालवेल की विश्वसनीयता के सम्बन्ध में मि० लिट्ल ने यह मत प्रकट किया है—

"इतिहासकारों की श्रेणी में हालवेल जैसा मिथ्यावादी और ढोंगी आजतक शायद नहीं बैठा। जान जेफ.निया हालवेल को अंगरेजों ने उच्च श्रेणी का लेखक और शूरवीर माना है। १७५६ में जब सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर चढ़ाई की तब हालवेल वहीं था। उसी ने "काल कोठरी" का वृत्तान्त पहले पहल प्रकाशित किया था और सिराजुद्दौला के नाम पर वह कलंक लगाया था जो उसे मिटाने की इतनी चेष्टा होने पर भी, ज्यों का त्यों बना हुआ है। १७६० में क्लाइव के विलायत लौटने पर हालवेल कलकत्ते का गवर्नर हुआ। गवर्नर की कुर्सी पर बैठते ही हालवेल ने मीर जाफर के विरुद्ध षड्यंत्र* रचना शुरू कर दिया और अन्त में उसे मुर्शिदाबाद की मसनद से हटाके ही छोड़ा। कौंसिल इस कार्रवाई के सर्वथा विरुद्ध थी, पर हालवेल ने इस विषय में

---

* १७६६ में क्लाइव और उसकी कौंसिल ने संचालकों को यह सूचित करना अपना कर्त्तव्य समझा कि हालवेल ने मीर जाफर पर जिन हत्याओं का अभियोग लगाया था वे असत्यमूलक थीं। हालवेल के कथनानुसार जितने व्यक्ति मारे जा चुके थे उनमें दो को छोड़कर बाकी सभी उस साल तक जीवित थे।

उसकी सम्मति ही नहीं लेने दी। क्लाइव ने उसकी घोर निन्दा की है। जब वह चलने लगा था तब उसे ऐसे "स्वार्थी और अर्थ-लोलुप" व्यक्ति को अपना कर्त्तव्य-भार सौंपते हुए बड़ा भय हुआ था। उसने लिखा था—"इस व्यक्ति के बुद्धि है, पर मुझे डर है कि इसके हृदय नहीं है। पर गवर्नर के पद के लिए योग्यता और सचाई दोनों ही एक-से आवश्यक हैं, और यही कारण है कि मैं इस व्यक्ति को इस पद के अयोग्य समझता हूँ।" जिस समय सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर चढ़ाई कर अंगरेजों के किले पर घेरा डाल दिया था उस समय जान जेफनिया हालवेल भी वहीं मौजूद था और मर मिटने से बाल बाल बच गया था। इसके लिए वह बड़ा साहसी और कर्त्तव्यपरायण माना गया है। पर उसके समकालीन व्यक्ति अच्छी तरह जानते थे कि बात क्या थी। जल-सेनापति ऐडमिरल वाट्सन के सर्जन ने अपनी भारत-यात्रा के वृत्तान्त में लिखा है कि कंपनी के कर्मचारी-मंडल का विश्वास और ही था। उनका कहना था कि हालवेल ने कलकत्ता न छोड़ा, तो इसका एकमात्र कारण यह था कि वह भागने में असमर्थ था। और तो क्या, क्लाइव ने भी इसी विश्वास की पुष्टि की है। अपने एक पत्र में वह लिखता है—"मुझे पक्की खबर मिली है कि हालवेल की इसमें कुछ भी बहादुरी न थी। अगर उसे सिर्फ एक किश्ती मिल जाती तो वह भी औरों की तरह भागे बिना न रहता।"

"यहां तक जो कुछ लिखा गया उससे स्पष्ट हो गया कि हालवल की जिस वीरता की प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं उसकी असलियत क्या थी। पर हँसी उन लोगों की बुद्धि पर उतनी नहीं आती जिन्होंने उसे वीर माना है, जितनी उन लोगों की बुद्धि पर जो उसे इतिहासकार मानते हैं। हालवेल अगर झूठा था तो धृष्ट भी कम न था। उसने दावा किया है कि "भारतवर्ष का इतिहास लिखने के लिए, मैंने घोर परिश्रम किया। इस देश की प्राचीन और अर्वाचीन अवस्था के विषय में आजतक जो कुछ लिखा जा चुका है मैं सब से परिचित हूँ। हिन्दुओं के सम्बन्ध में आरियन से ले कर अब्बे द गुओं के समय तक जिस ग्रन्थकार ने जो कुछ कहा है, मैं सब जानता हूं। ब्राह्मणों के वेदशास्त्रों में भी मेरी गति है।" पर हालवेल के पहले जो ग्रंथ निर्मित हुए थे, जो ऐतिहासिक प्रयत्न

हुए थे वे सत्य के जिज्ञासु के लिए अत्यन्त भ्रामक, असन्तोषजनक और दोषयुक्त थे, अतएव इस सत्यशोधक को अज्ञान-तिमिर के हृदय पर तेज का वह तीर छोड़ना पड़ा। इस अध्यवसाय और अध्ययन के फलस्वरूप जिन तत्वों का उद्घाटन हुआ, और लोक-हितकामना से प्रेरित हो कर जिन्हें हालवेल ने लेखबद्ध किया, उनकी बानगी पाठकों की भेंट की जाती है।

"अपने इतिहास के लिए सामग्री इकट्ठी करने में हालवेल के तीस बरस लग गये। इस अन्वेषण के फलस्वरूप उसे हिन्दुओं के वेद की दो शुद्ध और अमूल्य प्रतियां हाथ लग गइं। बड़े परिश्रम से हालवेल को यह ग्रंथ-रत्न मिला था, और अठारह महीने उसने उसका अनुवाद करने में बिताये। इसी बीच में १७५६ की दुर्घटना हुई और उस शास्त्र की दोनों प्रतियां और उसके अनुवाद की पांडुलिपि लूट-मार में न जाने कहां खो गई। पर कुछ समय बाद, उसे खोया हुआ धन फिर हाथ लग गया और इसके फलस्वरूप वह संसार को हिन्दुओं के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ 'चतुर्वेद'* का परिचय-प्रदान करने में समर्थ हुआ। हालवेल के समय में इस ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार बहुत कम था, यहां तक कि संस्कृत लिपि में उसे पढ़ने-पढ़ाने वाले घर सारे हिन्दुस्तान में दो ही चार थे। हालवेल ने मूल-ग्रन्थ के दो भागों का अनुवाद अपने इतिहास में दिया है। चतुर्वेद की विषय-व्याख्या भी की है। पर अनुवाद में यत्र-तत्र मूल-ग्रन्थ की शुद्ध प्रति के कुछ शब्द रखने पड़े, इसलिए फुटनोटों में उनका अर्थ समझा दिया गया है। कहीं कहीं आपने कृपा कर पाठकों को यह भी बता दिया है कि आपके अनुवाद का मूल शब्द या मूल वाक्य क्या था। मूल ग्रन्थ के ये ही शब्द या वाक्य हालवेल की कलई खोलते हैं। क्योंकि अनुवाद या फुटनोटों में संस्कृत के जो शब्द आये हैं उनमें "लोग" और "देवता लोग", "महासर्ग" (महास्वर्ग) और "अंधेरा", "सूरजी" और "चन्दर" हैं। कहीं "दुनिया" और "मन्नू लोग" (मानव लोक) हैं तो कहीं "गोइजल बाड़ी" (गोशाला) और "जोग" (युग) हैं। संस्कृत के नाम से कहीं "झोल" पानी के अर्थ में विचर रहा है तो कहीं "हजार पर हजार" डकार ले रहा है। हालवेल ने जिस वाक्य से अपने अनुवाद

* हालवेल के शब्दों में "Chartah Bhade of Bramah."

का श्री गणेश किया है वह है God is one, पर जिस संस्कृत मूल वाक्य का यह अनुवाद है वह है "एक हमेशा"। चौथे वेद का नाम "ब्रह्म का इन्साफ वेद" है, यद्यपि बहुत चेष्टा करने पर भी हालवेल को उसके दर्शन न हो सके। अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। पाठक इतने से ही संतोष करें।

"यदि कहा जाय कि वैदिक साहित्य और सभ्यता पर उस समय तक अंगरेजों के लिए अन्धकार का ऐसा मोटा पर्दा पड़ा हुआ था कि हालवेल से ऐसी भूलें होना क्षम्य था, तो इसका क्या उत्तर है कि उसने मुगल शासनकाल के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बे-सिर-पैर की बातें लिख मारी हैं। १७१९ में शाहजादा निकोसियर ने दिल्ली के सिंहासन पर बैठने की निष्फल चेष्टा की थीं। यह औरंगजेब का पौत्र अर्थात् शाहजादा अकबर का पुत्र था। पर हालवेल उसे उस इतिहास-प्रसिद्ध भारत-सम्राट् अकबर का पुत्र बताता है, जिसकी मृत्यु सौ बरस से भी अधिक पहले हो चुकी थी। कहा गया है कि यदि औरंगजेब के मरणकाल से मुहम्मदशाह के समय तक के इतिहास के लिए हालवेल का ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाय तो एल्फिन्स्टन ने उस समय का जो इतिहास लिखा है उसके संशोधन की आवश्यकता है। और यदि "मुताखरीन" इतिहास कहा जा सकता है तो १७१७ और १७५० के बीच के बंगाल के वृत्तान्त के लिए हालवेल का ग्रन्थ उपन्यास है। हालवेल की मिथ्यावादिता के कितने उदाहरण दिये जायं? उसकी सारी पुस्तक उनसे भरी पड़ी है। जान सरमन की अध्यक्षता में जो दूतदल फर्रुखसियर के पास भेजा गया था उसका उल्लेख हो चुका है। हालवेल ने ऐसी प्रसिद्ध और उसके लिए आधुनिक घटना के संबंध में भी, जो कुछ लिखा है उसका अधिकांश कल्पना-जल्पना-मात्र है। वह कहता है—"जान सरमन फरमान ले कर दिल्ली से लौटा आ रहा था। जब वह मुर्शिदाबाद के पास पहुँचा, तब कुछ समय के लिए वहीं डेरा डाल दिया और जफर खां को इसकी सूचना दी। सरमन को बादशाह से उमरा का खिताब मिला था। अर्थात् उसका दर्जा बंगाल के सूबेदार से कुछ ऊँचा था। स्वभावतः वह इस विचार में था कि पहले नवाब यहां आकर मुझसे मिल ले, तब मैं उसके घर पर जाकर उससे मिलूं। पर नवाब को यह

मंजूर न हुआ । उसने यह तो स्वीकार किया कि सरमन का खिताब उसके खिताब से ऊंचा था, पर उसका कहना था कि मैं बंगाल का नवाब और सल्तनत का तीसरा बड़ा सूबेदार हूँ, इसलिए पहले सरमन को आकर मुझसे मिलना चाहिए , नहीं तो मेरी इज्जत में बट्टा लग जायगा । तीन रोज तक दोनों ओर से दूत आते-जाते रहे, पर किसी ने पहले जाना मंजूर नहीं किया । अन्त में सरमन ने कलकत्ते की राह ली । शान में आकर महज छोटी सी बात के लिए सरमन ने नवाब को खफा कर दिया । यह न सोचा कि फर्रुखसियर के फरमान के अनुसार कार्य होना नवाब की सदिच्छा पर ही निर्भर था।" यह कहानी शुरू से आखिर तक हालवेल के मन की उपज है। सरमन की पूरी डायरी प्रकाशित हो चुकी है। उसकी दिल्ली-यात्रा से संबंध रखने वाले और कागज भी प्रकाशित हो चुके हैं । पर उनमें इस घटना का उल्लेख तक नहीं है। बल्कि सरमन की डायरी से पता चलता है कि वह मुर्शिदाबाद हो कर कलकत्ते लौटा ही नहीं । क्या हालवेल का ग्रन्थ ऐतिहासिक उपन्यास कहाने के भी योग्य है" ?

(७)

"महाराष्ट्र-पुराण"

कई वर्ष हुए, मैमनसिंह जिले में "महाराष्ट्र-पुराण" नामक पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति मिली थी । इसके रचयिता कोई गंगाराम कवि थे, जो इसमें वर्णित घटनाओं के समसामयिक थे। पुस्तक की ऐतिहासिकता की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की है । जगत्सेठ की कोठी लुटने के विषय में इसमें जो कुछ लिखा है वह "मुताखरीन" के बयान से मिलता-जुलता है। पुस्तक "बंगीय साहित्य-परिषत्-पत्रिका" में प्रकाशित हो चुकी है । नीचे मीर हबीब द्वारा लूट-पाट के सम्बन्ध की पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं :—

"तबे बरगि पार* हइल हाजिगंजेर हाटे,
शीघ्रगति आइसा जगत्सेठर बाड़ी लुटे।
आड़काट टाका यत घरे छिल,
घोड़ार खुरचि भइरा सब टाका निल।
तबे सओ दुइ-तिन टाका छड़ाइया,
शीघ्रगति गेला बरगी गंगा पार हइया।
तबे फकीर-फाकीरा, गिरस्त जन छिल,
सेई सब टाका तारा लुटिते लागिल।
तबे काटयांते नवाब साहिब सुनिल,
जगत्सेठर बाड़ी बरगि लुइटा गेल।
एतेक कथा यदि हरकरा कहिल,
काटयां हइते नवाब शीघ्र चलिल।
राता राती तबे नवाब आइला मोनकरा,
भोर हइते तबे पहुछिला डेरा।
तबे हाजि साहेब के नवाब अनेक बुलिल
"एतेक लस्कर रहते बाड़ी लुइटा गेल" !

---

* जगत्सेठ की कोठियां भागीरथी के दोनों ओर थीं, पर पश्चिम तट की अपेक्षा पूर्व तट विशेष सुरक्षित होने के कारण वह अपना कोश उसी ओर की पुरानी कोठी में रखते आये थे। मराठों के मार्ग में भागीरथी गगा या पद्मा के समान बाधक बनने वाली न थी। फिर गंगाराम ने 'लूट' का धन दो करोड़ न बता कर इतना ही लिखा है कि जगत्सेठ के घर में जितने आड़काटी रुपये थे उन्हें मराठे घोड़ों की खुरजियों में भरकर ले गये।

सहायक ग्रंथ

प्रस्तुत पुस्तक लिखने में निम्नलिखित ग्रंथों से विशेष सहायता ली गई है :—

(१) "मुताखरीन"—लेखक सैयद गुलाम हुसैन खां। अंगरेजी अनुवादक रेमों (उपनाम हाजी मुस्तफा)

(२) "रियाजुस्सलातीन"—लेखक गुलाम हुसैन सलीम। अंगरेजी अनुवादक मौलवी अब्दुस्सलाम।

(३) "हिस्टरी आव औरंगजेब"—लेखक सर यदुनाथ सरकार।

(४) "लेटर मुगल्स" (दो भाग)—लेखक विलियम अर्विन।

(५) "अर्ली ऐनल्स आव दि इंग्लिश इन बंगाल" (तीन भाग)—लेखक और सम्पादक सी० आर० विल्सन।

(६) "बंगाल पास्ट एंड प्रेजेन्ट" (ऐतिहासिक पत्रिका) १६२०-२१। मुर्शिदाबाद में नवाब बहादुर के स्कूल के हेडमास्टर जे० एच० लिटल के जगत्सेठ-सम्बन्धी लेख।

(७) "बंगाल इन १७५६-५७" (तीन भाग)—संपादक एस० सी० हिल।

(८) "ग्यूले एंड क्लाइव"—लेखक एच० एच० डाडवेल।

(९) "कन्सीडरेसन आन इंडिया ऐफेयर्स", (दो भाग)—लेखक विलियम बोल्ट्स (१७७२-७५)।

(१०) "केम्ब्रिज हिस्टरी आव इंडिया", भाग ५।

(११) "कैलेंडर आव पर्शियन कारेसपान्डेन्स", भाग ७।

अनुक्रमणिका